ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला – त्रयोदश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

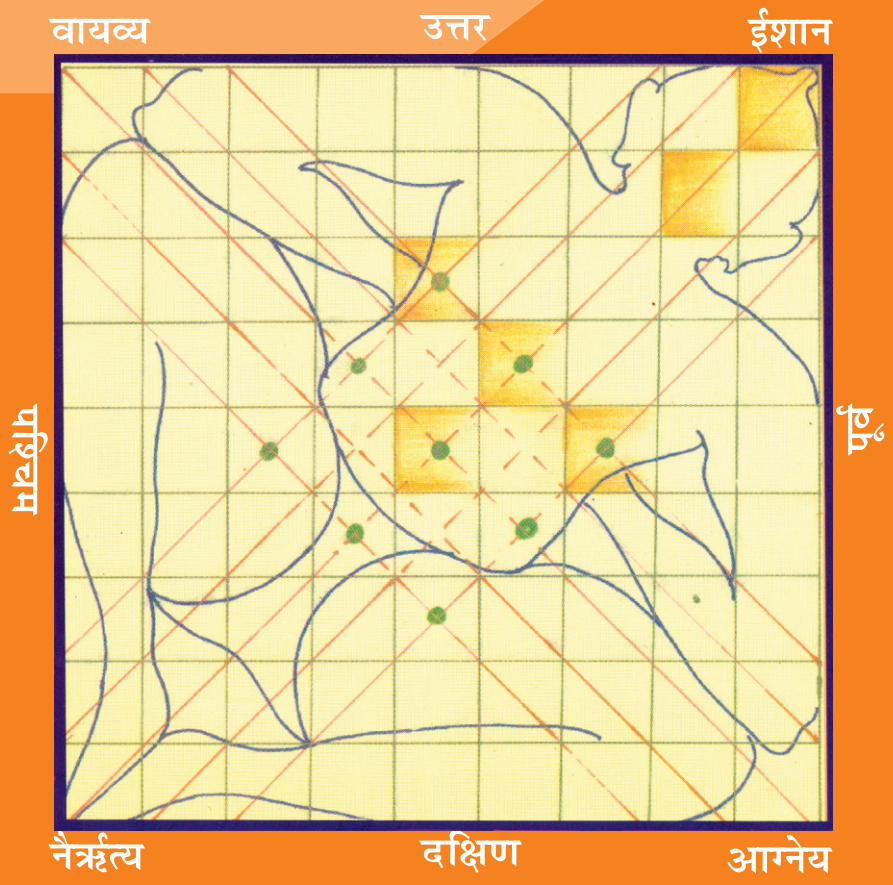

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली–110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला-त्रयोदश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका
(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केयर लिस्ट में सम्मिलित)

प्रधान सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
डॉ. अशोक थपलियाल
सहाचार्य एवं अध्यक्ष

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
नव देहली-110016

प्रकाशक -
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नव देहली-110016
ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण - 2020
मुद्रण वर्ष - 2022

मूल्य 200/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
गणेश प्रिंटिग प्रेस
दिल्ली-110016
फोन : 9811663391/93

पुरो वाक्

सर्वविदित है कि भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। मनु का स्पष्ट उद्घोष है कि – **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।**[1] अर्थात् धर्म का मूल वेद है । अतः हमारे साहित्य में धार्मिक चर्चा का उपलब्ध होना आश्चर्य की बात नही है। भारतीय साहित्य में समागत विचार किसी न किसी रूप में वेदों से निःसृत हैं। वेदों की ऋचाओं में देवतादि की स्तुति के साथ ही तत्कालीन सामाजिक परिवेश भी परिनिष्ठित है, जिससे उस समय की उन्नत कला एवं संस्कृति का दिग्दर्शन हो जाता है। कला का ही एक स्वरूप वास्तुशास्त्र भी है, जिसके शिल्प, आलेखन, स्थापत्यकला, मूर्तिकला आदि प्रभेद हैं। इसीलिए अर्थशास्त्र के उपवेद के रूप में स्थापत्य वेद समाद्रित है। यथा –

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्ववेदमात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः॥[2]

मानव अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से करता है, जो आत्मानुभूति या सत्यानुभूति भी है। अतः कला मात्र भावप्रदर्शन तक सीमित नहीं रहती, अपितु आध्यात्मिक सन्देश का आदान प्रदान भी करती है। यह अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्ति पर विराजमान होकर व्यापक एवं अमर हो जाती है। जीवन के अनेक अनुभवों का मूल्य कला के द्वारा ही समझ में आता है। संस्कृति का अभिज्ञान कला के माध्यम से ही होता है। भारतीय कला नित्य धर्म की अनुगामिनी रही है, अतः आध्यात्मिकता इसका सहज गुण है। डॉ वासुदेव उपाध्याय के शब्दों में – भारत में कला विषय आत्मपरक है। भारतीय कला को समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। कलाकार सत्य का उपासक होता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक कला साधना द्वारा भारतीय कलाकार और उनकी लोककल्याण कला अमर है।[3]

वैदिक काल से ही भारत की शिल्प कला ने विश्व को चमत्कृत किया है। वेदमन्त्रों में वर्णित यज्ञवेदियाँ, गृह–दुर्ग–ग्रामादिवास्तु आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। कुछ विद्वान् भ्रमवश लगभग 2000 वर्षपूर्व महायान मत के आरम्भ के साथ ही प्रतिमापूजन का आरम्भ मानते हैं, परन्तु उससे पूर्व ही वैदिक वाङ्मय के आलोडन से स्पष्ट है कि भारतीय मूर्तिकला भी निश्चित रूप से वेदकाल में भी गरिमामय स्थान पर समारूढ़ थी। ऋग्वेद

---

1 मनुस्मृति 2.6

2 श्रीमद्भागवतमहापुराण तृतीय स्कन्ध 12.39

3 प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान अध्याय 1, पृ. 3

में ऋषि इन्द्र की प्रतिमा के क्रय का प्रश्न उठाते हुए कहता है –

क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।[1]

इसी प्रकार सुन्दर रचना के सन्दर्भ में ध्वनित होता है –

चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।[2]

ब्राह्मणग्रन्थों में भी मूर्तिनिर्माण का उल्लेख मिलता है–

तेषां पुरुषरूपकमिव कृता।[3]

पाणिनि के सूत्र – **इवे प्रतिकृतौ**[4] से भी काष्ठ या दारु से आकृति का अनुगमन कर प्रतिकृति बनाने का स्पष्ट संकेत मिलता है। रामायण में देवतागार, देवगृह, देवायतनादि शब्द प्रयुक्त हैं।[5] महाभारत में अनेक तीर्थों का वर्णन है, जिसमें अनेक देवी देवताओं का नामोल्लेख है।[6] बदरीकाश्रम में नर नारायण की पूजा का उल्लेख है। मत्स्यपुराण के दस अध्यायों में प्रतिमा निर्माण सम्बन्धी चर्चा मिलती है। वहाँ शिव का मनुष्याकार प्रतिमा[7] सम्बन्धी विवरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहले शिव का पूजन लिंग के प्रतीक रूप में ही होता था। अग्निपुराण के 13 अध्यायों में प्रतिमा निर्माण का सुविस्तृत वर्णन मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी प्रतिमा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रतिमा निर्माण में वैखानसागम, सुप्रभेद, कामिकागम, अंशुमद्भेद जैसे आगम साहित्य का विशेष अवदान है। पुराणों व आगमशास्त्र में वर्णित वास्तुकला एवं मूर्तिकला के सिद्धान्त ही परिवर्धित होकर वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में सम्प्राप्त होते हैं, जिनमें विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, विश्वकर्मप्रकाश, मयमत, समरांगणसूत्रधार, बृहत्संहिता, मानसार प्रभृति ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिनके आधार पर स्थापित प्रतिमाएं अपने सौन्दर्य एवं कला से सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती हैं। इसी प्रकार जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी वर्णित प्रतिमा निर्माण के सिद्धान्तों का अनुप्रयोग आज भी विभिन्न स्थलों पर आश्चर्य उत्पन्न कर देता है।

देवायतनों के गर्भगृह में ही मुख्य प्रतिमा स्थापित की जाती है। प्रतिमा के मान के अनुसार ही मन्दिर के आकार प्रकार का निश्चय किया जाता है। प्रतिमाओं को देश के अनुरूप वस्त्राभूषण से सुशोभित किया जाता है। यथा वराहमिहिर –

---

1 ऋग्वेद 4.24.10

2 ऋग्वेद 6.28.6

3 एतरेय ब्राह्मण सप्तम पञ्चिका द्वितीय अध्याय प्रथमखण्ड 7

4 अष्टाध्यायी 5.3.96

5 बाल्मीकिरामायण बालकाण्ड 77.13, अयो.का. 6.4, 6.11 इत्यादि

6 महाभारत वनपर्व अध्याय 84. वनपर्व अध्याय 139

7 मत्स्यपुराण 259.3–13

देशानुरूपभूषणवेषालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निति वृद्धिदा भवति।[1]

इसके साथ ही देवताओं के अस्त्र-शस्त्रादि चिह्न, वाहन, वाद्य, मुद्रादि का भी विन्यास मूर्तियों में किया जाता रहा है। प्रतिमा के निर्माण में तालमान या अंगुलमान का प्रयोग होता है। साधारण रूप से एक ताल का मान 12 अंगुल के बराबर माना जाता है। देश व कालानुरूप शिल्पकारों ने विभिन्न तालमानों पर प्रतिमायें बनायी हैं तथापि प्रायः नवताल या दशताल के प्रमाण से देवताओं की तथा अष्टताल से देवियों की मूर्ति का निर्माण किया जाता रहा है। वस्तुतः प्रतिमा निर्माण के सिद्धान्त व नियम पुरातन मूर्तिशिल्पकारों की अनुभूतियों का परिणाम हैं। उसको शास्त्रीय रूप देने से उसके निर्देशानुसार अल्पकुशल शिल्पकार भी सुन्दर मूर्तिनिर्माण में समर्थ हो सकता है। अतः कहा गया है कि -

शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि।[2]

इस प्रकार अति प्राचीनकाल से ही वेद, पुराण, आगम, तन्त्रादि ग्रन्थों तथा जैन व बौद्ध साहित्य से सतत रूप में प्रवाहित वास्तुशास्त्र की ज्ञानगंगा की परम्परा के संरक्षण एवं संवर्धन के सदुद्देश्य से इस विश्वविद्यालय में वास्तुशास्त्र की स्थापना हुई। वास्तुशास्त्रविभाग द्वारा अध्ययन-अध्यापन के साथ ही **वास्तुशास्त्रविमर्श** नामक शोधपत्रिका के प्रकाशन का सारस्वत कार्य भी विगत कई वर्षों से किया जाता रहा है, जिसमें विद्वानों के उत्कृष्ट शोधपत्र प्रकाशित होते हैं। इसी क्रम में **वास्तुशास्त्रविमर्श** के इस त्रयोदशपुष्प को सुधीजनों को समर्पित करते हुए मैं अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। शमिति।

मार्गशीर्ष शुक्ल 12, वि. सं. 2078 — **प्रो. मुरलीमनोहर पाठक**
दिनांक 15.02.2022 — कुलपति

---

1 बृहत्संहिता प्रतिमालक्षणाध्याय 29

2 शुक्रनीतिसार चतुर्थाध्याय चतुर्थप्रकरण श्लोक 104

सम्पादकीय

प्राचीन स्थापत्य, साहित्य, कला एवं परम्पराओं से किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का ज्ञान होता है। किसी भी राष्ट्र का प्राचीन स्थापत्य उस राष्ट्र के जीवन, विकास, सभ्यता, संस्कार, मान्यता, कला, सामाजिक व्यवस्था आदि विषयों को प्रकट करता है, इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्राचीन धरोहर के संरक्षण का पूर्ण प्रयास करता है। भारत के किसी क्षेत्र में जब कभी भी अन्वेषण की दृष्टि से खुदाई होती है, तो सनातन संस्कृति के ही स्थापत्य के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारत में ही विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता का विकास हुआ। यह भारत की स्थापत्य शास्त्र के उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। भारतीय वास्तुविद्या का प्रारम्भ काल बहुत प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, आगम, स्मृति ग्रन्थों, जैनागम और बौद्ध साहित्य में भी वास्तुविद्या के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वस्तुतः मानसिक विकास के साथ ही मनुष्य ने वर्षा आदि प्राकृतिक कष्टों एवं पशुओं से रक्षण हेतु गुहा आदि में आवास परिकल्पना के उपरान्त प्रस्तरादि से गृह का निर्माण किया। आवास व्यवस्था को अनुकूल व सुव्यवस्थित करने के लिए हजारों वर्षों के अनुभवों के बाद ही नियमों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने वास्तुशास्त्र का निर्माण किया ।

सायणाचार्य ने वेदों की रचना का परम उद्देश्य **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोः योऽलौकिकमुपायं वेदयति सः वेदः'**[1] ऐसा प्रतिपादित किया है। अर्थात् इस संसार में मनुष्य के लिए जो कल्याणकर है, आवश्यक है वह उसे प्राप्त हो तथा जो अनिष्टकारक है, अकल्याणकारक है उसका परिहार हो, इस हेतु अलौकिक उपाय प्रदान करने वाला साधन ही वेद है। अतः सम्पूर्ण वैदिक परम्परा वेदों के इसी उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु प्रवृत्त हुई है। वेदों के छह अङ्ग तथा उपाङ्ग, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि सभी वेद के उद्देश्य की पूर्ति में साधक हैं। सभी भौतिकशास्त्र लौकिक ज्ञान के द्वारा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार का प्रयास करते हैं।

ऋग्वेद आदि में वास्तुविद्या के वर्णन और अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पूर्व काल में भी यह विद्या व्यवहार में विद्यमान थी। महर्षि कात्यायन ने स्थापत्यवेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है।[2] शिल्प शब्द का प्रथम अनुप्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त

---

1 वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः, तैत्तिरीयभाष्यसंहिता सायणाचार्य, सम्पादक बलदेव उपाध्याय, पृ. सं. 02

2 वेदशाखापर्यायलोचनम् कात्यायनकृतश्च संस्कृतव्याख्यया समलंकृतः चरणव्यूहः पृष्ठम्-71, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-2001

होता है।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र और अन्य सूत्र ग्रन्थों में वास्तुविद्या के अनेक सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं। सामवेद के गोभिल गृह्यसूत्र में वास्तुविद्या के सिद्धान्त दिये हैं, विशेष रूप में गृह द्वार की दिशा, भूमि परीक्षा, भूमि के प्लव, वृक्ष विन्यास आदि का विचार किया गया है।[2] शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी निर्माण के सन्दर्भ में ज्यामिति के सिद्धान्तों का प्रयोग प्राप्त होता है।

रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों में देवालय एवं सामान्य गृहों के विविध वर्णन प्राप्त होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में भी वास्तुदेवों के निमित बलिपूजादि विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। जैन आगमों में देवालय को चैत्य कहा है। जैन साधुओं के निवास के लिये विहार के निर्माण की व्यवस्था थी। जैनों में स्तम्भ निर्माण की प्रथा अभी भी दिगम्बर सम्प्रदाय में विद्यमान है। बौद्ध सम्प्रदाय के स्थापत्यों में भी जैन स्थापत्य के समान चैत्य, स्तूप, विहार और स्तंभ की प्रथा विद्यमान थी।बुद्ध व उनेक सम्प्रदाय के महापुरुषों के अस्थि, बाल या भस्म के ऊपर स्मारक बनाये जाते थे, जिन्हे "स्तूप" कहा गया है। इस प्रकार भारत में सुदीर्घकाल से ही अनेकविध वास्तुओं की निर्मिति होती रही है।

विभिन्न शास्त्रों के मानक ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि चतुर्विध स्थापत्य, अष्टादश आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र के मूल प्रवर्तक ब्रह्माजी है। चतुर्विध स्थापत्य में १. पुरनिवेश २. भवन निर्माण ३. प्रासाद निर्माण ४. जलाशय आदि का समावेश है । शुक्राचार्य जी का कथन है कि अनन्त विद्या और असंख्य कलाओं की गिनती नहीं हो सकती तथापि मुख्य विद्यायें ३२ और मुख्य कलायें ६४ हैं।[3] उन विद्याओं और कलाओं की व्याख्या करते हुए शुक्राचार्य जी कहते हैं –

यद्यत्स्याद् वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभिसंज्ञितम्।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम्।।[4]

अर्थात् जो कार्य वाणी से हो सके उसे "विद्या" कहते हैं और गूंगा भी जिस कार्य को कर सके वह कला है। जैसे– शिल्प, चित्र, नृत्य आदि मूक भाव से भी हो सकते है। अतः इन सभी को कला कहते हैं ।

शुक्राचार्य जी ने ६४, जैन सूत्रों में समुद्रपाल ने ७२, कामशास्त्र में यशोधर ने ६४ कलाओं का और आभ्यन्तर भेद से ५१२ कलाओं का वर्णन किया है। ललित विस्तर और श्रीमद् भागवत में ६४ कलायें कहीं गयी हैं। जिन कलाओं के प्रमुख ज्ञाता मालाकार, लोहकार, शंखकार, सुवर्णकार, कुलिन्दर(जुलाहा), कुम्भकार, केसकार(कसेरा), सूत्रधार, चित्रकार

---

1 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा.– प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, प्रस्तावना पृ–1

2 गोभिल गृह्यसूत्र चतुर्थ प्रपाठक सप्तमखण्ड 1–14

3 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा– प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, प्रस्तावना पृ–5

4 शुक्रनीति 4/65

इत्यादि थे। इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य आदि के साथ विविध कलाओं का समावेश किया गया है। महाभारत में विश्वकर्मा को हजार शिल्पियों का स्रष्टा कहा गया है।[1]

भृगु संहिता में महर्षि भृगु ने १. धातुखण्ड २. साधन खण्ड ३. वास्तुखण्ड वर्णन किया है। जिनमें प्रथम धातुखण्ड में कृषि, जल और खनिज का वर्णन मिलता है। इसके साथ ही खेती करना, जलबन्ध बनाना और जमीन में से द्रव्य आदि खोद कर निकालने का वर्णन भी उपलब्ध होता है। द्वितीय साधन खण्ड में **"नौकारथाग्नियानानां कृतिः साधनमुच्यते"** अर्थात् नौका, रथ, अग्नि से चलते वाले वाहन तथा **"आकाशे अग्नियानं च व्योमयानं तदेव हि"** अर्थात् अग्नियान और व्योमयान का वर्णन मिलता है। तृतीय वास्तुखण्डमें **"वेश्मप्राकारनगररचना वास्तुसंज्ञितम्"** गृह, प्रासाद, नगर, देवालय, जलाशय इत्यादि का वर्णन है।[2] इस प्रकार के विभिन्न वास्तुओं के निर्माणसिद्धान्त एकत्रित होकर वास्तुशास्त्र के स्वरूप में परिलक्षित होते हैं। जिन्हें देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार आचार्यों ने प्रतिपादित किया है।

वास्तुशास्त्र मुख्यतः वातावरण का विज्ञान है । मनुष्य के आस-पास का वातावरण पञ्चमहाभूतों (क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा) व प्राकृतिक शक्तियों (सौर ऊर्जा, गुरुत्व शक्ति एवं चुम्बकीय शक्ति) के सम्मिश्रण से बना है। उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी इन्हीं पञ्च महाभूतों से मिलकर बना है। न केवल मनुष्य शरीर अपितु यह सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। यह भारतीय मेधा का चमत्कार ही हैं जिसने इस सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों को पञ्च महाभूतों से निर्मित बताया है।

इस जगत को निर्मित करने वाले तत्वों की संख्या निश्चित करने में आज का आधुनिक विज्ञान निरन्तर प्रयत्नशील है। रासायनिक तत्त्वों की गिनती नई खोजों के साथ ही बदलती रहती है। पहले 105 मूल तत्त्व बताये गये, तत्पश्चात् नये रेडियोधर्मी तत्त्वों की खोज के साथ नये तत्त्वों का समावेश होता गया। आज मूल तत्त्वों की संख्या 112 से 118 के मध्य में बताई जाती है। उसी प्रकार विज्ञान के अनेक सिद्धान्त हैं जो एक समय में पूर्ण रूप से सत्य माने गये, परन्तु कालान्तर में नई खोज व नये सिद्धान्तों में प्रतिपादन के साथ असत्य हो गए। उदाहरण के लिए न्यूटन के सिद्धान्त एक काल में परम सत्य मान लिये गये, उसके उपरान्त आइन्सटाईन ने उनके कुछ सिद्धान्तों में संशोधन किया और उसके उपरान्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टीफन हाकिन्स ने आइन्सटाईन के भी कुछ सिद्धान्तों का परिष्कार किया। अतः आधुनिक विज्ञान में किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है, परन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र व अन्य अनेक शास्त्रों के मूल एवं मुख्य सिद्धान्त सहस्रों वर्षों से यथारूप विद्यमान और सर्वमान्य हैं। उनका कलेवर तो परिवर्तित हो सकता है पर मूलसंकल्पना अक्षुण्ण बनी हुई है।

---

1 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा- प्रभाशंकर ओघडभाई सोंमपुरा, प्रस्तावना पृ-5

2 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा- प्रभाशंकर ओघडभाई सोंमपुरा, प्रस्तावना पृ-5-6

वातावरण का मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। आज भी आप किसी व्यक्ति को देखकर यह अनुमान कर पाते हैं कि वह व्यक्ति किस प्रदेश का निवासी है? क्योंकि उस स्थल की भूमि व वातावरण उस स्थान के निवासियों को पूर्ण रूप से प्रभावित करता है। प्रत्येक भूमि का अपना एक गुण होता है, जो उस व्यक्ति पर पड़ता है। साथ ही व्यक्ति का भी उतना ही प्रभाव भूमि व वातावरण पर भी पड़ता है। इसी कारण प्राचीन समय में ऋषियों की तपस्थली रह चुके स्थान आज भी तीर्थस्थलों के रूप में विद्यमान हैं। आचार्यों का कथन है कि किसी भी स्थान पर निर्माण कार्य आरम्भ करने से पूर्व कुछ समय गायों व वैदिक विद्वानों को वहाँ निवास करवाना चाहिये। साथ ही वहाँ वेद-मन्त्रों का मंगलमय उच्चारण हो जिससे भूमि में एक सकारात्मक ऊर्जा का समावेश होगा । उसके उपरान्त निवास करने वाले को शुभ प्रभाव प्राप्त होता है । इस प्रकार अपने लिए शुभ गृह का निर्माण करना मनुष्य का महत्वपूर्ण कर्तव्य है क्योंकि -

परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्त्तक्रिया शुभा।
निष्फलाः स्युः यतः तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[1]

अर्थात् किसी स्थान पर किये गए श्रौत स्मार्त्त कर्म का प्रभाव भूमि व वातावरण में समाहित हो जाता है। इसी कारण से भूमि के अधिपति को उसका फल प्राप्त हो जाता है।

भूमि का अपना गुण भी विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों व कार्यों को प्रभावित करता है। इसी कारण से एक नगर में कोई एक क्षेत्र बहुत उन्नत हो जाता है, उसमें सम्भ्रान्त धनवान लोग निवास करने लग जाते हैं। कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनमें स्वतः ही बड़ा बाजार लग जाता है व व्यापारिक केन्द्र का निर्माण होने लग जाता है। कुछ भूमि विद्या बुद्धि को आकर्षित करती है और वहाँ पर विद्याध्ययन के विविध संस्थान स्थापित होने लग जाते हैं, सांस्थानिक क्षेत्र बन जाता है। उसी प्रकार कोई भूमि धर्म श्रद्धा का केन्द्र हो जाती है, वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों का निर्माण हो जाता है अथवा तीर्थक्षेत्र बन जाता है। कुछ भूमि नगर में ऐसी होती है जहाँ झुग्गी झोपड़ियाँ विकसित होने लग जाती हैं। अतः यह तथ्य सिद्ध करता है कि किसी क्षेत्र की भूमि व वातावरण एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति के मनुष्यों को आकर्षित करता है। यह भी देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति आसपास के परिवेष व वातावरण में परिवर्तन लाता है तो स्वतः ही उसकी शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्थिति में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इसी सिद्धान्त का प्रयोग वास्तुशास्त्र करता है।

यदि व्यक्ति सकारात्मक वातावरण में निवास करता है तो उसमें सकारात्मकता उत्पन्न होती है। नकारात्मक प्रभाव में रहने वाला व्यक्ति नकारात्मक गुणों से युक्त होने लग जाता है। वास्तुशास्त्र अपने आसपास के वातावरण में परिवर्तन लाने की बात करता है। प्राचीन

---

1 बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण 1/ 07

आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि न केवल पृथिवी का वातावरण अपितु यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही मनुष्य को प्रतिक्षण प्रभावित करता है। जिसका अध्ययन ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। वातावरण, चुम्बकीय शक्ति, गुरुत्व बल व सौर ऊर्जा का प्रभाव वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। आप अपने जन्म काल के समय की ग्रह स्थितियों को परिवर्तित नहीं कर सकते परन्तु अपने आसपास के वातावरण में परिवर्तन कर सकते है। जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने के लिए वास्तुशास्त्र का अनुसरण करना निश्चित रूप से लाभप्रद है।

वास्तुशास्त्र के शास्त्रीय स्वरूप के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), नई दिल्ली का वास्तुशास्त्र विभाग निरन्तर क्रियाशील है। इसी सातत्य में विभाग द्वारा विद्वज्जनों के शोधनिबन्धों से समलंकृत वास्तुशास्त्रविमर्श का प्रकाशन विगत कई वर्षों से किया जा रहा है।

इस वास्तुशास्त्रविमर्श के त्रयोदशपुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत एवं संस्कृति के संरक्षक हमारे यशस्वी कुलपति महोदय परम श्रद्धेय प्रो. मुरलीमनोहर पाठकजी को सादर नमन करता हूँ, जिनके सन्निर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्रविमर्श का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित हो रहा है। इसी क्रम में विश्वविद्यालय के निवर्तमान कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी को सादर प्रणाम करता हूँ, जिनकी सत्प्रेरणा हमें प्रचोदित करती है। इस पावनवेला में मैं उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार के माननीय कुलपति एवं वास्तुशास्त्र विभाग के संस्थापक विभागाध्यक्ष परम पूजनीय गुरुवर्य प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठीजी के चरणकमलों में सादर प्रणामांजलि निवेदित करता हूँ, जिनके कुशल नेतृत्व में विभाग पुष्पित व पल्लवित हुआ। इनका सत्परामर्श एवं मार्गनिर्देशन हमें नित्य सारस्वतसाधना हेतु अभिप्रेरित करता है। इसी सन्दर्भ में शोध एवं प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सहयोग एवं परामर्श से वास्तुशास्त्रविमर्श का यह त्रयोदशपुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु गणेश प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृज्जनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति।

डॉ. अशोक थपलियाल
अध्यक्ष- वास्तुशास्त्र विभाग

शोध एवं प्रकाशन समिति

१. डॉ. अशोक थपलियाल, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
२. डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य
३. डॉ. देशबन्धु	सदस्य
४. डॉ. प्रवेश व्यास	सदस्य
५. डॉ. योगेन्द्र कुमार शर्मा	सदस्य
६. डॉ. दीपक वशिष्ठ	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

1. वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहसज्जा — **डॉ. अशोकथपलियालः,** 1–7
सहाचार्यः वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

पंकज सेमल्टी
शोधच्छात्रः वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

2. वास्तुशास्त्रदृष्ट्या बहुतलीयावासीयभवनेषु शालविधानविमर्शः — **डॉ. देशबन्धुः** 8–18
सहायकाचार्यः, वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

विनयकुकरेती
शोधच्छात्रः वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

3. व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या वास्तुशब्दावलिविचारः — **डॉ. अखिलेश कुमार द्विवेदी** 19–25
सहायकाचार्यः व्याकरणविभागः
महर्षिपाणिनिसंस्कृतवैदिकविश्वविद्यालयः
उज्जयिनी, म.प्र.

4. राजवल्लभवास्तुशास्त्रानुसारेण गृहारम्भे मासविचारः — **डॉ. प्रवेशव्यासः** 26–30
सहायकाचार्यः वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

आचार्य अमितजोशी
शोधच्छात्रः वास्तुशास्त्रविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली–१६

5.	वैदिकवाङ्मये वास्तुशास्त्रम्-एकमध्ययनम्	**डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री** सहायकाचार्यः परम्परागतसंस्कृतविभागः कलासंकायः, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालयः बडोदरा, गुजरातः - 390002	31-40
6.	प्रासादे प्रतिमानिर्माणम्	**डॉ. ब्रजेश कुमारः** ग्लोबल संस्कृत फोरम्, नवदेहली	41-46
7.	वराहमिहिरानुसारेण वास्तुभूमेः शुभाशुभत्वम्	**बालमुकुन्द झा** शोधच्छात्रः, ज्योतिषविभाग कामेश्वरसिंहसंस्कृतविश्वविद्यालयः दरभंगा, बिहारः	47-52
8.	वास्तुपदस्थदेवतानां शुभाशुभत्वविमर्शः	**मृत्युञ्जयत्रिपाठी** शोधच्छात्रः, वास्तुशास्त्रविभागः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः नवदेहली-१६	53-62
9.	दानवानां विश्वकर्मा मयासुरः	**डॉ अव्यक्त रैणा** शोधच्छात्रः, वास्तुशास्त्रविभागः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः नवदेहली-१६	63-71
10.	अथ गृहप्रवेशः	**प्रो. हरिहरत्रिवेदी** अध्यक्षचरः पौरोहित्यविभागः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः नवदेहली-१६	72-76
11.	पर्यावरणवास्तु के शास्त्रीय, कलात्मक एवं वैज्ञानिक पक्ष	**प्रो. हंसधर झा** आचार्य एवं अध्यक्ष, ज्योतिषविभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल-परिसर, भोपाल (मध्यप्रदेश)	77-85
12.	व्यावसायिक-वास्तु	**प्रो. मदनमोहन पाठक** आचार्य एवं अध्यक्ष, ज्यौतिषविभाग केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय, लखनऊ-परिसर लखनऊ, उ0 प्र0	86-91

13.	मौर्यकालीन कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित पर्यावरण एवं कृषि संरक्षण तथा संवर्द्धन सम्बन्धी नीति	**प्रो डी.पी. सकलानी** आचार्य, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, हे0न0ब0ग0वि0वि0 श्रीनगर गढ़वाल उत्तराखण्ड, 246174। **डॉ. प्रेम बहादुर** सहायक आचार्य, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, हे0न0ब0ग0वि0वि0 श्रीनगर गढ़वाल उत्तराखण्ड, 246174।	92–106
14.	वैदिक वास्तुकला की अवधारणा	**डॉ. हनुमानमिश्रः** सहाचार्य, वेदविभाग श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नवदेहली–१६	107–112
15.	पुराणों में प्रासाद के प्रकार एवं लक्षण	**डॉ. आशुतोष कुमार झा** सहायकचार्य ज्योतिष श्रीरामसुन्दर संस्कृत विश्वविद्या प्रतिष्ठान आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, रमौली, दरभंगा, बिहार	113–117
16.	भूगोल एवं पर्यावरण के आलोक में भारतीय वास्तुशास्त्र	**डॉ. शुभम् शर्मा** सहायक प्राध्यापक ज्योतिष एवं ज्योतिर्विज्ञान विभाग महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन , मध्यप्रदेश	118–123
17.	बृहत्संहिता में वास्तुविद्या	**डॉ. धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी** सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय राँची	124–144
18.	वास्तुशास्त्र अध्यापन में 'करके सीखना' विधि का प्रयोग	**डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार** सहायकाचार्य, शिक्षा संकाय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	145–151
19.	दुर्ग–वास्तु निरूपण	**डॉ. राजीव कुमार मिश्र** सहायकाचार्य मोदी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय लक्ष्मणगढ़, सीकर, राजस्थान	152–158

20.	श्री जगन्नाथ मन्दिर का वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन	**डॉ. नीलमाधवदाश** संविदा प्राध्यापक, ज्योतिष विभाग केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, श्रीसदाशिव परिसर, पुरी, उडीसा	159-163
21.	संस्कृत ग्रन्थों में शिल्पशास्त्र विद्या का उल्लेख	**डॉ. विशाल भारद्वाज** असिस्टैण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर।	164-169
22.	'वास्तुशास्त्र' - परिचयात्मकानुशीलन	**डॉ. कृष्णकुमार भार्गव** सहायकाचार्य - वास्तुशास्त्र राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति	170-175
23.	भारतीय वास्तुशास्त्रानुसार भवन में चित्राङ्कन पद्धति	**डॉ. रीता गुप्ता** पोस्ट डॉक्टरल फैलो, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	176-178
24.	वास्तुपुरुषोत्पत्ति विमर्श	**डॉ. रीतिका जैन** पी.डी.एफ. शोधच्छात्रा-वास्तुशास्त्र विभाग श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नवदेहली-१६	179-186
25.	The Importance and Benefits of Vastushastra in Human Society	**Dr. Nilachal Mishra** Lecturer in Sanskrit K.C.P.A.N Jr. College, Bankoi, Khurda, Odisha	187-189
26.	Bioenergetic Architecture	**Ar. Raman Vig** Lecturer in Sanskrit K.C.P.A.N Jr. College, Bankoi, Khurda, Odisha	190-192

वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहसज्जा

डॉ. अशोक थपलियालः
पंकज सेमल्टी

वास्तुरिति शब्दः 'वस् निवासे' धातुना तृण् प्रत्यय-योगेने निष्पन्नोऽस्ति। '**वस्तुर्वसतेर्निवास कर्मण**'[1] इत्यस्यानुसारेण मनुष्यो यत्र निवसति सः वास्तुरुच्यते इति। अस्य गृह-देवालय-नगर-ग्रामादयश्च नैके भेदाः भवन्ति। मानवाः स्वरूच्यनुसारमेव स्वकीयभवनादीनां निर्माणं कुर्वन्ति। तत्र भवनादीनां निर्माणायापि वास्तुशास्त्रे शुभफलानि प्रोक्तानि -

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।
इष्टके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।।[2]

गृहं तृणैः निर्मितं स्यात् उत वा आरसशिलैः (संगमरमर marbles) रचितं सुन्दरं भवनम्, तस्य निर्माणस्य फलं तु गृहस्वामी प्राप्स्यत्येव। भवननिर्माणानन्तरं तस्य भवनस्य सज्जायाः अलङ्करणस्य वा प्रश्नस्तु स्वाभाविक एवास्ति। यतोहि को नाम व्यक्तिः सुन्दरं सुसज्जितं भवनं नेच्छतीति। उत्तमप्रकारेणालङ्कृतं भवनमेव रमणीयं नयनाभिरामं वा जायते। इदृशं च भवनं मानसिकशान्तिं प्रददाति। यतोहि यत्किमपि प्रसन्नतां ददाति तदेव सुन्दरता वर्तते। गृहसज्जायारपि मुख्योद्देश्यं मानसिकशान्तिरेव भवति।

सज्जेति शब्दः **'सम् + अज् + टाप्'** इत्यनेन निर्मितोऽस्ति। यस्याभिप्रायो भवति- सौन्दर्यकरणमिति। वास्तुशास्त्रानुसारेण भवनादीनां निर्माणानन्तरं गृहसज्जायारत्यधिकं महत्त्वं जायते। तत्र सज्जायाः अर्थः केवलं वस्तुस्थापनेन नास्त्येव। यतोहि यदि किमपि वस्तु सुन्दरमस्ति तस्यायमर्थो नास्ति यत्तच्छोभनमपि भवेत्। अतः एतत् सज्जाकार्यमपि वास्तुशास्त्रनियमानुसारेणैव कर्तव्यम्। अन्यथा अस्याः विपरीतप्रभावोऽपि भवितुं शक्नोति।

येषां भवनानामलङ्करणं वास्तुनियमानुसारेण नैव क्रियन्ते तादृशेषु भवनेषु निवासेन मानसिकरोगाः सम्भाव्यन्ते। सार्धमेव अभ्यागतेष्वपि निकृष्टप्रभावाः आपतन्ति। गृहसज्जायाः कार्यं प्राकृतिकतत्वानां शक्तीनाञ्च सन्तुलनेन समुचितप्रबन्धनेन शास्त्रीयदृशा भौतिकसुविधानां समुच्चितव्यवस्थापनमप्यस्ति।

शास्त्रीयदृष्टिकोणे कस्याञ्चिदपि कलायां महत्त्वपूर्णं तन्निहितं सौन्दर्यतत्त्वमस्ति। तत्

---

1. निरुक्त 10/02/16
2. बृहदवास्तुमा. अ. 1 श्लो. 5

केवलं शास्त्रमानेन सम्भवो जायते। – **''शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एवहि''**[1] सुन्दरकलात्मककृतिः द्रव्यैः तदैव समुचितं यदा तेषां द्रव्याणामुपयोगः शास्त्रीयमानेन कृतो भवति। भारतीयवास्तुशास्त्रे सज्जेत्यादिभिः सम्बन्धितं विस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। तत्र गृहसज्जा तु द्वयोः भागयोः विभक्ता अस्ति।

1. बाह्य-सज्जा 2. आन्तरिक-सज्जा चेति।

1. **बाह्य-सज्जा**

बाह्यसज्जायारन्तर्गते तु गृहात् बर्हिप्रदेशस्य सज्जा भवति। यथा-वाटिका, जलमण्डपम्, वापी, धारामण्डलम् (Fountain), द्वारतोरणम्, बाह्यभित्तिका, चित्रमूर्ति इत्यादयश्चास्यान्तर्गते आयान्ति।

2. **आन्तरिक-सज्जा**

आन्तरिकसज्जायाञ्च पुनः गृहस्यान्तरिक-सज्जा भवति। यथा मूर्तिः, चित्रम्, वर्णः, प्रकाशव्यवस्था, जलव्यवस्था, वस्तुधानी, पर्यङ्कः, आसन्दश्चेत्यादीनां सज्जा, एषां स्थापनानाञ्च समुचितव्यवस्था अत्र क्रियते।

बाह्य-सज्जा- भवनस्य बाह्यवातावरणं स्वच्छं रमणीयञ्च कर्तुं प्राचीनकालादेव वास्तुशास्त्रस्य ग्रन्थेषु वाटिका-जलमण्डप-धारामण्डलादीनां निर्माणाय सुविस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। वास्तुराजबल्लभानुसारेण राजगृहस्य वामभागे दक्षिणभागे च मनोरञ्जनाय त्रिविधवाटिकानिर्माणाय निर्देशनं प्राप्यते।

वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिर्दण्डसंख्या शतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः॥[2]

अत्र वाटिकायाः दण्डमानं वर्णयन् श्रीमण्डनेन श्रेष्ठमध्यमकनिष्ठवाटिकानां सम्यग् प्रतिपादनं कृतं वर्तते। श्लोकानुसारम् – 100 मानदण्डवती कनिष्ठवाटिका, 200 मानदण्डवती मध्यमा, 300 मानदण्डेन च युक्ता ज्येष्ठा वाटिका भवति। अत्र जलयन्त्रैः वाटिकायारलङ्करणं करणीयमित्युच्यते। एतादृशी वाटिका राज्ञां सुखोपभोगाय मन्यते।[3]

ईदृशी वाटिका महाराणा संग्रामसिंहेन (1710-1764 ई.) कारिता या अधुना ''सहेलियों की बाड़ी'' इति नाम्ना प्रसिद्धा वर्तते। तस्यां वाटिकायां धारायन्त्रस्य समीपे चम्पक-कुन्द-नवमल्लिका-मल्लिका- नारिकेल-श्वेतपाटलपुष्प-कर्णिकार-मधूक- पूगादयः अनेके वृक्षाः भवेयुः।[4] वाटिकायाः सज्जायै, ग्रीष्मऋतौ शीतलजले क्रीडनाय मण्डपयुक्ता वापी (जलकुण्डः) निर्मिता स्यात्। अपि च बालानां वनितानाञ्च गायनाय वर्षा-वसन्तऋत्वोः मनोरञ्जनाय दोलानिर्माणस्य वर्णनं प्राप्यते। यथा –

---

1. अपराजितपृच्छा 32/22
2. वा.रा.ब. 9/18
3. वा.रा.ब. 9/19
4. वृ. वा. मा. पृ. 118, श्लो. 36-39

आस्थानं प्रतिसेचनाय च घटीयन्त्रः सुसारो भवेत्।
दोला स्त्रीजनखेलनाय रुचिरे वर्षावसन्तोत्सवे॥
बाला - प्रौढवधू सुमध्यवनितागानैर्मनोहारिभिः।
ग्रीष्मे शारदकेऽथ शीतलजलक्रीडा शुभे मण्डपे॥[1]

वर्त्तमानसमये एतासां वाटिकानां लघुरूपं गृहाणाम् उद्यानेषु द्रष्टुं शक्यते। तत्र सज्जायां दोलादीनां प्रबन्धः आधुनिकसमये ''हरियाली तीज'' पर्वणः समये द्रष्टुं शक्यते। उद्यानेषु च प्रयुज्यमानानि लघु-जलप्रपातानि (Water fountain) शास्त्रोक्तधारा-यन्त्राणां लघुरूपाणि एव सन्तीति द्रष्टुं शक्यन्ते। अधुना तु चर्पटेषु (in societies) एतासां वाटिकानां निर्माणम् उद्यान मध्ये कर्तुं शक्यते। अथ च उद्यानेषु उपर्युक्तवृक्षाणां रोपणं कर्तुं शक्यते। केषुचित्समाजेषु (in societies) तु मुखद्वारेष्वेव समीचीनमलङ्करणं क्रियते। चतसृषु दिक्ष्वेव ईदृशानां वृक्षाणां स्थापनाय वास्तुशास्त्रानुसारं विचार्य सम्यग्दिशानुसारं तत्र वृक्षारोपणानि कर्तुं शक्यन्ते। पुष्पवाटिकाष्वपि (Also in flower park) वास्तुशास्त्रानुसारेण वृक्षाणां रोपणं कृत्वा मानसिकसुखशान्तिप्रसन्नतादिशुभफलानि प्राप्तुं शक्यते। वर्त्तमानस्य चिन्तायुक्ते व्यस्तजीवने च एतासां वाटिकानामाधुनिकीकरणं कृत्वा जीवनं सुखयुक्तं स्वास्थ्ययुक्तञ्च करणीयम्। आधुनिकयुगे महानगरेषु स्थानस्याभावस्तु भवत्येव। जनाः चर्पटेषु (in flats) निवसन्ति न तु विस्तृतभवनेष्विति। अतः वाटिकायाः निर्माणं बालादीनां क्रीडनाय भ्रमणाय च क्रियते।

अधुना पाकशालोद्यानम् (Kitchen Garden) जैविककृषिश्च (organic farming) प्रचलने दृश्यते। एवं प्रकारेणैव व्यक्तिः स्वस्यैव गृहप्रग्रीवे छदो वा लघुवाटिकानां निर्माणं करोत्विति समीचीनोपायः। एवमेव वर्त्तमाने गृहस्य बाह्यभित्तिष्वपि स्थापितेषु कुण्डेषु लघुपादपाः लताश्च भवनस्य सौन्दर्यं वर्धयन्ति।

आन्तरिक-सज्जा -

अत्र द्वारसज्जा-प्रकाशव्यवस्था-जलव्यवस्थानां, गृहे प्रयुज्यमानानि मूर्तिचित्रादीनां, आसनोपवेशनादिव्यवस्थानां रङ्गव्यवस्थादीनाञ्च विषये विचार्यते।

द्वारसज्जा-

आन्तरिकसज्जायां द्वारस्य तु मुख्य भूमिका वर्तते, यतोहि गृहे प्रवेशनार्थं तदेवैको मार्गो भवति। द्वारमेव गृहस्वामिनः मानसिक-सामाजिकार्थिकस्थितिनां दर्शकमस्ति। इदमेव द्वारं गृहे सकारात्मक-नकारात्मकवस्तूनां प्रवेशस्रोतमस्ति। पूर्णरूपेणालङ्कृतं सुसज्जितञ्च द्वारं दृष्ट्वैव जनानां मनसि प्रसन्नता शान्तिः सकारात्मकता च आयाति। परञ्च एतद्विपरीतम् असज्जितं निरलङ्कृतद्वारं नकारात्मकमेव फलं प्रददाति।

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु द्वारसज्जा-निर्माणादीनाञ्च विषये विस्तृतं विवेचनं प्राप्यते। कीदृशं द्वारं भवेत्? किञ्च तस्य परिमानम्? का स्यात् तस्य दिशा? केन पदार्थेन च निर्मितं भवेत्?

1. वा.रा.ब. 9/24

कीदृशेन दारुणा निर्मितं स्यात्? कुत्र च स्थापनीयमित्येतेषु विषयेषु तत्र विस्तृतरूपेण प्रतिपादितं वर्तते।

पुरातनसमये तु द्वाराणि विशेषरूपेण काष्ठनिर्मितान्येव आसन्। परञ्च अधुना नानाधातुभिः, फाइबरेत्यनेन, अन्यैश्च कृत्रिमपदार्थैः (Plastic seats etc.) विनिर्मितानि द्वाराणि जायन्ते। द्वारसज्जायाः कृते काष्ठद्वारेषु वास्तुशास्त्रप्रोक्ताः विविधाकृतयः निर्मातुं शक्यन्ते। परञ्च अन्यपदार्थैः निर्मितेषु द्वारेषु तु आकृतयः बहिर्वर्तिरेव स्थापितुं शक्यन्ते।

समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थानुसारेण–**तद्द्वारपार्श्वयोः कार्यौ**[1] द्वारस्योभयपार्श्वे प्रतिहाराः अलङ्कृताः भवेयुः। अलङ्करणाय एतेषां हस्तेषु वेत्रदण्डानि स्युः। तेषां वस्त्राभूषणानि सुन्दराणि भवेयुः। तेषाञ्च स्वरूपाणि नवयुवकसदृशानि स्युः। एतैः प्रतिहारिणैः सह छात्री–वामनिका– कुब्जादयः लावण्ययुक्ताः स्त्रीप्रतिहारिण्यपि द्वारमुभयतः स्थापनीयाः। यथा – **''छात्री वामनिका कुब्जा.....''**[2] अधुनाऽपि एतत् सर्वं विशालगृहेषु (in farm Houses) बृहद् आपणेषु (in shopping malls), देवालयेषु च दृश्यते एव। शंखकमलादीनाञ्च उज्ज्वललक्षणैः विचित्रितानि, शङ्खेभ्यश्च उद्भिज्यमानानि रत्नानि स्वर्णमुद्राश्च परितः धारयन्तः निधयऽपि वास्तुशास्त्रे द्वारहेतुः प्रयोज्याः भवन्ति। अस्मिन्नेव क्रमे द्वारे अष्टमङ्गलायाः गौर्यारपि निवेशनं शुभफलदायकं प्रोक्तमस्ति। **''कार्याष्टमङ्गला द्वारे वामभिः शंखमत्स्योः''**[3]

द्वारमण्डलस्य मध्ये लक्ष्म्याः निवेशनं भवेत् –

''द्वारमण्डलमध्यस्था स्थाप्यमाना गजोत्तमैः''[4]

द्वारे पुष्पमालादिभिः अलङ्कृता सवत्सा धेनुः, गणपत्यादीनां स्थापनं कल्याणप्रदायकं प्रोक्तम्। द्वारे चाष्टमङ्गलाकृतीनामपि निवेशनं भवेत्। अत्राष्टमङ्गलचिह्नानि **शिंगार कलश दप्पण चामर धय वियण छत्र सुपइटठा। इय अठ्ठ मंगलाई अटठुन्तर सय जुदाणि एक्केक्वंकं**[5]**। हरिवंशपुराणे तु – ''छत्र चामर शृंगारैः कलश ध्वज दर्पणैः व्यजनैः सुप्रत्तीकैश्च प्रसिद्धैरष्टमंगलैः''**[6]

स्वास्तिक – श्रीवत्स – नन्धापर्व – वर्धमानक – महावीरस्वामी – भद्रारूप – कलश – मीनयुगल – दर्पणादीनामुत्कीर्णनाय तु जैनग्रन्थेष्वपि कथितमस्ति। अष्टमङ्गलचिह्नानि च भारतीय–परम्परायां प्राप्यते। अस्यामेव परम्परायां द्वारेषु स्व–स्वधर्मानुकूलं धार्मिकचिह्नान्यपि स्थाप्यन्ते। एतासु परम्परासु द्वारेषु तोरण–बन्धनवार–वृक्षपत्र–पुष्पमालादिभिश्च सज्जा क्रियते। आधुनिके काले च द्वाराणामलङ्करणं विविधविद्युतयन्त्रैरपि जायते। दक्षिणभारते

1. स. सू. धा. अ. 34 श्लो 22,23
2. स. सू. धा. अ. 34 श्लो 24
3. वा. सा. पृ. 9 श्लो. 35
4. वा. सा. पृ. 9 श्लो. 36
5. तिलोयपणन्ती (अधिकार–4)
6. हरिवंशपुराण, सर्ग–2 पिनसेनकृतम्

च द्वारस्य समक्षं रङ्गवल्लिरपि निर्मीयते, तदप्येकं द्वारसज्जायारेवाङ्गं भवति। कुत्रचिद् गृहेषु द्वारसमक्षं एकस्मिन् विशालपात्रे जलेन सह एकं पुष्पं स्थाप्यते। गृहाणां मुखद्वारेषु काष्ठेन धातुना वा निर्मितमेकं नामपटलं (Name Plate) वर्त्तमानसमये प्रचलनेऽस्ति। केचन चीनदेशस्य फेंगशुई मतानुसारेण स्वगृहे पवनशृंखलां (wind chain) स्थापयन्ति। अतः स्पष्टमेव यत् मुखद्वारस्यालङ्करणन्तु सुखशान्तिसमृद्धीनाञ्च प्रतीकमस्ति। द्वारस्य स्वच्छता तु शुभभाग्यस्य, अस्वच्छता दुस्समयस्य अवनत्तेश्च कारणं भवति। द्वारस्य निकटं अवकरस्तु दुर्भाग्यस्य कारकं भवति।

<u>प्रकाशव्यवस्था विद्युदुपकरणानि च</u>-

प्रकाशस्य तु गृहस्य सौन्दर्यीकरणे अत्यधिकं माहात्म्यमस्ति। गृहे समुचितमात्रायां प्राकृतिकप्रकाशस्य वायोश्च संचरणं स्यात्। एतत्कृते पुरातनकालादेव गृहाणि समुचितवास्तुयोजनामाध्यमेन निर्मीयन्ते। प्राकृतिकप्रकाशाय तु गवाक्ष-वातायन-द्वारादीनि च गृहेषु निर्मीयन्ते। कृत्रिमप्रकाशाय च विद्युदुपकरणानि, दीपादीनाञ्च प्रयोगाः जायन्ते। समुचितमात्रायां गृहे प्राकृतिकप्रकाशः, विद्युतं धनञ्च उभयमपि रक्षति। गृहस्य च वातावरणं शान्तिपूर्णं सन्तोषजनकञ्च भवति। गृहे प्रकाशव्यवस्थातः पूर्वम् इदमस्ति ध्यातव्यं यत् कक्षः कस्यां दिशायां निर्मितोस्ति। रवेश्च प्रकाशः तस्मिन् कक्षे कस्याः दिशः आयाति? अपि च ऋत्वानुसारेण प्रकाशस्य ऊष्मतायाश्च तीव्रतायाः ज्ञानम् अवश्यमेव करणीयम्। येन प्राकृतिकप्रकाशस्य सम्यक् प्रयोगः कर्तुं शक्यते। कस्मिन्नपि कक्षे आवश्यकतानुसारमेव प्रकाशो भवेत्। एतदतिरिक्तं शुभं नैव मन्यते। कक्षस्य प्रकाशावश्यकता तु तस्य निर्माणाकारे उद्देश्ये च निर्भराऽस्ति। एकस्मिन् क्षेत्रे अपेक्षिता प्रकाशस्य मात्रा लक्सेति स्तरे व्यक्तीक्रियते यच्च लूमेन्सेति क्षेत्रस्य साम्यमस्ति।

अधोलिखिततालिकया नैकेभ्यः कार्येभ्यः लक्सेति स्तरविषये ज्ञातुं शक्यते।

कार्यम्	**लक्स लूमेने प्रतिवर्गः**
सार्वजनिकक्षेत्रम् (अन्धकारमयपरिवेशेन सह)	20-50
सरलोन्मुखीकरणम्	50-100
कार्यकारी क्षेत्रम्	100-150
गोशाला-गृह-प्रेक्षागृहाणि च	150
कार्यालयः/शैक्षणिक-कार्यम्-	250
कार्यालयः, सामान्यकार्यम्, सङ्गणकम, अध्ययनम् पुस्तकालयः	500

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु कृत्रिमप्रकाशस्य स्थानस्य (दीपस्थानस्य) वर्णनं प्राप्यते। वास्तु-राजबल्लभे दीपस्य स्थानं दक्षिणभागे भवेदिति निर्देशनम्। अस्यालयस्य तुङ्गता द्वारस्य अर्गलासदृशा भवेत्। अथवा उभौ समानतररेखायामेव स्याताम्। दीपस्थानं वामभागे मध्ये उत वा अन्यस्यां कस्यामपि दिशायां नैव भवेत्। परञ्च देवालयेषु नियमोऽयं न मन्यते तत्र वामभागे

दीपो भवति – **देवालयो दक्षिणे दिक्भागे।**[1] विशिष्टपूजनाय कार्यसिद्धये वा दक्षिणे वामभागे च उभयत्रैव दीपं स्थापयितुं शक्यते। **घृतदीपो भवेद्दक्षे तैलदीपस्तु वामतः।**[2] प्रकाशाय प्रकाशोपकरणानि गृहदक्षिण–भागे स्थापितव्यानि। उत वा आग्नेये (दक्षिणपूर्वे) कोणेऽपि कर्तुं शक्यते। विद्युदुपकरणानाम् आग्नेयोपकरणानाञ्च स्थापनम् आग्नेयदिशायां शुभं भवति। दूरदर्शनम् उष्णयन्त्रम्, यज्ञवेदी च एतानि सर्वाणि उपकरणानि आग्नेयभागे स्थापितव्यानि। वायुप्रदायकान्युपकरणानि यथा उत्पीठिकाव्यजनम्, शीतयन्त्रम् (A.C. Cooler) वायुशोधकयन्त्रञ्च उत्तरदिशायां स्थापितुं शक्यन्ते। शीतयन्त्रस्य (fridge) स्थापना पश्चिमे भवेत्।[3] यतोहि युगेऽस्मिन् नूतनान्युपकरणानि व्यक्तेः आवश्यकतानुसारेण निर्मीयन्ते। विद्युदुपकरणेषु सन्नपि सर्वेषां प्रकृतिः भिन्ना भवति। वस्तुतः **उपकरणानि तु तेषां प्रकृत्यनुरूपमेव स्थापितव्यानीति।**[4]

<u>गृहे प्रयुक्तानि चित्रयन्त्रादीनि</u> – वर्तमानसमये वस्तूनि प्रायः सुगमतया समुपलभ्यन्ते। अनेन कारेण सुविधानुसारेण व्यक्तिः यदिच्छति तदेव स्वकीये गृहे सज्जायाः कृते स्थापयति। तस्य च वस्तुनः प्रकृतिं न विज्ञाय तस्य कुत्रापि स्थापनं लाभकरं न भवति। परञ्च सज्जेयं वास्तुशास्त्रानुसारेण क्रियते चेत्तत्र वस्तूनां निवेशनं समुचितस्थान–शुभाशुभादिविषयेषु सम्यक्तया विवेचनं कृत्वा सम्पाद्यते, तदा व्यक्तिः सुखसमृद्धिशान्त्यादिफलं प्राप्नोति। वास्तुशास्त्रीयग्रन्थे समराङ्गणसूत्रधारे प्रयोज्याप्रयोज्यवस्तूनां विषये विस्तृतं प्रतिपादनं प्राप्यते।[5] अत्र प्रयोज्ये चित्रादौ सर्वविधदेवीदेवतादयः प्रयोज्याः नैव मन्यते। दैत्य–ग्रह–तारा–यक्ष–गन्धर्व–राक्षस–पिशाच–पितृ–प्रेत–विधाधस्–भुजङ्ग–चारणानि तेषाञ्च जायापुत्रादयः, स्त्रीपुरुषप्रतिहारी एषाञ्च अधिकारीवर्गाः तेषामस्त्रशस्त्राणि अप्सरस्गणाश्च एतत् सर्वं गृहे अप्रयोज्याः कथिताः।[6] अस्मिन्नेव क्रमे दीक्षित – धृतव्रत–दुर्जन–नास्तिक–क्षुधाव्याकुल– ब्याधिबन्धन–शस्त्राग्नि–तैल–पङ्कधूलि–शूल–ज्वरादिभिः पीडितजनाः, मत्तोन्मत–नपुंसक–वस्त्रविहीन–अन्धबधिरादयश्चापि अप्रयोज्याः सन्ति।[7] अस्मिन्नेव क्रमे रामायणमहाभारतादीनां कस्याऽपि वा युद्धघटनायाः चित्राणि, मलयुद्धम्, खड्गयुद्धं गजयुद्धं वा चित्रेषु नैव दर्शयेत्। ऐन्द्रजालिकस्य, शिलादिभिश्च निर्मितानि राक्षसादीनां चित्राणि, विलपन्तानां मनुष्याणां चित्राणि उत वा[8] यानि चित्राणि दृष्ट्वा मनसि भय– घृणा–विरक्तय उत्पद्यन्ते, तादृशानि चित्राणि नैव स्थापितव्यानि। गृहे केवलं हास्य शृङ्गाररसौ

1. वा. रा. ब. अ. 5 श्लो. 22
2. श्री दु सि. पा. पृ. 08
3. उदधृत – वा. प्र. पृ. 109
4. भा.वा.शा.पृ. 120–125 उद्धृतम् – वा. प्र.
5. समराङ्गण सू. – अ. 34
6. समराङ्गण सू. – अ. 34
7. समराङ्गण सू. – अ. 34
8. वृ. दै. र. 86/418

एव प्रयोज्यौ स्तः।[1] यतोहि हास्यश्रृङ्गाररसाभ्यामेव मानवजीवने आनन्दो भवति। श्रृङ्गाररसस्योद्दीपनविभावाः आलम्बनस्य सौन्दर्यम्, प्रकृतिसौन्दर्यम्, रमणीयमुपवनम् वसन्तऋतुः, भ्रमरगुञ्जनम्, खगकूजनादयः सन्ति। अतः एतादृशानि चित्राणि गृहे प्रयोक्तुं शक्यन्ते। आधुनिके समये सौम्यपक्षियुगलम् दोलायां स्थितस्य मिथुनस्य च चित्राणि सरलतया प्राप्तुं शक्यन्ते। नवदम्पत्तिकक्षेऽपि एतादृशानि चित्राणि भवेयुः। यतोहि चित्राण्येतानि श्रृङ्गाररसस्य उत्पादकानि भवन्ति। गृहे हिंसकपशूनां चित्राणि नैव स्थापनीयानि। तत्र- सिंह -व्याघ्र-सूकर-क्रुद्धगज-अश्व-उष्ट्र-बिलाव-गर्दभ-कप्यादयः अप्रयोज्याः मन्यन्ते।[2] गृहाणां कक्षेषु तु फलपुष्पादीनां चिह्नैरलङ्कृतानि, मनोहराणि विशिष्टानां पशु-पक्षिणां चित्राणि च स्थापितव्यानि। विशिष्टानाम् ऋतूनामालेखनानि, मत्स्यसुशोभितानि नलिनीवनैराच्छादितवाप्यालेखनानि, पिंजरस्थ शुक-सारिका- कोकिल- मयूरादीनाञ्च चित्राणि, विचित्रपुष्पपत्रलतानामालेखनानि अथ च मनोहरकुमारकुमारीणां चित्राणि प्रयोज्यमानानि कथितानि।[3]

वर्त्तमानेसमये गृहेषु प्रायः चित्रस्थापनानां प्रचलनमधिकं वर्तते। देशकालस्थित्यनुसारेणैव गृहस्यालङ्करणं कुर्यात्। गृहेषु स्थाप्यमानानां चित्राणां साक्षात् सम्बन्धस्तु अस्माकं मनोभिः सह वर्तते। अतः स्वस्थं स्वच्छञ्च मनरेव अस्मान् प्रगतिमार्गे नयति। वास्तुनियमानाञ्च उचितानुपालनम् अस्माकं जीवनं सुखास्पदं करोतीति।

1. वा. सा. पृ 186
2. वा. सा. पृ 187
3. वा. प्र. पृ 112

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या बहुतलीयावासीयभवनेषु शालविधानविमर्शः

डॉ. देशबन्धुः
विनयकुकरेती

वास्तुशास्त्रं भारतीयसंस्कृतेः समृद्धतमायाः परम्परायाः दर्पणं वर्तते । शास्त्रेऽस्मिन् तात्कालिकजीवनशैल्याः विस्तारो विभिन्नानां धार्मिकलौकिकानाञ्च परम्पराणामुत्कृष्टप्रयोगः समाजोपयोगिनीनां विभिन्नानां कलानाञ्च समावेशो दृश्यते । वास्तुशास्त्रस्योद्भवो वैदिककाल एव जातः। ऋग्वेदस्य विभिन्नासु ऋचासु पौनःपुन्येन वास्तुदेवता प्रार्थ्यते यत् सोऽस्मान् रक्षेदिति। भारतीयचिन्तनस्यादिस्रोतत्वेन वेदा एव मन्यन्ते । चत्वारो वेदाः। चतुर्णामपि वेदानां चत्वार उपवेदाः। ते च ऋग्वेदस्यायुर्वेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेदस्सामवेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्य च स्थापत्यवेदः। स्थापत्यवेद एव वास्तुशास्त्रस्यादिन्तमेन ग्रन्थत्वेन स्वीक्रियते । इत्थं शास्त्रस्यास्य मूलं वेद एव । वस्तुतस्तु वास्तुशब्दस्य साक्षादर्थो निवासस्थानमेव वर्तते यतोहि संस्कृतव्या-करणानुसारं शब्दस्यास्योत्पत्तिः वस् धातोर्जायते । यस्य प्रयोगो निवासार्थे क्रियते । निवासस्य चिन्तनसमये गृहस्येव चित्रं मनसि स्फुरति। भारतीयमनीषिभिः चतुर्ष्वाश्रमेषु गृहस्थाश्रमस्य महत्त्वं सर्वाधिकं स्वीकृतम् । गृहस्थस्य वासो गृह एव भवति । गृहं बिना गृहस्थस्य क्रियाः न सिद्धयन्ते। यथोक्तम्-

''गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्ध्यन्ति गृहं विना''।[1]

अनेनेव गृहस्य महत्त्वं ज्ञायते । वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु भूमिचयन-दिक्कालनिर्धारण-वास्तुपदविन्यास-शालविधान-शिलान्यास-गृहनिर्माणादीनां विचारो मुख्यरूपेण प्राप्यते ।

शोधपत्रेऽस्मिन् बहुतलीयावासीयभवनेषु शालविधानस्य वर्णनं क्रियते। आधुनिकयुगेऽस्मिन् भूमेः न्यूनताकारणतः बहुतलीयावसीयभवनानां प्रचलनमस्ति। यस्य मुख्यकारणं जनसंख्यावृद्धिरेव वर्तते। आवासादीनामावश्यकतायाः पूर्तये बहुतलीयावासा अत्यधिकं महत्वं भजन्ते। प्राचीनकालेऽपि बहुतलीयभवनानां निर्माणं भवति स्म। यस्य प्रमाणं शास्त्रीयग्रन्थेषु स्पष्टरूपेणोपलभ्यते परञ्च तस्मिन् समये बहुतलीयावासानां कारणं जनसंख्याघनत्वं नासीत् अपित्वेतस्य मुख्यप्रयोजनं गृहस्य सौन्दर्यवर्धनं कलात्मकता चासीत् । एषु बहुतलीयभवनेषु शालाविधानस्य विचारोऽपि प्रमुखत्वेन वास्तुग्रन्थेषु प्राप्यते । वास्तुशास्त्रे शालाशब्दस्य प्रयोगः

---

1. उद्घृतं वास्तुरत्नाकरः भूपरिगहप्रकरणम् श्लो.

विभिन्नेष्वर्थेषु प्राप्यते, यस्याभिप्रायः कक्षः, गृहं सभाभागादयश्च सन्ति। मुख्यरूपेण शालाशब्दस्य प्रयोगः कक्षसन्दर्भे क्रियते । गृहस्य अन्यभागा अपि शालेति शब्देन ज्ञायन्ते यथामरकोशेऽपि शालाशब्दस्यार्थः वासः कुटिः कक्षः सभा वास्ति । प्रयोगात्मकदृष्ट्या शालाशब्दः न केवलं कक्षस्य कृतेऽपितु सम्पूर्णभवनस्य कृते भूखण्डस्य कृते वा प्रयुज्यते यथा गौशाला अश्वशाला गजशाला मनुष्यशालादयश्च । वास्तुग्रन्थेषु तृण-मृण्मय-इष्टिका-पाषाणादिगृहमाध्यमेन गृहस्य चत्वारः भेदाः वर्णिताः[1]। केषुचित् ग्रन्थेष्वष्टभेदा अपि वर्णिताः[2]। गृहस्य इमे भेदा आचार्याणां चिन्तनशक्तेः द्योतकास्सन्ति । इयं चिन्तनशक्तिरद्यापि विविधानां भवनानां निर्माणे दृश्यते । गतदशकेषु बहुतलीयावासीयभवनानां प्रचलनं वर्धितम् । मानवेन स्वस्य सुविधानुसारं एतेषां भवनानां निर्माणं कृतं परञ्च क्रमेऽस्मिन् भवननिर्माणस्य वास्तुशास्त्रीयनियमाणामुल्लघनं जातम् । यस्य दुष्प्रभावः अद्यतनयुगे दरीदृश्यते। वास्तुशास्त्रे एकशालभवनादारभ्य दशशालभवनपर्यन्तं पञ्चशतोत्तराष्टच-त्वारिंशतसहस्रदशलक्षात्मकाः (10,48,500) भेदाः प्राप्यन्ते । एतेषां भेदानां शुभाशुभफलमपि तत्र प्रस्तुतीकृतमस्ति । प्रप्रथमं शालभवनानां शास्त्रीयदृष्टिकोणं प्रस्तूयते ।

एकशालभवनम् - एकशालभवनस्यार्थोऽस्ति कस्याञ्चिदेकस्यामेव दिशि भवननिर्माणम्। एकशालभवनस्य चत्वारः मुख्यभेदाः सन्ति, दिक्भेदकारणतः प्रत्येकं भेदस्य शुभाशुभफलेऽपि भिन्नता वर्तते । अस्य मुख्याधारः आलिन्दं वर्तते । एतेषां भेदानां विश्लेषणमत्र प्रस्तूयते । तद्यथा.[3]

1. यदि सम्पूर्णभूखण्डस्य दक्षिणदिशि भवननिर्माणं क्रियते चेत् तस्य एकशालभवनस्य संज्ञा **हस्तिनी** भवति । शास्त्रीयदृष्ट्या इयं शाला उत्तमा मन्यते ।
2. भवननिर्माणं यदि भूखण्डस्य पश्चिमदिशि क्रियते तर्हि तत् **महिषीसंज्ञकं** एकशालभवनं कथ्यते।
3. भूखण्डस्योत्तरदिशि यदि निर्माणं क्रियते तर्हि तत् भवनं **गावीसंज्ञकं** भवति ।
4. सम्पूर्णभूखण्डस्य पूर्वदिशि यदि भवनं निर्मीयते तर्हि तस्य संज्ञा **छागी** इति भवति।

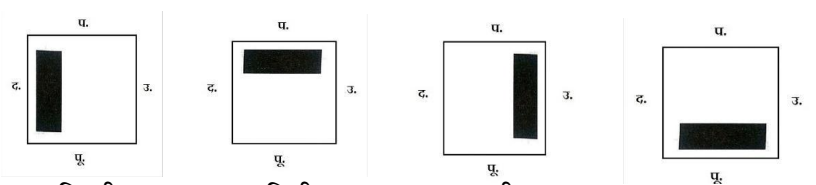

हस्तिनी महिषी गावी छागी

अनेनप्रकारेण एकशालभवनस्य मुख्यरूपेण चत्वारः भेदाः सन्ति । शास्त्रीयग्रन्थेष्वेतस्य अन्यानामष्टाधिकशतानां भेदानामपि वर्णनमुपलभ्यते। तेऽधोलिखिताः सन्ति ।

1 बृहद्वास्तुमाला, मिश्रप्रकरणम् श्लो.सं.-5

2 बृहत्-संहिता, आचार्य हिरण्यनाभ का मत

3 वास्तुसार,पृ,-226

ध्रुवादिषोडशभेदाः[1]	16
रम्यादिविशिष्टाः अष्टभेदाः[2]	8
षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[3]	16
तिर्यक् षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[4]	16
शालायाः मध्ये तिर्यक् षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[5]	16
चतुर्दिकालिन्दाधारे षोडशभेदाः[6]	16
शालायाः अन्ते षड्दार्वाधारे षोडशभेदाः[7]	16

एवमेकशालभवनस्य 104 अन्यभेदा अपि शास्त्रीयग्रन्थेषु प्राप्यन्ते । एतेषामपि भेदानां शुभाशुभफलं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वर्णितम् । वास्तुशास्त्रानुसारं हस्तिनीसंज्ञकं महिषीसंज्ञकञ्च एकशालभवनं निवासाय सुखप्रदं मन्यते । वर्तमानसन्दर्भे आधुनिकदृष्ट्या पश्यामश्चेत् येषु आवासीयस्थलेषु भवनानामाकृतिः आङ्ग्लवर्णमालायाः (I) आई इति वर्णसदृशी भवति ते सर्वे एकशालभवनस्य श्रेण्यां परिगणयन्ते।

द्विशालभवनम् - यथा नाम्नैव ज्ञायते द्विशालभवनमर्थात् यस्मिन् भूखण्डे कयोश्चित् द्वयोः दिशोः निर्माणं क्रियते, तन्निर्माणं द्विशालभवनस्य श्रेण्यां परिगण्यते । मुख्यतः द्विशालभवनस्य षड्भेदाः भवन्ति । वास्तुशास्त्रे अस्यान्ये द्विपञ्चाशत्प्रभेदा अप्युक्ताः। अस्य वैशिष्टयमिदं यत् द्विशालभवनस्य निर्माणं कयोश्चित् द्वयोः एकशालभवनयोः संयोगेनापि कर्तुं शक्यते । द्वयोः शालयोः निर्माणकारणत एव एतद् द्विशालभवनं कथ्यते । अस्य द्विशालभवनस्य मुख्यभेदाः निम्नलिखिताःसन्ति ।[8]

1. यत्र हस्तिनिमहिष्योश्च शालयोः संयोगो भवति तत् **सिद्धार्थसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
2. यत्र महिषीगाव्योः शालयोश्च संयोगो भवति तत् **यमसूर्यसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
3. यस्मिन् भूखण्डे छागीगाव्योः शालयोश्च संयोगो भवति तद्दण्डसंज्ञकं द्विशालभवनं भवति।
4. छागीहस्तिन्योः शालयोश्च संयोगेन निर्मितं भवनं **वातसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
5. महिषीछाल्गयोः संयोगेन निर्मितं द्विशालभवनं **चुल्लीसंज्ञकं** कथ्यते ।

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-6-12

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-13-20

3 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-22-23

4 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-25-27

5 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-29-30

6 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-35-37

7 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-32-33

8 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-22,श्लो.-2

6. गावीहस्तिन्योः संयोगेन निर्मितं भवनं **काचसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।

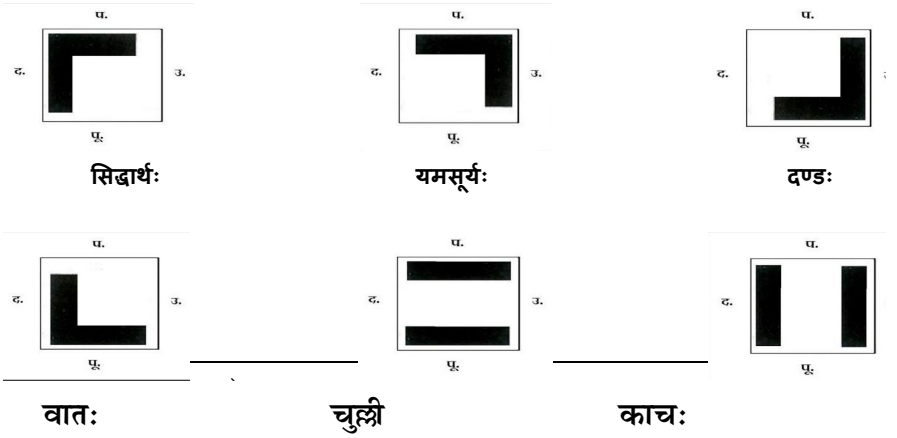

अनेन प्रकारेण द्विशालभवनस्य मुख्यरूपेण षड्भेदास्सन्ति। शास्त्रीयग्रन्थेष्वस्यान्ये द्विपञ्चाशत्भेदाः वर्णिताः, ये उपर्युक्तानां षण्णामेव प्रभेदास्सन्ति । तेषां विवरणमधोलिखितमस्ति.[1]

1. सिद्धार्थस्य वसुधादय एकादशप्रभेदाः 11
2. यमसूर्यस्य संहारादय एकादशप्रभेदाः 11
3. दण्डस्य प्रचण्डादय एकादशप्रभेदाः 11
4. वातस्यापि मरुतादय एकादशप्रभेदाः 11
5. चुल्ल्याः रोगादयश्चत्वारो भेदाः 4
6. काचस्यापि छलादयश्चत्वारः प्रभेदाः 4

अनेन प्रकारेण द्विशालभवनानामाहत्य द्विपञ्चाशत्प्रभेदाः वर्तन्ते । आङ्लवर्णमालायाः एल (L) इत्याकृत्यां निर्मितानि भवनान्यपि द्विशालभवनस्य श्रेण्यां परिगण्यन्ते । एतेषु सिद्धार्थसंज्ञकं भवनमेव प्रशस्तं मन्यते, यस्मिन् दक्षिणपश्चिमदिशोः निर्माणं क्रियते ।

त्रिशालभवनम्- यस्मिन् भवने तिसृषु दिक्षु शालायाः निर्माणं क्रियते, तस्य संज्ञा त्रिशालभवनमिति भवति । वास्तुशास्त्रस्य विभिन्नेषु ग्रन्थेषु त्रिशालभवनानां वर्णनमुपलभ्यते । त्रिशालभवनस्य मुख्यतया चत्वारो भेदाः विद्यन्ते[2] । हिरण्यनाभः, सुक्षेत्रं, विशालः (चुल्ली), पक्षघ्नः। प्रत्येकस्यास्याष्टादशप्रभेदाऽपि वर्णिताः । अनेन प्रकारेण त्रिशालभवनानां आहत्य द्विसप्ततिप्रभेदाः भवन्ति ।

1. हिरण्यनाभः – यस्मिन् भूखण्डे उत्तरदिशमतिरिच्य पूर्वदक्षिणपश्चिमदिक्षु शालानिर्माणं क्रियते, तस्य संज्ञा हिरण्यनाभसंज्ञकत्रिशालभवनं भवति । भवनमिदमत्यन्तं शुभफलप्रदं गृहपतये धनप्रदायकञ्च मन्यते।

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-22,श्लो.-22-52

2 मत्स्य पुराण,अ.-254 श्लोक 4-7/ समराङ्गणसूत्रधार, अ.-21,श्लो.-2

2. सुक्षेत्रम् – यस्मिन् भूखण्डे पूर्वदिशि शालारहितं निर्माणं क्रियते तत् सुक्षेत्रसंज्ञकं त्रिशालभवनं कथ्यते । त्रिशालभवनमिदमपि शुभप्रदं गृहपतये वृद्धिदायकञ्च मन्यते ।

3. विशालः (चुल्ली) – दक्षिणदिशं विहाय अन्यासु तिसृषु दिक्षु निर्माणं क्रियते चेत् तत् भवनं विशालसंज्ञकं त्रिशालभवनं भवति। निर्माणमिदं गृहपतेः धनार्थयोः कृते हानिकारकं मन्यते ।

4. पक्षघ्नः – यस्मिन् भूखण्डे उत्तर-पूर्व-दक्षिणदिक्षु च निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं पक्षघ्नः चुल्लीसंज्ञकं वा कथ्यते । एतन्निर्माणं गृहपतये विनाशकारकं वैरप्रदायकञ्च मन्यते ।

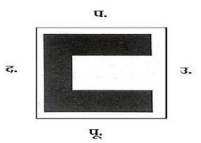

हिरण्यनाभः

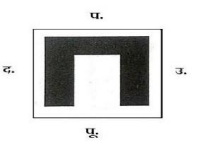

सुक्षेत्रम्

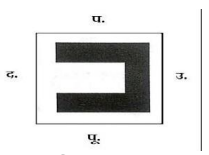

विशालः

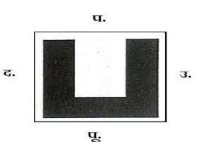

पक्षघ्नः

प्रकारेणानेन त्रिशालभवनस्य मुख्यरूपेण इमे चत्वारो भेदास्सन्ति । शास्त्रीयग्रन्थेष्वेतस्य द्वि सप्ततिभेदानां वर्णनमुपलभ्यते । ते भेदा अधोलिखितास्सन्ति ।[1]

1. हिरण्यनाभस्य जाम्बनदाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
2. सुक्षेत्रस्य नागसूर्यप्रभवाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
3. चुल्ल्याः भुजङ्गाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
4. पक्षघ्नस्य राक्षसाद्याष्टादशप्रभेदाः 18

चतुश्शालभवनम्. यस्मिन् भूखण्डे चतुर्दिक्षु शालानां निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं चतुश्शालभवनं कथ्यते । एतेषां चतुश्शालभवनानामपि पञ्चभेदाः निर्दिष्टाः। एतेषां भेदानामाधार आलिन्दद्वारयोश्च विभागो भवति । ततः परम् अलिन्द-वीथि-गवाक्षमूषाणामाधारेण चतुश्शालभवनस्य अन्ये षड्पञ्चाशतोत्तरद्विशतं भेदा अपि जायन्ते । एतेषु केचन प्रशस्ताः केचनाप्रशस्ता अपि कथिताः, प्रथमपञ्चभेदानां संज्ञा इत्थं वर्तते – **सर्वतोभद्रः वर्धमानः नन्द्यावर्तः रुचकः स्वस्तिकश्च**[2] ।

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-21,श्लो.-19-47

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-19,श्लो.-3

1. सर्वतोभद्रः – यस्मिन् भूखण्डे चतुर्दिक्षु शालानां द्वाराणां आलिन्दानां च निर्माणं क्रियते, तन्निर्माणं सर्वतोभद्रसंज्ञकं चतुश्शालं कथ्यते । निर्माणमिदं नृपेभ्यः देवेभ्यश्च प्रशस्तं मन्यते ।

2. वर्धमानः – यस्मिन् चतुश्शालभवने पश्चिम–उत्तर–पूर्वदिक्षु द्वारस्य निर्माणं क्रियते परञ्च दक्षिणदिशि द्वाररहितं निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं वर्धमानसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । भवनमिदं सर्वेभ्यो वर्णेभ्यः वृद्धिकारको मन्यते ।

3. नन्द्यावर्तः – यस्मिन् भूखण्डे पश्चिमदिशं विहाय पूर्वोत्तरदक्षिणदिक्षु द्वारस्य निर्माणं क्रियते एवञ्च भवनस्याभ्यन्तरभागे चतुर्दिक्षु प्रदक्षिणाक्रमेण अलिन्दानां निर्माणं क्रियते । तादृशं भवनं नन्द्यावर्तसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । भवनमिदं सुखं सन्ततिं स्वास्थ्यञ्च प्रददाति ।

4. रुचकः – यस्मिन् चतुश्शालभवने उत्तरदिशं विहाय पूर्व–दक्षिण–पश्चिमदिक्षु द्वारनिर्माणं क्रियते अथ च पूर्वपश्चिमयोः विशेषरूपेण अलिन्दानां निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं रुचकसंज्ञकं चतुश्शालभवनं अभिधीयते ।

5. स्वस्तिकः – यस्मिन् चतुश्शालभवने पूर्वस्यां दिशि केवलं एकस्येव द्वारस्य निर्माणं क्रियते पूर्वपश्चिमयोश्च दिशोः द्वयोर्द्वयोरालिन्दयोः निर्माणं क्रियते तत्भवनं स्वस्तिकसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । निर्माणमिदमपि शुभफलप्रदं मन्यते ।

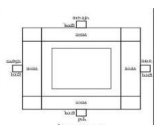

सर्वतोभद्रः

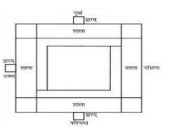

वर्धमानः

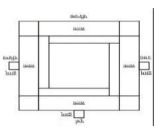

नन्द्यावर्तः

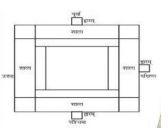

रुचकः

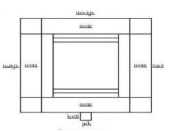

स्वस्तिकः

इत्थमित्यस्य चतुश्शालभवनस्य पञ्चभेदास्सन्ति । एतेषां निर्माणं विशाले भूखण्ड एव सम्भवति । इमानि भवनानि नृपेभ्य एव प्रशस्तानि कथितानि । एतस्य कारणमिदं यदेतेषां निर्माणं अत्यन्तं विस्तृतं भवति अतः एतादृशानां भवनानां निर्माणाय विशालभूखण्डस्यावश्यकता भवति । एतादृशानि भूखण्डानि पुराकाले राज्ञां सकाश एव भवन्ति स्म । अतः एतादृशानां भवनानां निर्माणसामर्थ्यं तु राज्ञामेव न तु सामान्यानाम् । एतस्याहत्य षड्पञ्चाशतोत्तरद्विशतं भेदाः ग्रन्थेषु

समुल्लिखितास्सन्ति ।[1]

अनेन प्रकारेण एकशालभवनादारभ्य चतुश्शालभवनानां निर्माणस्य सिद्धान्ताः वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु प्राप्यन्ते । एवमेव पञ्चशालभवनादारभ्य दशशालभवनानां निर्माणसिद्धान्ता अपि प्राप्यन्ते । वस्तुतः विशेषेण पूर्वोक्ताणां चतुश्शालभवनानां निर्माणपद्धतेः अवगमनेन विविधशालभवनानां निर्माणविधिरपि ज्ञायते ।

पञ्चशालभवनम्

1. एकशालचतुश्शालभवनयोः संयोगेन पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+4 = 5)

2. द्विशालत्रिशालभवनयोः परस्परसंयोगेनापि पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति । (2+3 = 5)

3. एकशालभवनस्य द्वयोः द्विशालभवनयोश्च संयोगेनापि पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+2+2 = 5)

षड्शालभवनम्

1. एकशाल-द्विशाल-त्रिशालभवनानां संयोगेन षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+3 = 6)

2. द्वयोः त्रिशालभवनयोः संयोगेनापि षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3 = 6)

3. द्विशालचतुश्शालभवनयोः संयोगेनापि षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (2+4 = 6)

सप्तशालभवनम्

1. द्वयोः त्रिशालभवनयोः एकस्येकशालभवनस्य च संयोगेन सप्तशालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3+1 = 7)

2. एकशाल-द्विशाल-चतुश्शालानाञ्च संयोगेन सप्तशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+4 = 7)

अष्टशालभवनम्

1. द्विचतुश्शालभवनयोः संयोगेन अष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (4+4 = 8)

2. द्वयोः त्रिशालभवनयोः एकस्य द्विशालभवनस्य च संयोगेन अष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3+2= 8)

3. एकशाल-द्विशाल-त्रिशालभवनानां संयोगो यदा द्विशालभवनेन सह भवति, तदाप्यष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+3+2 = 8)

नवशालभवनम्

1. एकस्येकशालभवनस्य द्विचतुश्शालभवनयोश्च संयोगेन नवशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+4+4 = 9)

2. त्रयाणां त्रिशालभवनानां संयोगेनापि नवशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+4+4 = 9)

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-19,श्लो.-42-70

दशशालभवनम्

1. एकस्य द्विशालभवनस्य द्विचतुश्शालभवनयोश्च संयोगेन दशशालभवनस्य निर्माणं भवति। (2+4+4 = 10)

2. एकस्येकशालभवनस्य त्रयाणां त्रिशालभवनानाञ्च संयोगेन दशशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+3+3+3 = 10)

3. एकस्य चतुश्शालभवनस्य द्वाभ्यां त्रिशालभवनाभ्यां यदा संयोगो भवति, तदा एकस्य दशशालभवनस्य निर्माणं जायते । (4+3+3 = 10)

समराङ्गणसूत्रधारे एकशालाभवनादारभ्य दशशालभवनपर्यन्तं भवनानां भेदाः स्पष्टीकृताः सन्ति । भेददृष्टया तेषां भवनानां परिगणनमेवं कर्तुं शक्यते ।

1. **एकशालभवनम्** – 108
2. **द्विशालभवनम्** – 52
3. **त्रिशालभवनम्** – 72
4. **चतुश्शालभवनम्** – 256
5. **पञ्चशालभवनम्**[1] – 1025
6. **षड्शालभवनम्**[2] – 4096
7. **सप्तशालभवनम्**[3] – 16,384
8. **अष्टशालभवनम्**[4] – 65,536
9. **नवशालभवनम्**[5] – 2,62,144
10. **दशशालभवनम्** – 10,48,576

वैज्ञानिकं दृष्टिकोणम् :

विविधशालाभवनानां वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्ता अत्र वर्णिताः । अनेन ज्ञायते यत् दक्षिणदिशि पश्चिमदिशि च निर्मितं गेहमेव प्रशस्तं मन्यते । दक्षिणपश्चिमदिशौ निर्माणाय प्रशस्ते कथिते । वास्तुशास्त्रे ये के च निर्माणसिद्धान्ताः प्राप्यन्ते वस्तुतः तेषां सिद्धान्तानां वास्तविकता भौतिक-विज्ञानस्य (फिजिक्स) त्रितयैः सिद्धान्तैः ज्ञायते । ते च-

1. चुम्बकीयशक्तेः सिद्धान्तः ।
2. गुरुत्वाकर्षणशक्तेः सिद्धान्तः ।
3. सौरशक्तेश्च सिद्धान्तः ।

चुम्बकीयशक्तेः सिद्धान्तः –

चुम्बकीयशक्तिः भौतिकविज्ञाने द्विधा प्रतिपादिता । एका पृथ्व्याः चुम्बकीयशक्तिः

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-1-24

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-25-49

3 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-50-91

4 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-101-116

5 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-121-135

द्वितीया चुम्बकीया शक्तिः । अस्याः चुम्बकीयशक्तेः प्रयोगः विद्युतधारायां क्रियते । शास्त्रमिदं भूमिसम्बद्धं शास्त्रं वर्तते अतो भूमेः चुम्बकीयशक्तिमेवात्र प्रस्तूयते ।

आरम्भिकानां वैज्ञानिकानां चिन्तनमासीत् यत् पृथ्व्यामत्यन्तं बृहत्चुम्बको वर्तते, यस्य चुम्बकस्य प्रभावः सर्वत्र दृश्यते । आधुनिकेन विज्ञानेन स्पष्टीक्रियते यत् पृथ्व्याः चुम्बकीयं क्षेत्रं पृथ्व्यां विद्यमानस्य तरलभूतस्य अयस्कस्य संवाहकगतेः कारणेन उद्भूतेन विद्युतधारारूपेण प्रस्फुटितं भवति ।

(The magnetic field is now thought to arise due to electrical currents produced by convective motion of metallic fluids in the outer core of the earth)[1] पृथ्व्या उत्तरीयः चुम्बकीयो ध्रुवो वर्तमाने 79.74' उत्तरीये अक्षांशे एवं 71.8' दक्षिणीये देशान्तरे स्थितो वर्तते । एवञ्च दक्षिणीयध्रुवः 79.74' दक्षिणीये अक्षांशे 108.22' पूर्वीये देशान्तरे वर्तते । एतयोः ध्रुवयोः विषये आरम्भत एव जनेषु भ्रम आसीत् । वस्तुतः पृथ्व्याः द्वौ भौगोलीयध्रुवौ द्वौ चुम्बकीयध्रुवौ च वर्तेते । अस्याः उत्तरीयश्चुम्बकीयो ध्रुवो दक्षिणीभौगोलीयस्य ध्रुवस्य पार्श्वे अवस्थितं वर्तते अथ च दक्षिणचुम्बकीयो ध्रुवः उत्तरीभौगोलीयस्य ध्रुवस्य पार्श्वे विद्यते । पृथ्व्याः चुम्बकीयकिरणा उत्तरीय चुम्बकीयध्रुवात् दक्षिणीयध्रुवं प्रति प्रवहन्ति ।

वस्तुतः सिद्धमिदं वैज्ञानिकदृष्ट्या यत् उत्तरीये भौगोलीये ध्रुवे जैविकगुणानां भण्डारो वर्तते। अत एतत् संक्रमणं न्यूनमेवं नियन्त्रितयितुञ्च शक्येते । एवञ्च दक्षिणिध्रुवः एताः क्रियाः अधिकं वर्धयति ।[2]

अनेन ज्ञायते यत् उत्तरदिशं पूर्णतया निर्माणरहितं स्थाप्यते चेत् मानवस्य कृते निश्चयेन लाभ-करमस्ति । अत एव भारतीयमहर्षिभिः उत्तरीशानञ्च अधिकं स्वच्छं, भाररहितं सौन्दर्यपूर्णञ्च भवेत् इत्यभिहितम् । मानवजीवनं यापयितुं प्राणवायो आवश्यकता भवति तच्च मानवो मुखेन स्वीकरोति तथैव भूमावपि प्राणवायोः स्त्रोत ईशानादारभ्य आग्नेये वायव्ये च भूत्वा नैऋत्यं प्रति गच्छति ।

गुरुत्वाकर्षणशक्तिः -

शक्तिरियं पृथ्व्याः प्रधाना शक्तिर्वर्तते । एतया शक्त्या एव सर्वाणि वस्तूनि पृथिव्यां स्थिराणि भवन्ति । वैज्ञानिकदृष्ट्या विलोकयामश्चेत् गुरुत्वाकर्षणं एकपदार्थस्य अपरपदार्थं प्रति आकर्षणस्य प्रवृत्तिरस्ति । अस्य आकर्षणस्य कारणं या शक्तिरस्ति तस्याः संज्ञा गुरुत्वशक्तिः वर्तते । आधुनिकानां मतमिदं यदस्य सिद्धान्तस्य प्रतिष्ठापको वैज्ञानिक आइजक न्यूटनवर्यो वर्तते । तत्पूर्वं गैलीलियो गैलिलीमहोदयः अस्य सिद्धान्तस्य ज्ञाता मन्यते ।[3] परञ्च वास्तविकं ऐतिह्यं तु सर्वथा भिन्नमेव यत् एतयोः विदुषोः पूर्वमेव आचार्येण वराहमिहिरेण भास्कराचार्येण च सिद्धान्तोऽयं प्रतिष्ठापितः। एतस्य प्रमाणं एतयोः विदुषोः विलिखितेषु ग्रन्थेषु प्राप्यते । अनेन ज्ञायते यत्

---

1 Ncert class 12th, chapter-5, the earth's magnetism

2 रहस्यावरण से मुक्ति, अश्विनी कुमार, अ.-2,पृ.-28

3 Newton's law of universal gravitation Wikipedia.org

एतत्विषयकं ज्ञानमादिकालात् भारते आसीत् । अस्य ज्ञानस्य प्रयोगः वास्तुविद्यायामपि क्रियते स्म ।

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु अस्याः गुरुत्वशक्तेः प्रतिपादनं **"शैले अनन्तं फलं गृहे"**[1] इत्यस्मिन् सिद्धान्ते कृतं येनानुसारेण पाषाणनिर्मितगेहस्य अनन्तफलं कथितम् । वस्तुतः तृण.मृदा.दारुभिः निर्मित्भवनानामपेक्षया पाषाणनिर्मितं गेहं सुदृढं भवति यतोहि सिद्धान्तोऽयं गुरुत्वशक्तेः वर्तते यत् पदार्थं यावदधिकद्रव्यमानस्य भवति तत्पदार्थं तावत् शीघ्रं स्थिरं च भूमौ तिष्ठति । पञ्चतत्त्वस्याधारेण पश्यामश्चेत् नैर्ऋत्यकोणे पृथ्वितत्त्वस्य प्रधानता भवति । अत एव दक्षिणे पश्चिमे च भवन-निर्माणमधिकं स्थिरं सुरक्षितं च भविष्यति । विविधशालयुक्तभवनेष्वपि दक्षिणे पश्चिमे च दिशि निर्माणं प्रशस्तमुदीरितम्।

सौरशक्तिः

सौरशक्तेः तात्पर्यं सूर्यस्य किरणैः प्राप्यमाणाः तेजसः शक्तिः, यस्याः प्रभावेण मानव आत्मनि स्फूर्तिः गतिशीलतायाश्चानुभवं करोति, वास्तुशास्त्रानुसारं सूर्यस्य पराबैंगनी इति किरणविशेषानां प्रभावः स्वीक्रियते । एतेषां किरणानां लाभः मानवः सर्वदा आप्नुयात् अत एव वास्तौ पूर्वोत्तर्दिशौ निर्माणरहितं रिक्तं वा वायुबाधारहितं, गवाक्षयुतं च निर्माणार्थं प्रेरयति । येन सूर्यस्य प्रकाशः, ऊष्मा, तापयुक्तऊर्जश्च मानवः आधिक्येन लाभः प्राप्नुयात् । सूर्यस्य किरणानां विभाजनं त्रिधा शक्यते ।

पराबैंगनी इति किरणाः वर्णक्रमप्रकाशः रक्ताभ किरणाश्च ।

पराबैंगनी इति किरणाः प्रामुख्येन सूर्यात् प्राप्यन्ते। अद्यत्वे एतदर्थं कानिचन् अन्योपकरणानि अपि उपलभ्यन्ते । ते किरणाः लाभकारकाः हानिकारकाः च तेन बेसल सेल कार्सिनोमाध स्क्वैमस सेल कार्सिनोमाध मेलनोमा इति त्वचा कैंसर इति रोगस्य सम्भावनाः वर्धन्ते । तेषां मुख्यहेतुः पराबैंगनी इति किरणा एव । परञ्च एते किरणाः शरीरे विटामिन डी" निर्माणार्थं सहायकाः भवन्ति । सोरायसिस (psoriasis) इति त्वग्रोगं समापयति । पीनियल ग्रन्थि (pineal gland) उग्रं करोति ट्राइप्टामाइन्स इति भावं परिवर्तनस्य रसायनस्य प्रसारणं करोति। प्राणिभ्यः द्रष्टुं साहाय्यं करोति अथ च पृथिव्यां उत्पद्यमानानां विषाणून् नाशयति।[2] कस्यापि वस्तुनः अत्यधिकं सेवनं तु कष्टकारकमेव इति सर्वविदितः। एतदर्थमेव अस्मत्पूर्वजैः ऋषिमुनिभिश्च पूर्वस्यां दिशि निर्माणरहितं कर्तुं प्रेरितवन्तः येन शारीरिकलाभः स्यात्।

वर्णक्रमप्रकाशः इन्द्रधनुषः सम्बद्धे वर्तते । यस्मिन् सप्तवर्णानां समावेशो भवति । एते वर्णाः परस्परं तथा संलग्नं भवन्ति यत् एतेषां योगः कुत्र इति सहजतया ज्ञातुं न शक्यते । प्राविधिकभाषायां एतदेव संतात्यकधसंतात्य (continuum/continuous) कथ्यते। रक्ताभकिरणाः सर्वाधिकं ऊष्णयुक्ताः भवन्ति ते च मध्याह्नं पश्चात् अनुभवन्ति। एते आधिक्येन हानिप्रदाः भवन्ति।

इत्थं वैज्ञानिककारणैः सिद्धयति यत् वास्तुशास्त्रे भवननिर्माणस्य शालविधानस्य यत् वर्णनं

---

1 बृहद-वास्तुमाला,पृ.-2,श्लोक-5

2 Dr. Ayush pandey, MBBS, Ultraviolet rays uses, benefits and precautions. Myupchar.com

विहितमथ च यान् नियमान् भवननिर्माणे सुखप्रदं लाभप्रदं च निर्देशितं तत्सर्वमपि निश्चयेन आधुनिकवैज्ञानिकदृष्ट्या अपि पूर्णतया सम्यगेव । अतः वास्तुशास्त्रे वर्णितानां शालभवननिर्माणस्य नियमानामनुपालनं कृत्वा विविधानां प्राकृतिकशक्तीनां मानवस्य कृते लाभो भवितुं शक्यते ।

व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या वास्तुशब्दावलिविचारः

डॉ. अखिलेश कुमार द्विवेदी

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।[1]

इत्यभियुक्त्यनुसारं शक्तिग्रहं व्याकरणादिशक्तिग्राहकैर्भवतीति निर्विवादो विषयः। तथाप्यभिधानं तु पदार्थं कुक्षौ कृत्वा जगति प्रथते। नामार्थयोःसम्बन्धःतादात्म्यमेव शाब्दिकानां निकाये सिद्धम्, अनुभवगतार्थोऽपि लोके – **रामेतिद्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः**[2] रामस्य पदपदार्थयोः साङ्कर्यं विद्यते। एवं हि वास्तुशास्त्रेऽपि शाला–नगर– स्थानानां नामानि उच्चार्य तत्तत्फलदल–चिन्तनं महासौक्ष्म्येन विवेचितं ग्रन्थकारैः। यथा राजधानीमाश्रित्य सूच्यबिद्धं लक्षणम्–

राष्ट्रस्य मध्यभागे सज्जनबहुले नदी समीपे च।
नगरं केवलमथवा राजगृहोपेतं राजधानी वा।।[3]

साम्प्रतं देहल्यादिराजधानी तथैव सङ्घटते। अनादिकालतः नामार्थयोर्व्यवहारः वाच्यवाचकावभिलक्ष्य जायते तदिव पौर्वापर्य्यवाचारोऽपि गगनस्य आद्यन्त इव व्यर्थगवेषणा–विषयः। वास्तुशास्त्रकारः पदार्थं मनसि कृत्वा यच्छब्दमाह तस्य व्याकरणकोशानुसारं कः प्राथम्यार्थःउपतिष्ठते ? इति शोधनिबन्धेऽस्मिन् विवेचनस्यायासो जायते। यद्यपि विश्वकर्मप्रकाश–बृहत्संहिता–समराङ्गणसूत्रधाराख्यादिषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु शालानगरादीनां बहूनि नामानि निर्दिष्टानि तथापि अत्र प्रमुखानि प्रसिद्धानि अभिधानानि स्वीकृत्य व्युत्पत्तिलभ्यार्थस्य विवेचनं क्रियते।

वास्तु –

वसन्ति प्राणिनो यत्र इत्यस्मिन्विग्रहे **वस् निवासे**[4] धातोः **वसेरगारे णिच्च**[5] **इत्यौणादिकेन** सूत्रेण तुण् कृते सति वास्तुपदं सिद्ध्यति। वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्[6] गृहरचनावच्छिन्नाधारभूमिरित्यर्थः

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः
2. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणम्
3. मयमतम् 10/19
4. धातुपाठः 1/50
5. उणादिकोशः1/70
6. अमरकोशः 2/2/19

तस्य विज्ञानं शास्त्रं वा वास्तुविज्ञानपदेनोच्यते। कानिचन पदानि अस्माकं श्रुतिगोचराणि भवन्ति यस्य सम्बन्धः वास्तोर्भवति तद्यथा – भवनम् आलयः मन्दिरं हर्म्यम् इत्यादीनि, एतेषां विवेचनं व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या प्रकृतिप्रत्ययपुरस्सरं क्रियते, अधुना प्रयुञ्जानां पदानामर्थः शास्त्रीयैःपदैः सह वर्तते न वेत्यादिकं चिन्तनं यथाप्राप्तं क्रियते। प्रवृत्तिनिमित्तार्थस्यानन्तरं तत्तच्छास्त्रकाराः यथार्थं चिन्तयन्ति। तत्र लक्षणं द्विविधं स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणञ्च। आद्यं स्वरूपान्तर्गते सति व्यावर्तकम्, कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्त्वं द्वितीयम्। द्वयोर्लक्षणयोः कृते व्युत्पत्तिरावश्यकी। शब्दमहिमैव विद्यते यत् क्वचित् मृगशब्दः हरिणशक्तः क्वचिच्च पशुवाचकः, प्रत्यासत्या प्रकरणानुसारं वर्णनं निर्णायकत्वेनोपतिष्ठन्ते। सर्वे **शब्दाः धातुजमाह**[1] इति सिद्धान्तेन पदविवेचननैव जायते। अत्र भर्तृहरिरप्याह –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[2]

वास्तुसम्बन्धिपदानां विवरणं क्रमशः प्रस्तूयते –

भवनम् – भवन्ति अस्मिन्निति जनाः इति विग्रहे भू धातोरधिकरणे ल्युट्प्रत्यये सति गृहपर्याया भवनसञ्ज्ञा –

निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् ।
गृहाः पुंसि च भूम्नेव निकाय्यनिलयालयाः॥[3]

प्रासादः – प्रसीदन्ति अस्मिन्निति जनाः प्र इत्युपसर्गकस्य **षद्लृ**[4] विशरण–गत्यवसादनार्थक–धातोरधिकरणे घञ्प्रत्यये सति पुंसि प्रासादपदं देवानां राज्ञाञ्च गृहस्य वाचकं **प्रासादो देवभूभुजाम्**[5], उदाहरणम् – प्रासादगिरिशिखरोऽपि काकः किङ्गरुडायते।

मन्दिरम् – लोके मन्दिरपदं देवालयस्यैव कृते रूढं जातम्।

हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा[6]

तथा च – **मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा**[7]

मन्द्यते सुप्यते यत्र अथवा मन्द्यते स्तूयते यत्र इति विग्रहे **मदि**[8] **स्वप्नस्तुत्यर्थकधातोः औणादिककिरच्प्रत्यये** सति क्लीबे मन्दिरमिति पदं निष्पद्यते। कोशे –

---

1. निरुक्तं यास्कः
2. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डः01/131
3. अमरकोशः2/2/9
4. धातुपाठः ,1/854
5. अमरकोशः2/2/9
6. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा/8
7. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड दोहा/5
8. धातुपाठः 10/1189

निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् ।
गृहाः पुंसि च भूम्नेव निकाय्यनिलयालयाः॥[1]

तथा च - **निशान्तं सदनं वस्त्यमागारं मन्दिरं पुरम्।**

अस्योदाहरणम् - विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्, भवत्युपश्रुत्य यदृक्षयापि यम्।[2] इति बहुश्रुतानि पदानि वर्णितानि। वासस्थानं देवालयस्य, नगरस्य, ग्रामस्य, गृहस्य च भवति अतः देवालयवास्तु-नगरवास्तु-ग्रामवास्तु-गृहवास्तु इत्यदिकानां स्वरूपाणि ग्रन्थेषु प्राप्यन्ते। वराहमिहिरस्य बृहत्संहितायां वास्तुविद्याध्याये कानिचन नामानि उल्लिखितानि -

सर्वतोभद्रम् - पुंसि क्लीबे च, सर्वतो भद्राणि मुखानि यस्य सः इति बहुब्रीहिसमासस्य विग्रहे सर्वतोभद्रम्(द्रः) सिद्ध्यति। नाम्नैव कल्याणप्रदं प्रतीयते। अस्यैवार्थं समर्थयन् अयं श्लोकः-

अप्रतिषिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम्।
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि॥[3]

नन्द्यावर्तम् - पुंसि क्लीबे च, नन्दयतीति नन्दी इत्यस्ति विग्रहे आनन्दप्रदः कश्चिद् आलयः आवर्तकयुक्तः प्रतीयते। वाराहमिहिरोऽपि लक्षयति -

नन्द्यावर्त्तमालिन्दैः शालाकुड्यात्प्रदक्षिणान्तर्गतैः।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि॥[4]

वर्धमानम् - क्लीबे, वर्धते समेधते समृद्धिरित्यर्थः **वृधु** वर्धने[5] धातोः कर्तरि शानच् प्रत्यये सति इदं पदं भवनवाचकं वास्तुशास्त्रे प्रसिद्धम् -

द्वारालिन्दान्तगतः प्रदक्षिणोऽन्यः शुभस्ततश्चान्यः।
तस्मिँश्च वर्धमाने द्वारं तु न दक्षिणकार्यम्॥[6]

श्लोकेन ज्ञायते यत् लम्बायमानः कश्चिद्गृहविशेषः यत्र दक्षिणद्वारं न भवति।

स्वस्तिकम् - पुंसि क्लीबे च, स्वस्ति क्षेमं कामती' तिविग्रहे कै शब्दार्थकधातोः क प्रत्यये सति सिद्ध्यति। स्वस्तिको **मङ्गलद्रव्ये चतुष्कगृहभेदयोः**[7] **इति** कोशः। नाम्ना प्रतीयते यत् कल्याणकारकः कश्चन पदार्थविशेषः। अत्र मिहिरो वक्ति -

---

1. अमरकोशः2/2/9
2. काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लासः 5
3. बृहत्संहिता ,वास्त्वध्यायः 31
4. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 32
5. धातुपाठः 1/409
6. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 32
7. अमरकोशः रामाश्रमीव्याख्या 2/2/10

अपरोऽन्तगतो प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ।
तदवधिविधृतश्चान्यःप्राग्द्वारं स्वस्तिके शुभदम्।[1]।

शालायाः वैविध्यस्य प्रकारविशेषः, शुभदमिति पदं स्वतिकस्य विशेषणम्।

रुचकम् – रोचतेऽस्मिन्निति विग्रहे रुच्यर्थक रुच् धातोः आधारयुक्तः कश्चनपदार्थः अवसीयते। औषधालङ्कारविशेषेऽपि पदमिदं विद्यते, तत्तु करणे प्रत्यये सति सिद्ध्यति। आचार्यमिहिरोऽत्र वदति –

प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिवस्थितौ ।
रुचके द्वारं न शुभदमुत्तरतोऽन्यानि न शस्तानि।।[2]

शास्त्रीयमिति लक्षणं विज्ञापयति यदुत्तरं द्वारं परित्यज्य सर्वं द्वारं शुभदं स्यादित्याशयः। अमरकोशेऽपि विशिष्टगृहविशेषस्यापि परिगणनं कारितम् –

स्वस्तिकःसर्वभद्रो नन्द्यावर्तादयोऽपि च।
विच्छन्दकः प्रभेदा हि भवन्तीश्वरसद्मनाम्।।[3]

यदा औषधस्य विषयः स्यात् तदा तद्विहितं वनस्पतिशास्त्रं स्मर्यते, तथैव वस्तुनोऽनुसारमेव शास्त्रेण शोधनं क्रियते।अतएव अत्रापि विचारणीयमेव । उक्तञ्च श्रीमद्भगवद्गीतायाम् –

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।[4]

स्थापत्यस्य विषये वास्तुशास्त्रस्य अनुशासनं परिपालनीयम्। नगर–निगम–राजधान्यादिविषये वास्तुशास्त्रस्य दृष्टिः प्रेक्षणीया। तद्यथा –

राजधानी – राज्ञां नृपाणां धानी आधारभूमिः **डुधाञ्** धारणपोषणार्थकधातोः अधिकरणे ल्युट् प्रत्यये सति स्त्रीत्वे राजधानी' ति पदं साध्यते। अन्वर्थकं पदमिदम्, समराङ्गणसूत्रधारोऽपि अस्य लक्षणं ब्रूते –

यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः।
शाखा–नगरसंज्ञानि ततोऽन्यानि प्रचक्षते।।[5]

निगमः – निगम्यते गतिः क्रियते यत्र इत्यस्मिन्विग्रहे घप्रत्ययेन निगमपदं सिद्ध्यति। यस्यार्थः नगराद् अनुगतः निगमः नगरे भवति। अस्य लक्षणं भोजदेवानुसारम् – **ऊनं कर्वटमेवेह**

---

1. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 34
2. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 35
3. अमरकोशः2/2/10
4. श्रीमद्भगवद्गीता 16/24
5. समराङ्गणसूत्रधारः18/02

गुणैर्निगम उच्यते।[1] **अत्र** कोशोऽपि – **स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु , यन्मूलनगरात्पुरम्।**[2]

मयमतानुसारम् – **चातुर्वर्ण्यसमेतं सर्वजनवाससङ्कीर्णम्।**

बहुकर्मकारयुक्तं यन्निगमं तत्समुद्दिष्टम्।।[3]

यत्र कर्मकराणां कार्यस्य प्राचुर्यं स्यात् सः निगमः।

ग्रामः – ग्रसते भोजनं क्रियते यत्र सः ग्रामः, कृषिकार्यं ग्रामे भवति, अस्मिन् विग्रहे **ग्रसु अदने** धातोः औणादिक मन् प्रत्यये सति पुंसि ग्रामपदं सिद्ध्यति। समौ **संवसथग्रामौ**[4] इत्यमरकोशः। अस्य लक्षणं भोजेनेत्थं दत्तम् – **ग्रामः स्यान्निगमादूनः।**[5]

स्थालीपुलाकन्यायेन वास्तुशास्त्रे आवासाङ्गत्वेन केचन बहुप्रचलिताःशब्दाः निरूप्यन्ते–

हर्म्यम् – द्वितलस्य ततोऽधिकस्य भवनस्य नाम हर्म्यमिति वास्तुशास्त्रे प्रसिद्धम्–

गृहस्योपरिभूमिर्या हर्म्यं तत् परिकीर्तितम्[6]**।**

हरति मनांसि जनानामिति विग्रहे वाक्ये अघ्नादित्वात् (उणादिपाठः 04/112) यत्प्रत्यये मुडागमे च इति व्युत्पत्तौ सिद्ध्यति।कोशोऽपि समर्थयते – हर्म्यादिधनिनां वासः[7]।

सोपानम् – द्वितीयतलं प्राप्तुं यस्य मार्गस्यानुसरणं क्रियते तत्सोपानपदेनाभिधीयते। उक्तं हि –

तस्यारोहणमार्गो यः सोपानं तत्प्रचक्षते[8]

उपानमुपरिगमनं तेन सह विद्यमानमिति विग्रहे कोशोऽपि प्रमाणयति –

आरोहणं स्यात्सोपानम्[9]

निःश्रेणिः – नियता श्रेणिः पङ्क्तिः यत्रसामासिकविग्रहे कश्चनपङ्क्तिबद्धः पदार्थः सिद्ध्यति। वास्तुशास्त्रदृष्ट्या तु काष्ठैः रचितः उपरि गमनमार्गः विवक्षितः–

काष्ठकैः यत्र रचितं स्थूणयोरधिरोहणम्।
सा निःश्रेणिरिति प्रोक्ता सोपानैर्विपुलैः पदैः।।[10]

---

1. समराङ्गणसूत्रधारः18/03
2. अमरकोशः2/2/01
3. मयमतम्10/34–35
4. अमरकोशः2/2/19
5. समराङ्गणसूत्रधारः18/04
6. समराङ्गणसूत्रधारः18/10
7. अमरकोशः02/02/09
8. समराङ्गणसूत्रधारः18/10
9. अमरकोशः02/02/18
10. समराङ्गणसूत्रधारः18/11

कोशोऽपि – निःश्रेणिस्त्वधिरोहिणी।[1]

काष्ठविटङ्कः – काष्ठानां विटङ्कः परिमण्डनं यत्र विग्रहेण वाक्येन ज्ञायते यत् काष्ठैः आवृतः कश्चन गृहविशेषः, साम्प्रतं काठमाण्डुनगरे जापानदेशे वा एतादृशानि भवनानि सन्ति। अस्य लक्षणम् –

स्मृतः काष्ठविटङ्कोऽसौ यत्काष्ठैः संवृतं गृहम्।[2]

सौधम् – सुधायाः चूर्णस्य लेपोऽस्यास्तीति विग्रहे सुन्दरभित्तियुक्तं गृहम्, अत्र कोशः कथयति–

सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका।[3]

शास्त्रेऽपि अस्य लक्षणमित्थम्–

सुधालिप्ततलं हर्म्यं सौधं स्यात् कुट्टिमं च तत्[4] ।

कस्यचन शुभ्रवर्णस्य विशालबहुतलयुक्तस्य भवनस्य आकृतिरुदेति।

वातायनम् – वातस्य वायोः अयनम्, ईयते गम्यते अनेनेति अयनम् इति विग्रहे पवनस्य आगमनप्रत्यागमनयोः साधनविशेषार्थो गमयति। वातायनं **गवाक्षोऽथ**[5] इत्यमरः अस्य लक्षणम् –

वातायनं तु भित्तीनामवलोकनमुच्यते[6] इति भोजः।

अवलोकनम् उलोकश्च – अव उपसर्गकस्य लोकृ दर्शने इति धातोःकरणे ल्युट्प्रत्यये सति अवलोक्यते अनेनेति विग्रहे प्रेक्षणस्य किञ्चित्साधनं विवक्षितम्। तथैव उ उपसर्गकस्य लोकृ धातोः करणे घञ्प्रत्यये सति उलोकः सिद्ध्यति। एतयोः लौकिकार्थः गवाक्षस्य प्रकारत्त्वेनोपतिष्ठते। अत एव समराङ्गणसूत्रधारे अनयोः लक्षणं विद्यते –

लघुर्वातायनो यः स्यादवलोकनकं हि तत्।
हर्म्यस्य मध्ये यच्छिद्रं स उलोक इति स्मृतः॥[7]

उपर्युक्तलक्षणेन प्रतीयते यत् **झरोखा** इत्यस्य वाचकौ स्याताम्।

निर्यूहः – निरूहति इत्यस्मिन्विग्रहे वस्तुनः काष्ठालम्बनविशेषः कश्चन पदार्थः। अत्र कोशः कथयति–

द्वारापीडे क्वाथरसे निर्यूहः नागदन्तके[8] इत्यमरः।

अत्र भोजः कथयति –

---

1. अमरकोशः 02/02/18
2. समराङ्गणसूत्रधारः 18/12
3. अमरकोशः 02/02/10
4. समराङ्गणसूत्रधारः 18/13
5. अमरकोशः 02/02/09
6. समराङ्गणसूत्रधारः 18/14
7. समराङ्गणसूत्रधारः 18/16
8. अमरकोशः 03/03/237

निर्यूहो हर्म्यदेशाद्यः काष्ठानामुपनिर्गमः[1]

निर्गमद्वारस्य काष्ठमण्डनस्य अभिधानं विद्यते।

वलीकम् - वलीकशब्दोऽपि निर्यूहपदमिव विद्यते।वलति आवृणोति भित्यादि इति विग्रहे -

वलीकमिति विज्ञेयं काष्ठं छेदाद्विनिर्गतम्।[2]

भित्तौ लग्नस्य यूपस्य संज्ञा।

चतुःशालः, त्रिशालः, द्विशालः, एकशालः - सर्वप्रथमं शाल इति पदं विवेचनीयम्, नाम्ना प्रतीयते यत् शलन्ति प्रविशन्ति यत्र शाला शालो वा शब्दः कक्षस्याभिधायकः। तद्यथा -

वासः कुटीद्वयोः शाला सभा सञ्जवनं त्विदम्।[3]

मुनीनाङ्कृते चतुःशालः भवति-

चतुःशालं मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्[4] इति कोशः।

लक्षणानि -

छन्नैश्चतुर्भिः पार्श्वैर्यत् तच्चतुश्शालमुच्यते ।
त्रिभिस्त्रिशालं तत् प्राहुर्द्वाभ्यां तत्स्याद् द्विशालकम्।।[5]

सामान्येन कक्षायाः नामानीमानि।

गृहपर्यायाः-गृहपर्यायाः इमे शब्दाः परिगणिताः - आवासः, सदनम्, सद्म, निकेतः, मन्दिरम्, संस्थानम्, निकेतम्, धिष्ण्यम्, भवनम्, वसतिः, क्षयः, आगारम्, संश्रयम्, नीडम्, गेहम्, शरणम्, आलयः, निलयः, लयनम्, वेश्म, गृहम्, ओकः, प्रतिश्रयः इति त्रयोविंशतिपदानि पर्यायत्वेन सङ्गृहीतानि। इमानि पदानि वासार्थकधातुभ्यः निष्पद्यन्ते । तदित्थं वस्, सद्, कित,स्था, धा, भू, शृ, श्री, गृ, लीङ् इत्यादिभिःधातुभिःअधिकरणार्थकप्रत्ययैःसह इमे शब्दाः साधवःभवन्ति। एतदेभ्यःअन्यान्यपि वास्तुपदानि स्युःकिन्तु बीजाङ्कुरन्यायेन शब्दग्रामो मया सन्निवेशितः **नामरूपे व्याकुर्वाणि जगदिति** प्रतिपादयता अथर्ववेदेनापि निर्दिष्टं यत् संसारस्य पदमाश्रित्यार्थानुसन्धानं करणीयम्।

निष्कर्षः - विश्वकर्मप्रकाश-समराङ्गणसूत्रधारादिषु ग्रन्थेषु गृहालयहर्म्यादिशब्दाः निश्चयं पर्यायत्वेन परिगणितेष्वपि विशेषार्थमभिदधते इति वास्तुविदः विदन्ति। सम्प्रति समाजेऽपि विशिष्टवाचकपदानां तस्मिन्नेवार्थो व्यवहारो जायेत एवं प्रयत्नः करणीयः। लोकेऽपि वैदेशिकपदेष्वपि आवासपदवाच्यानि बिल्डिंग,फ्लैट,अपार्टमेण्ट,टैर्नामेण्ट पदानि विशिष्टार्थयुक्तानि सन्ति। तथैव अस्मिँञ्छास्त्रेऽपि प्रत्येकं पदं लक्षणभेदेन विलक्षणार्थं प्रतिपादयतीति।

---

1. समराङ्गणसूत्रधारः18/17
2. समराङ्गणसूत्रधारः18/17
3. अमरकोशः2/02/06
4. अमरकोशः03/03/237
5. समराङ्गणसूत्रधारः18/18

राजवल्लभवास्तुशास्त्रानुसारेण गृहारम्भे मासविचारः

डॉ. प्रवेश व्यास
आचार्य अमित जोशी

वास्तुशास्त्रस्य साहित्यपरम्परायां राजवल्लभवास्तुशास्त्रं विशिष्टतमो ग्रन्थो वर्तते। ग्रन्थोऽयं सूत्रधारमण्डनेन प्रणीतोऽस्ति। सूत्रधारमण्डनः महाराणाकुम्भकर्णाश्रितः राजपण्डित आसीत्। सूत्रधारमण्डनस्य वास्तुशास्त्रीयसाहित्येषु गृहवास्तोः प्रसिद्धतमोऽयं ग्रन्थः। अयं राजवल्लभ-राजवल्लभमण्डन-राजवल्लभशिल्पशास्त्र-वास्तुराजवल्लभ-वास्तुराज-राजवल्लभवास्तु-शास्त्रादिभिः अन्यनामभिरपि प्रसिद्धोऽस्ति[1]। अयं ग्रन्थः न केवलं वास्तुशास्त्रस्यापितु गणितशास्त्रस्य शकुनशास्त्रस्य चापि महत्वपूर्ण-प्रतिपादको वर्तते।

समराङ्गणसूत्रधारे वास्तुशास्त्रस्य अष्टाङ्गानि प्रतिपादितानि सन्ति।[2] तत्र वास्तुशास्त्रस्याष्टाङ्गेषु ज्योतिषमप्येकं महत्वपूर्णमङ्गं वर्तते। ज्योतिषं कालविधानकं शास्त्रमिति प्रसिद्धम्। भारतीय-वास्तुपरम्परायामपि कालस्य महत्वं प्रामुख्येन प्रतिपादितमस्ति। गृहारम्भादारभ्य गृहप्रवेशपर्यन्तं सर्वेषु कार्येषु कालः मुख्यतमो वर्तते। गृहारम्भे सर्वादौ कालस्य विचारः क्रियते तत्र कालशुद्धेः वर्णनं विशदतया ग्रन्थेषु प्राप्यते। बृहद्वास्तुमालायां कालशुद्ध्यर्थं सर्वप्रथमं द्वारशुद्धिं पश्चाच्च भशुद्धिं लग्नशुद्धिं च विशेषरूपेण कुर्याद् इति वर्णनं प्राप्यते[3]। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे अपि गृहनिर्माणार्थं उत्तरायणे शुभमासे शुक्लपक्षे चन्द्रबलं शुभदिनं शुभनिमित्तञ्च शास्त्रदृष्ट्या विचिन्त्य कालशुद्धि करणीयेति वर्णितमस्ति यथाः

सिद्ध्यै गृहारम्भमुशन्ति वृद्धा यथोदिते मासि बलक्षपक्षे।
शशाङ्कवीर्ये सुदिने निमित्ते शुभे रवौ सौम्यगते प्रवेशः[4]॥

अतः कालशुद्धिः गृहारम्भे प्रामुख्येन करणीयेति शास्त्रवचनम् अस्ति। गृहारम्भार्थं मासशुद्धिः राजवल्लभवास्तुशास्त्रे विस्तृतरूपेण सूत्रधारमण्डनेन वर्णितास्ति, मासशुद्धयर्थं सौरचान्द्रमासयोः चिन्तनं क्रियते। सौरचान्द्रमासस्य विचारः प्रायः सर्वेषु वास्तुशास्त्रस्य मानकग्रन्थेषु प्राप्यते एव। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे चैत्रादिचान्द्रमासानां वर्णनं कृतमस्ति। प्रत्येकं

---

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् भूमिका पृ.24

2 समराङ्गणसूत्रधारः 8.2

3 द्वारशुद्धिं निरीक्ष्यादौ भशुद्धिं वृषचक्रतः। निष्पञ्चके स्थिरे लग्ने द्व्यङ्गेवालयमारभे॥ बृहद्वास्तुमाला 1.8

4 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.6

मासे गृहारम्भस्य शुभाशुभानि फलानि भवन्ति अतः शास्त्रदृष्ट्या अशुभफलदायकेषु मासेषु गृहारम्भो वर्जितो भवति। यथा चान्द्रमासानां वर्णनं राजवल्लभवास्तुशास्त्रे –

चैत्रे शोककरं गृहादिरचितं स्यान्माधवेऽर्थप्रदं
ज्यैष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वित्तदं श्रावणे।
शून्यं भाद्रपदेऽश्विने कलिकरं भृत्यक्षयं कार्तिके
धान्यं मार्गसहस्ययोर्दहनभीर्माघे श्रियं फाल्गुने[1]॥

बृहद्वास्तुमालायामपि वृद्धनारदस्य उद्धरणाच्छन्द इदं कथितमस्ति परञ्च राजवल्लभवास्तुशास्त्रे एवमेव प्रकारेण सूत्रधारमण्डनेन प्रस्तुतं कृतम्। तत्र बृहद्वास्तुमालायां हरिशयनी एकादशीतः हरिप्रबोधिनी एकादशीपर्यन्तं पुरप्रासादगृहारम्भः निषिद्धो वर्तते[2]। नारदमतेन मार्गशीर्षफाल्गुन–वैशाखमाघश्रावणकार्तिकमासेषु गृहारम्भः पुत्रारोग्यफलप्रदो भवति[3]। योगेश्वराचार्यमते चैत्रः ज्येष्ठः आषाढः भाद्रपदः आश्विनः कार्तिकः माघश्चेते मासाः गृहारम्भाय निषिद्धाः सन्ति[4]। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे चैत्रादिषु चान्द्रमासेषु क्रमशः चैत्रे शोकः वैशाखमासे अर्थप्राप्तिः ज्येष्ठे मृत्युः आषाढे पशुनाशः श्रावणे धनप्राप्तिः भाद्रपदे शून्यत्वं आश्विने क्लेशः कार्तिके भृत्यक्षयः मार्गशीर्षपौषमासयोः धनधान्यप्राप्तिः माघे अग्निभयं फाल्गुने च लक्ष्मीप्राप्तिरिति गृहारम्भस्य फलानि वर्णितानि सन्ति[5]। वर्णनमिदं निम्नतालिकामाध्यमेन सरलतया प्रतिपादितमस्ति।

राजवल्लभोक्त चान्द्रमासेषु गृहारम्भफलम्		
क्रमाङ्कः	**चान्द्रमासाः**	**गृहारम्भस्य फलम्**
01	चैत्रः	शोकः
02	वैशाखः	अर्थप्राप्तिः
03	ज्येष्ठः	मृत्युः
04	आषाढः	पशुनाशः
05	श्रावणः	धनप्राप्तिः
06	भाद्रपदः	शून्यत्वम्
07	आश्विनः	कलहः

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.7

2 आरम्भं च समाप्तं च प्रासादपुरसद्मनाम्। उत्थिते केशवे कुर्यान्न प्रसुप्ते कदाचन॥ बृहद्वास्तुमाला मासादिफलविचारः 2.48

3 सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः। मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यफलप्रदाः॥ बृहद्वास्तुमाला नारदमते मासशुद्धिविचारः 2.50

4 आषाढचैत्राश्वयुजोर्जमाघज्येष्ठेषु सप्रौष्ठपदेषु नूनम्। निकेतनानां घटनं नृपाणां योगेश्वराचार्यमते न शस्तम्॥ 2.52 पृ. 68

5 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्। 1.7

08	कार्तिकः	भृत्यक्षयः
09	मार्गशीर्षः	धान्यप्राप्तिः
10	पौषः	धान्यप्राप्तिः
11	माघः	अग्निभयम्
12	फाल्गुनः	लक्ष्मीप्राप्तिः

राजवल्लभवास्तुशास्त्रे वैशाखः श्रावणः मार्गशीर्षः पौषः फाल्गुनश्चेते माषाः गृहारम्भाय शुभाः अन्याश्च चैत्रः ज्येष्ठः आषाढः भाद्रपदः आश्विनः कार्तिकः माघश्चेते मासाः अशुभाः सन्ति परञ्च नारदमते माघकार्तिकमासाः अपि शुभाः वर्णिताः सन्ति। पौषमासः तस्य मते गृहारम्भाय निषिद्धः। योगेश्वराचार्यमते राजवल्लभवास्तुशामतानुसारेणैव चैत्रः ज्येष्ठः आषाढः भाद्रपदः आश्विनः कार्तिकः माघश्चेते मासाः गृहारम्भाय अशुभाः कथिताः सन्ति। गृहारम्भाय प्रायः राजवल्लभवास्तुशास्त्रोक्तानां मासानां ग्रहणं क्रियते पौषमासस्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु भिन्नं वर्णनं प्राप्यते अतः अत्र विभेदो दृश्यते। अस्य निवारणाय सूर्यराशेः सौरमासस्य वा विचारः क्रियते। नारदमते सूर्यराशिमते गृहारम्भः एवमेव प्रकारेण बृहद्वास्तुमालायां वर्णितोऽस्ति –

गृहसंस्थापनं सूर्ये मेषस्थे शुभदं भवेत्।
वृषस्ते धनवृद्धिः स्यान्मिथुने मरणं ध्रुवम्॥
कर्कटे शुभदं प्रोक्तं सिंहे भृत्यविवर्धनम्।
कन्यारोगं तुले सौख्यं वृश्चिके धनवर्धनम्॥
कार्मुके तु महाहानिर्मकरे स्याद्धनागमः।
कुम्भे तु रत्नलाभः स्यान्मीने सद्यभयावहम्[1]**॥**

वर्णनमिदं तालिकामाध्यमेन स्पष्टीक्रियते –

बृहद्वास्तुमालायां सूर्यराशिभेदात् गृहारम्भस्य फलम्		
क्रमाङ्कः	**सूर्यराशिः**	**फलम्**
01	मेषः	शुभः
02	वृषः	धनवृद्धिः
03	मिथुनः	मरणं
04	कर्कः	शुभः
05	सिंहः	भृत्यवृद्धिः
06	कन्या	रोगः
07	तुला	सुखम्

1 बृहद्वास्तुमाला नारदमते ग्राह्यमासाः 2.53–55 पृ.68

08	वृश्चिकः	धनलाभः
09	धनुः	हानिः
10	मकरः	धनलाभः
11	कुम्भः	रत्नलाभः
12	मीनः	भयम्

गृहारम्भे यथा चान्द्रमासस्य प्रमुखता भवति तथैव सौरमासानामपि प्रामुख्येन वर्णनं राजल्लभवास्तुशास्त्रे प्रतिपादितं वर्तते। सूर्यस्य एकांशभोगकालः एकः सौरदिवसः कथ्यते। त्रिंशदंशभोगकालः एकराशिभोगकालस्य सम एव भवति। अनेन एकराशिभोगेन एकसौरमासस्य कालः कल्पितः।

गृहारम्भार्थं सौरमासानां विचारः द्वारमुखमाध्यमेन वा गृहस्य मुखभेदेन राजवल्लभवास्तुशास्त्रे प्रतिपादितमस्ति। तत्र सिंहकर्कमकरकुम्भतुलामेषवृश्चिकवृषराशिस्थिते सूर्ये गृहारम्भः शुभो मन्यते। एतेषु मासेषु पूर्वपश्चिमदिशि द्वारयुतानां गृहाणामारम्भः सिंहकर्कमकरकुम्भस्थिते सूर्ये शुभो भवति दक्षिणोत्तरदिशि द्वारयुतानां च गृहारम्भः तुलामेषवृश्चिकवृषराशिस्थिते सूर्ये शुभो भवतीति[1]। विपरीतमासेषु गृहारम्भः रोगकारकः द्रव्यनाशकरश्च भवति[2]। अन्येषु कन्यामीनधनुमिथुनराशिषु गते सूर्ये गृहारम्भः द्रव्यहानिकारको भवति इति। यथा –

''कन्यामीनधनुर्गते च मिथुने चास्मिन्न कार्यं गृहम्''[3]।

इदं निम्नतालिकामाध्यमेन स्पष्टीयते –

दिक्परत्वेनसौरमासविचारः			
क्रमाङ्कः	**पूर्वपश्चिम-दिशि द्वारम्**	**उत्तरदक्षिण-दिशि द्वारम्**	**त्याज्यसौरमासाः**
01	सिंह	तुला	कन्या
02	कर्क	मेष	मीन
03	मकर	वृश्चिक	धनु
04	कुम्भ	वृष	मिथुन

भारतीयवास्तुशास्त्रे कालस्य गणना ज्योतिश्शास्त्रस्य सहाय्येन भवति अतः ज्योतिषमपि वास्तुशास्त्रस्येकमङ्गं प्रसिद्धम्। वास्तुशास्त्रे शुभाशुभलक्षणसंयुतस्य कालस्यापि वर्णनं प्राप्यते। वास्तुकर्मसु मुहूर्तानां प्रयोगः शास्त्रीयग्रन्थानामाधारेण क्रियते। सम्यग्दिने सुलग्ने च

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

2 द्वारं भिन्नतया करोति रोगोऽर्थनाशस्तदा। राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

3 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

वास्तुनिर्माणस्य प्रवचनं वास्तुशास्त्रं करोति। तत्र शुभानाम् अयनमासपक्षदिनादीनां वर्णनं प्राप्यते। वास्तुनिर्माणे मासानां शुभाशुभं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वर्ण्यते। तेषु सर्वेषु ग्रन्थेषु कदाचित् वैभिन्यमपि दृश्यते। निष्कर्षरूपेण प्राप्यते यद् राजवल्लभवास्तुशास्त्रे मासानां सन्दर्भे प्राप्तवर्णनं पूर्ववास्तुशास्त्रीयपरम्परानुसारेणैवास्ति। राजवल्लभवास्तुशास्त्रस्योत्तरकालीनग्रन्थेषु अपि अस्यैव समर्थनं प्राप्यते। एवमेव कारणेन वास्तुशास्त्रीयग्रन्थानां महोदधौ राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् मणिरूपेण राराज्यते।

वैदिकवाङ्मये वास्तुशास्त्रम्- एकमध्ययनम्

डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री

वेदशब्दः विद् धातोः घञ् प्रत्ययान्निष्पन्नः, यस्यार्थो भवति पवित्रज्ञानम् - घञ् प्रत्ययस्यार्थो भवति भावः कर्म करणं वा। अतः ज्ञानं ज्ञेयपदार्थः ज्ञानस्य साधनम् वा इति त्रयमेव वेदशब्दस्य वाच्यार्थोः भवितुं शक्यते। वेदशब्दः विद् लाभे, विद् सत्तायां, विद् विचारणे इति धातुना सम्पद्यते। ऋक्प्रातिशाख्यव्याख्याकारेण कथितं यत् -

विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः।[1]

अत एव धर्मार्थकाममोक्षात्मकपुरुषार्थचतुष्टयाणां वर्णनं यत्र विद्यन्ते ते ग्रन्थविशेषाः वेदाः। वेदा हि अशेषज्ञानविज्ञानराशयः कर्तव्याकर्तव्यबोधकाः शुभाशुभनिदर्शकाः सुखशान्तिसाधकाः चतुर्वर्गावाप्ति-सोपानस्वरूपाश्च। कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यभूमिकायां श्रीविद्याधरशर्ममहाभागः[2] वेदशब्दस्य व्याख्यां कथति यद् वेदेषु अकारान्तवेदशब्दः द्विप्रकारको समुपलभ्यते- आद्युदात्तः-अन्तोदात्तश्च। अतः तस्यार्थोऽपि द्विविधः- एकः शब्दराशिः ऋगादिचत्वारः वेदाः, अपरो दर्भमुष्टिः यज्ञीय पदार्थविशेषः।[3] तत्र ग्रन्थराशिवाचकः सर्वोऽप्याद्युदात्तः, कुशमुष्टिवाचकः तु अन्तोदात्तः। अनयोः द्वयोः आद्युदात्त-अन्तोदात्तयोः वेदशब्दयोः सिद्ध्यर्थमेव भगवता पाणिना अपि उच्छादिगणे[4] वृषादिगणे[5] च वेदशब्दद्वयं पठितम्। सायणाचार्यस्तु 'अपौरुषेयं **वाक्यो वेदः**' इत्यपि आह। इष्टप्राप्तिः अनिष्टनिवारणस्य अलौकिकमुपायको ग्रन्थः वेद इति कथ्यते। यथा-

इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारयोः अलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।[6]

अर्थात् यः उन्नतेः प्रगतेश्च पथं दर्शयति तथा दुष्फलात् निवारयति सः वेदः वैदिकवाङ्मयम् वा सामान्यतया चतुर्धा विभज्यते। संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्यकम्, उपनिषत्। एतदतिरिक्तं वेदाङ्गानामपि वैदिकवाङ्गमये समावेशो जायते। अत्र 'वेदः' इत्येतस्य पदस्य प्रयोगो मन्त्रब्राह्मणयोः निमित्तेन विधीयते। आपस्तम्बेन प्रोक्तं च

1.ऋक्प्रातिशाख्यम्-विष्णुमित्रः

2.कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यभूमिका

3.कात्यायनश्रौतसूत्रम्

4.पा.उच्छादीनां च, 6.1.160.

5.पा.वृषादीनां च, 6.1.203.

6.तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिका

''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्''[1]। येन हि यज्ञयागानामनुष्ठानं, देवतानां च स्तुतिर्विधानं यत्र उल्लिखितमस्ति तत् मन्त्र इति प्रोच्यते। ब्राह्मणम् इत्येतस्य पदं ग्रन्थविशेषवाचकम्। ब्राह्मणम् इति संज्ञा तु यज्ञानां विविधक्रियाकलाप-प्रतिपादक-ग्रन्थरूपा एव। अतः तेन हि प्रधानतया द्विविधो वेदः- मन्त्ररूपो ब्राह्मणरूपश्च।

मन्त्राणां समूह एव अत्र संहितापदेन व्यवह्रियते। संहिताशब्दः मूलतः ग्रन्थवाचकः, यत्र भाष्यं, व्याख्यानं नास्ति, किन्तु मूलमन्त्राः सूक्तानि च सन्ति। संहिताकरणे ऋषि-देवता-छन्दसां विनियोगप्रभृतीनां विभिन्नतत्त्वानां नियामकता वर्तते, किन्तु यागात्मकप्रयोजनं सर्वोपरि वर्तते इत्यपि एकं मतम्।[2]

वस्तुतो वेदस्तु एक एव आसीत् किन्तु वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृतः। इति कथनानुसारं व्यासेन मन्त्रसंहितानां विभाजनं चतुर्विधतया कृतम्। तादृशं वैदिकवाङ्मयमेकं विशालं साहित्यं वर्तते, यत्र संहिताग्रन्थाः, ब्राह्मणग्रन्थाः, आरण्यक-ग्रन्थाः, वेदाङ्गानि, उपनिषदः च समाविश्यन्ते। ऋग्वेदः, यजुर्वेदः,सामवेदः तथा अथर्ववेदः इति क्रमेण चतस्रः संहिताग्रन्थाः सन्ति। तत्र स्थापत्यस्य विविधानि अङ्गानि सम्यक्-रूपेण उल्लिखितानि सन्ति। वास्तुशास्त्रस्य समुद्भवः स्थापत्यवेदाद् अभवत्। अथर्ववेदस्य अङ्गभूतं वस्तुतो वास्तुशास्त्रम्।

यथा नानाविधानि शास्त्राणि समस्तस्य ब्रह्माण्डस्य वर्णने विपुल विचारवैभवानि सन्ति, तथैव वास्तुशास्त्रस्य विचारेऽपि सुसमृद्धानि सन्ति। वास्तुशास्त्रमेकं सुपरिचितं विज्ञानमस्ति। यस्मिन्नस्माकं सांस्कृतिकनिधीनां भवननिर्माणविधीनां च समुल्लेखो वर्तते। पञ्चमहाभूतानामेव उपयोगेन मानवः स्वजीवनं सुविधासम्पन्नं कर्तुं शक्नोति। दिगनुसारेण भवनस्य स्थिति विन्यासस्य प्रभावः स्पष्टरूपेण मानवजीवने निपतति। आदिकालाद् ऋषयः तेषां प्रभावानामनुशीलनं कृत्वा समाजस्य सुखसमृद्ध्यर्थं विशिष्टनियमानां निर्धारणं कृतवन्तः। तज्ज्ञानमेव सर्वत्र वास्तुशास्त्ररूपेण प्रथितमभूत। वास्तुशास्त्रे मानवजीवनस्य दैनिकक्रियाकलापानां तथा विचारधारायाः एकं प्रतिरूपं दृश्यते। पुराणेषु वर्णितायां गृहनिर्माणकलायां तत्कालीनसमाजस्य समृद्धिः तथा बौद्धिक-विकासस्य परिचयो द्रष्टुं शक्यते।

वास्तुशास्त्रं मूलतः विज्ञानस्य विषयः अस्ति। अत्र पृथ्वी, अग्निः, जल, वायुः, आकाश्चेति पञ्चतत्त्वानां प्रभावो परिगण्यते।

वास्तुशब्दस्यार्थः -

वास्तुशब्दस्य निष्पत्तिः 'वस्निवास' धातोः संजाता। यस्यार्थः निवासकरणं भवति।

---

1. आपस्तम्ब,परिभाषा-31,
2. वैदिकसाहित्य और संस्कृति का स्वरूप और विकास

वसन्ति प्राणिनः यत्र अर्थात् प्राणिनां निवासस्थानं वास्तु इति कथयते। अनया दृष्ट्या प्राणिनो यत्र निवसन्ति तेषामर्थे तदेव वास्तु भवति। जलचराणां कृते जलमेव वास्तु भवति, पक्षिणां कृते तेषां नीडमेव वास्तु भवति। यथा अमरकोषे उक्तमस्ति– वेश्मभुर्वास्तुस्त्रियाम्।[1] कोषानुसारं गृहस्य कृते नियतभूमिरेव वास्तु इति।

वास्तुशब्दस्य सामान्यो मर्यादितोऽर्थः निवासयोग्या भूमिः अथवा भवनं भवति। किन्तु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तोर्विषयः गहनः व्यापकश्च वर्तते। विश्वकर्मावास्तुशास्त्रे उक्तम् –

देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिः शिल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञामुदीरितम्।[2]

अर्थात् देवः, मनुष्यः, गजः, धेनुः, अश्वादयः पशवो यत्र निवसन्ति तदेव वास्तु भवति। एतदतिरिक्तं मानवः स्वकीयं सुविधार्थं भवननिर्माणाय येषां केषामपि वस्तूनामुपयोगं करोति तद्वस्त्वपि वास्तु भवति। विश्वकर्मावास्तुशास्त्रानुसारेण इष्टिका, शिला, वृक्षः, कीलादीनि सर्ववस्तूनि वास्तुसंज्ञकानि भवन्ति। यथा –

इष्टिका च शिला दारुरयस्कीलादयोऽप्यमी।
वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञामुदीरितम्।।[3]

पूर्वोक्तमतानुसारेण वास्तुशास्त्रस्य भूमेः, हर्म्यस्य, प्रासादस्य, यानस्य, पर्यङ्कस्य, शयनस्य च संकीर्तनं जातम्। वस्तुतस्तु मयमते भूमिरेव प्रधानं वास्तुरस्ति इति कथितम् –

धराहर्म्यादियानं च पर्यङ्कादिचतुर्विधम्।
धराप्रधानवास्तु स्यात्तत्तज्जातिषु सर्वशः।।[4]

एतेषां वस्तूनां निर्माणं यत्र भवति तत्स्थानं भूमिरेवास्ति। अन्यथा यदि कथयामश्चेत् समेषां एतेषां वास्तूनामाधारो 'धरा' विद्यते। अनेन प्रकारेण वास्तुपदस्य व्युत्पत्तिः वस्तुशब्देनापि स्वीक्रियते।

कौटिल्य-अर्थशास्त्रेऽपि वास्तुशब्दस्य विस्तृतरूपेण वर्णनं कृतमस्ति। कौटिल्यमतानुसारेण गृहम्, क्षेत्रम्, आरामाः, सेतुबन्धः, भवनम्, तड़ागः, पुष्कराणि प्रभृतीनि स्थानानि वास्तुशब्देन व्यवह्रियन्ते। तद्यथा–

गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तडागमाधरो वा वास्तु।[5]

अनेन प्रकारेण विज्ञायते यत् सामान्यजनस्य निवासभवनमेव वास्तु न भवति, अपितु राजभवनं, प्रासादः, ग्रामः, नगरं, रथ्या, मार्गः, प्रकारः, परिखा, मन्दिरं, मण्डपः, यज्ञवेदी,

---

1. अमरकोषः-2.19
2. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्-7.1.
3. विश्वकर्मावास्तुशास्त्र-7.61.
4. मानसार-3.2,
5. अर्थशास्त्रम्-3.8

सभागृहं, कूपः, तडागः, वापी, स्तूपादीन्यपि वास्तवन्तर्गतानि भवन्ति।

मानसारमयमतादिषु समराङ्गणसूत्रधारस्य पूर्ववर्तिषु तथा शिल्परत्नादिषु परवर्तिषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तुशब्दस्य अर्थः क्षेत्रम्, भवनम्, प्रासादः, राजहर्म्यं, देवमन्दिराणि, देवप्रतिमादयोऽस्ति। भारतीयस्थापत्यानुसारं वास्तुविनियोजना समस्तभूमण्डलं गृहीत्वा प्रचलति। भारतीये स्थापत्ये समस्तविश्वस्य चिन्तनं भवति।

वास्तुपुरुषोत्पत्तिः-

वास्तुपुरुषः कोऽस्ति इति विषये एका आख्यायिका शास्त्रे वर्तते। ब्रह्मणः द्वौ मानसपुत्रौ आस्ताम्। एकः महर्षिनारदः अन्यः वास्तुपुरुषः। महर्षिनारदः सात्विकः तथा वास्तुपुरुषः तामसिकः। सो वास्तुपुरुषो देवानां कृते कष्टदायक आसीत्। देवाः त्रस्तो भूत्वा ब्रह्माणं निवेदितवन्तः, तदा ब्रह्मापि, सर्वं वृत्तान्तं श्रुत्वा, अहमपि त्रस्तः अस्मि, अतः भवद्भ्यो यथा रोचते तथा कुरु इति, उक्तवान्।

एकदा स वास्तुपुरुषः एकाकी स्वर्गे स्वस्थाने उपविष्टः आसीत्। तदा सर्वे देवाः एकत्रीभूय तं वास्तुपुरुषं पृथिवीं प्रति क्षिप्तवन्तः। तदा वास्तुपुरुषः स्वर्गान्मृत्युलोकं प्राप्य अधोमुखम् अपतत्। तस्मिन्समये वास्तुपुरुषस्य शिरः ऐशान्यकोणे तथा पादौ नैऋत्यकोणे आस्ताम्। तदा तेन स्वपितरम् ब्रह्माणं प्रार्थना कृता यदहं कुत्र निवसामि, मम भोजनं किं? तदा देवैः वरः प्रदत्तः यद् यत्र यत्र नूतनं गृहं, वापी, सरः, कूपो, प्रासादादिर्भवेत् तत्र तत्र अग्निकोणे ईशानकोणे वा तव वासो भविष्यति। एवं तव होमकार्ये यद् यद् द्रव्यम् आहुतिद्वारा प्राप्यते। तद् अन्नम् तव भोजनं भविष्यति। तदारभ्य-अद्यावधि पृथिवीलोके वास्तुपूजनं भवति, वास्तुपूजनेन नूतनगृहादिस्थाने निवसतां जनानां कृते सुख- शान्ति-सम्पत्यादीनां प्राप्तिर्जायते।

वैदिकवाङ्मये वास्तुशास्त्रम्-

संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-वेदाङ्गानाञ्चावलोकनेन प्रतीयते यद् वास्तुशास्त्रस्य विकासो यज्ञवेदीनिर्माणाय शुल्बसूत्रात्समजायत इति। वास्तुशास्त्रे प्राचीनभवननिर्माण-विधीनां समुल्लेखो वर्तते। वैदिकमन्त्रेषु वास्तुशास्त्रविषयकाः विविधविषयाः विविधस्थानेषु दृष्टिपथमायान्ति। उपवेदेषु आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गन्धर्ववेदः, स्थापत्यवेदश्च विद्यन्ते। स्थापत्यवेद एव शिल्पवेदः। शिल्पशास्त्रमेव क्रमशः विकासं प्राप्य वास्तुशास्त्ररूपेण प्रसिद्धं जातम्। ऋग्वेदे विविधसूक्तेषु मन्त्रेषु च वास्तु, वास्तव्यशब्दानां स्पष्टतया उल्लेखो दृश्यते। यथा –

नमो वास्तव्याय वास्तुपाय च॥[1]

ता वां वस्तून्युष्मसि गमध्यै ॥[2]

ऋग्वेदे वास्तोष्पतिदेवतायाः स्तुतिपरं सूक्तमेकं प्राप्यते –

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।[3]

ऋग्वेदे सप्तममण्डले अष्टममण्डले च वास्तोष्पतिर्देवतासम्बन्धिनः मन्त्राः दृश्यन्ते। तेषां मुख्यरूपेण मैत्र-वारुणिर्वसिष्ठऋषिः, त्रिष्टुप्छन्दः, वास्तोष्पतिश्च देवता-वर्तन्ते। यथा –

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः॥[4]
वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां सत्रं सौम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥[5]

गृहनिर्माणविधिः

वेदे वास्तुनिर्देशकाः बहवः शब्दाः। तेषु गृह- गेह- दम- दुर्य- दुरोण- दुर्योण- क्षय- धामन्- पस्त्या- सदन- शाला- हर्म्य- छर्दि- आयतन- ओकसादयः प्रयुज्यमानाः दृश्यन्ते। यथा गृहशब्दः –

बृहन्तं मानम् वरुण स्वधावः
सहस्त्रद्वारम् जगामा गृहं ते॥[6]
गृहानेमि मनसा मोदमानः।
राजन्तमध्वराणाम् गोपामृतस्य दीदिविम्॥[7]

मुख्यगृहात् कस्यां दिशि अन्यद् गृहं कर्तव्यमिति विषये नारायणदैवज्ञेन मुर्हूतमार्तण्डे वर्णितं यत्-

स्नानाग्निस्वपिवस्त्रभोजनपशुद्रव्यामरौकः स्थितिः
पूर्वादौ जलमीशितुर्दिशि परं वायोरपाङ्मूत्रकम्।

---

1. शु.यजुर्वेद-16.39
2. ऋग्वेद.1.154.6
3. ऋग्वेद-7.54.1-3,
4. ऋग्वेद-7.55.1,
5. ऋग्वेद-8.17.14,
6. ऋग्वेद-7.88.5,
7. शु. य. 3.41

आल्प्येशक्तिभुवोर्यथारुचि परे गेहस्य दक्षे घर-
ट्टाम्बूलूखलचुल्लिकापितृपदप्रक्षालनान्यूचिरे।।[1]

पूर्वदिक्स्नानगृहम्, अग्निकोणे पाकगृहं, क्रमेण दक्षिणस्यां दिशि शयनगृहं, नैर्ऋत्यकोणे वस्त्रगृहं, पश्चिमदिशि भोजनगृहं, वायव्यकोणे पशुगृहं, उत्तरस्यां दिशि सुवर्णादि द्रव्यगृहं, ईशानकोणे देवगृहं जलकार्यञ्च भवेयुः। वायोर्दिशि- अनुक्तपदार्थसंग्रहकक्षः, दक्षिणस्यां दिशि पुरीषत्यागगृहं कार्यम् अथवा स्थानाल्पे इच्छानुसारं कर्त्तव्यम्। केचन पिष्टयन्त्रं, उदकं, उलूखलं, चुल्लिका, पितृपादप्रक्षालनस्थानञ्च दक्षिणभागे कथितवन्तः।

पूर्वादिक्रमेण मुहूर्तचिन्तामणौ एवं वर्ण्यते यत्- पूर्वस्यां स्नानगृहं, आग्नेये पाकगृहं, दक्षिणे-शयनगृहं, नैर्ऋत्येऽस्त्रागारं, पश्चिमे भोजनगृहं, वायव्ये धान्यागारः उत्तरे भाण्डारगृहं ईशानकोणे च दैवतगृहं भवेयुः इति।[2]

अथर्ववेदे कक्षस्यान्तर्भागेषु बहुमूल्यवस्तूनां संग्रहार्थं कोषगृहस्य वर्णनमपि कृतमस्ति-

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्झितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते।[3]

वस्तुतः गृहं गृहस्वामिनः केन्द्रं भवति। अथर्ववेदे सामान्यकुटीराद् आरभ्य विशालभवनपर्यन्तं विविधकक्षाणाम् द्विपक्ष- चतुष्पक्ष- षट्पक्ष- अष्टपक्ष- दशपक्षादीनां शालानां भवनानां च निर्माणव्यवस्था विशेषरूपेण वर्णितमस्ति।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निर्मीयते।
अष्टपक्षाम् दशपक्षाम् शालां मानस्य पत्नीगर्भ इवा शये।।[4]

तदा भवनानां निर्माणं समुद्रस्य निकटे तथा च तडागस्य मध्ये अपि भवति

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो ग्रहाः पराचीना मुखा कृधि।।[5]

अथर्ववेदे षष्ठे काण्डे प्राप्यते यत् भवनं शीतलं भवितव्यम् -

---

1. मुहूर्तमार्तण्ड-6.18
2. मुहूर्तचिन्तामणि-12.21
3. अथर्ववेद. 9.3.20,
4. अथर्ववेद. 9.3.21,
5. अथर्ववेद. 6.106.2

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परिव्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्।।[1]

अथर्ववेदीयवास्तुसूत्र-उपनिषदि स्थापत्यकलायाः विषयवस्तु प्राप्यते। तत्र षट्-प्रकारकाणाम् शिलानां उल्लेखो वर्तते। हिरण्यरेखिका, समवर्णा, ताम्रा, धातुपटिता, वज्रलब्धा, सैकता, लिकाश्चेति। एतेषु समवर्णा शिला प्रतिमायाः निर्माणकार्ये योग्या इति कथ्यते।

वैदिकग्रन्थानुशीलनेन विज्ञायते यत् वैदिकसमाजः पूर्णतया सुसंस्कृतः आसीत्। तेन जीवनं सुखमयं, सुसमृद्धं च कर्तुं गृहनिर्माणकलायाः विकासो जातः। ऋग्वेदे गृहशब्दः निवासस्य सदनस्य वार्थे प्रयुक्तः। ऋग्वेदे गृहस्य कृते पर्यायवाचिनः शब्दाः समुपलब्धाः सन्ति। यथा- गयः, धामन्, दमः, सदनं, आयातनम्, क्षयः, ओकस्, वेश्मः निवेशन इत्यादयः। यथा- **सुरणं गृहे ते**।[2] ऋग्वेदसंहितायां गृहनिर्माणस्य निर्देशाः प्राप्यन्ते। यत्र सूर्यस्य किरणाः बहुशः आयान्ति यथा- **तां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः**।।[3]

अनेन स्पष्टं भवति यत् शालानां गृहाणां वा मुखानि पूर्वदिशि स्थातव्यानि। मनुष्याणां कृते उत्तरस्यां वापि विन्यासः स्वीकार्यः। गृहाणां प्रायशः पूर्वस्यामेव दिशि हि मुखानि भवन्ति।[4] अथर्ववेदे शालायाः गृहनिर्माणस्य च विषये विशेषरूपेण अधिकं महत्वपूर्णं वर्णनं वर्तते। अनेन वैदिकयुगस्य गृहाणां शालानां च निर्माणविषये सुन्दरं स्पष्टं चित्रं दरी दृश्यते। अथर्ववेदस्य तृतीयसूक्ते प्रथममन्त्रे गृहनिर्माणं कथं कर्तव्यम् इति कथितमस्ति। सर्वाणि द्वाराणि समानानि भवेयुः। सा शाला परितश्चतुरस्रस्वरुपा तथा तस्य द्वाराणि चतुर्दिक्षु वायुग्रहण-अनुकूलानि, सुदृढबन्धनान्वितानि च स्युः। यथा-

इहैव ध्रुवाम् प्रति तिष्ठ शाले अश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।।[5]

तस्मिन् काले गवाश्वादीनां दुग्धजलादीनां च समृद्धिः आसीत्। तदा जनाः स्वस्य आ. जीविकायाः जीवनयापनस्य वा कृते कृषि-पशुपालनयोः निर्भरा आसन्। अतस्तेषां शालायां पशूनां बृहती संख्यासीत्। तेषां शाला गवाश्वादीभिः परिपूर्णासीत्। घृतदुग्धादीनां वैपुल्यमासीत्।

अथर्ववेदे चतुर्णां प्रकोष्ठानां भेदानाम् उल्लेखः प्राप्यते। वैदिककाले बहवः प्रकोष्ठाः आसन्। तेषां भिन्नं-भिन्नं प्रयोजनमासीत्। भिन्नप्रकोष्ठानां प्रमाणं अथर्ववेदे प्रतिपादितमस्ति। यथा-

---

1. अथर्ववेद. 6.106.3,
2. ऋग्वेद.3.53.6.
3. ऋग्वेद. 1.154.6.
4. ऋग्वेद. 1.154.1-3,
5. अथर्ववेद. 3.12.2.

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवी शाले॥[1]

पूर्वोक्तानुसारं प्रथमे प्रकोष्ठे हविर्धान्यादीनां संग्रहः, द्वितीय- प्रकोष्ठे गृहस्थिनो गार्हपत्याग्निराधनम् कृतवन्तः। तृतीयप्रकोष्ठे पत्नीनां सदनम् आसीत्। तदेव अन्तःपुरमिति संज्ञया प्रसिद्धम्। चतुर्थप्रकोष्ठे सभासदनं स्थानमण्डपं वा कथितम्। एतदतिरिक्तं गवाश्वादिपशूनां कृते अपि सम्यक् रक्षणाय- पोषणाय च पृथक्स्थानमासीत्।

स्तम्भविचारः

गृहस्योपरिभागस्य भारं स्तम्भ एव वहति, तस्मात्कारणात् तं विना न कस्यापि गृहस्य निर्माणं कर्तुं शक्यते। स्तम्भस्य विषये अथर्ववेदे उपमितां परिमितामिति शब्दयोः प्रयोगः प्राप्यते। तद्यथा-

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥[2]

अथर्ववेदस्य आधारेण गृहनिर्माणस्य साधारणतया चत्वारः स्तम्भाः भित्तेरुपरि निर्मिताः भवन्ति। ते उपमित इति नाम्ना परिचिताः। स्तम्भोपरि वेश्मस्थूणाः स्थाप्यन्ते, ते प्रतिमिताः। ततः स्तम्भसंयोजनार्थं वेश्मस्थूणाः परिमिता वर्द्धयन्ते। ततो उच्छ्रायोपरि पञ्जररूपेण बद्धा वंशा विषुवन्तो भवन्ति, अनन्तरं तृणपटलेन गृहस्य आच्छादनं भवति, पलद इति नाम भवति। वैदिकयुगादेव स्तम्भनिर्माणं अद्यावधिं यावत् अक्षुण्णरूपेण दृश्यते। बृहत्संहिताग्रन्थे स्तम्भस्य प्रमाणं विद्यते -

नवगुणितेऽशीत्यंशाः स्तम्भस्य दशांश हीनाग्रे॥[3]

स्तम्भस्य उच्छ्रये नवगुणिते तस्य अशीतितमो भागः स्तम्भस्य मूले पृथुत्वमानम्। तत् पृथुत्वप्रमाणे दशांशः स्तम्भस्य अग्रे पृथुत्वम् भवति। यथा राजगृहस्य प्रथमायां भूमिकायां दशहस्ताः, दशाङ्गुलानि एतदेव स्तम्भस्य उच्छ्रायप्रमाणम्। तदुच्छ्रायमानं नवगुणितात् अशीत्यंशः अष्टाविंशत्यंङ्गुलानि स्वल्पान्तरात्। एतत् मूले पृथुत्वं भवति। मूले पृथुत्वस्य दशांशाः अग्रे पृथुत्वम्। अतः त्रिगुणा परिधिः।

स्तम्भादीनां मानविचारणे बृहत्संहिताग्रन्थे -

समचतुरस्त्रो रुचको वज्रोऽष्टास्त्रिद्विवज्रको द्विगुणः।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः॥[4]

स्तम्भस्य मध्यभागः चतुरस्त्रस्तदा स रुचको नाम स्तम्भः। मध्यभागो अष्टकोणीयः

1. अथर्ववेद. 9.3.21.
2. अथर्ववेद.9.3.1,
3. बृहत्संहिता-52.27
4. बृहत्संहिता-52.28

तदा स्तम्भः वज्र इति कथ्यते। यस्य स्तम्भस्य मध्यभागः षोडशकोणीयः वर्तते स द्विवज्र इति नाम। स्तम्भस्य मध्यभागः द्वात्रिंशत्कोणीयः तदा प्रलीनक इति कथ्यते। स्तम्भमध्यो वृत्तश्चेद् वृत्तसङ्ज्ञो भवति। एत एव स्तम्भाः प्रशस्तफलदायकाः भवन्ति। अन्ये नेष्ट फलदायकाः। अत्र किमर्थं मध्यभागस्य विचार इत्युक्ते तत्र ऊर्ध्वाधोभागानां विचारो विद्यते, यथा-

स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः।
पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद् भागेन भागेन॥[1]

स्तम्भं नवभिर्भागे विभज्य तत्र सर्वाधो भागे वहनं कार्यम्। वहनं नाम उह्यते, धार्यते भूमौ येन स्तम्भभागेन तद्वहनम् इत्यर्थः।

वहनस्य ऊर्ध्वभागे विद्यमानद्वितीयभागः घटः। घटस्य ऊर्ध्वभागे कमलं कार्यं, चतुर्थो भागः उत्तरोष्ठ इति। अत्र उत्तरोष्ठो यत्र शोभार्थं चित्रकविशेषाः क्रियन्ते ततः पञ्चमो भागः मध्यः, तस्योपरि पुनः उत्तरोष्ठादीनि कार्याणि। तथोक्तं भट्टोप्पलटीकायाम्-नवधा विभक्ते स्तम्भेऽधरोर्ध्वभागचतुष्केऽधो हिरण्यादीनि कार्याणि। शेषं भागपञ्चकं समचतुरस्त्रादिकं कार्यम्।

सम्प्रति स्तम्भस्य उपरि निवेश्यमानस्य काष्ठस्य विचारः क्रियते। स्तम्भस्य उपरि यत् तिर्यक् कृत्वा काष्ठं दीयते तस्य भारतुला संज्ञा भवति -

स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम्।
भवति तुलोपतुलानामूनं पादेन पादेन॥[2]

प्रासादादिषु स्तम्भानां बहुत्वात् भारतुला इति बहुवचननिर्देशः कृतः। भारतुलाया उपरि यदन्यत् काष्ठं दीयते तस्य तुलोपतुला इति नाम भवति। भारतुलानां स्तम्भमितं घनत्वं कार्यम्। यथा राजगृहे स्तम्भस्य घनत्वं अष्टाविंशति-अङ्गुलानि, भारतुलानामपि तर्थव कार्यं भवति। एवं भारतुलानामुपरि विद्यमानपतुलानां भारतुलायाः पादोनम् कार्यम्।

वैदिककाले आर्यजनाः बहूनां ग्रामाणां सर्जनं कृतवन्तः। अतः वैदिकवाङ्मये-अनेकत्र ग्रामाणाम् उल्लेखाः वर्तन्ते। यथा यजुर्वेदे ग्रामस्य उल्लेखः विद्यते-

यदग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये॥[3]

ऋग्वेदे-अग्नये ग्रामरक्षकः पुरोहित इति कथनमस्ति-

अग्निः ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽस्ति यज्ञेषु मानुषः।[4]

ग्रामाः प्रायः विस्तृताः आसन्। ग्रामस्य निवेशसमये जलस्य वायोश्च विचारो भवति।

---

1. बृहत्संहिता-52.29,
2. बृहत्संहिता-53.30,
3. शु.यजु. 3.45,
4. ऋग्वेद.1.44.10,

बृहद्ग्रामस्य संज्ञा 'महाग्रामः' आसीत्। शतपथब्राह्मणेन ज्ञायते यद् वैदिककाले केचिद् ग्रामा निकटवर्तिनः आसन्। केचिच्च दूरस्थिताः मार्गे सम्बद्धाः संयुक्ता आसन्। तद्यथा–

सा यद् ग्राम्यैः संस्थापयेत्। समध्वानः क्रामेयुः समन्तिकग्रामयोग्रामान्तौ स्यातां नऽक्षीकि पुरुषःव्वधाः परिमोषिण आ व्याधिन्यस्तस्करा अरण्येषु जायेरन्॥[1]

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या निर्मितानां गृहाणां रचना पर्यावरणम् अभिलक्ष्यैव भवति। यथा क्रमेण पृथ्वी–अग्नि–जल–वायु–आकाशादीनां पञ्चतत्त्वानां महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। वास्तुशास्त्रमेकं सुपरिचितं प्राचीनं वैदिकविज्ञानम् अस्ति। यस्मिन्नस्माकं सांस्कृतिकनिधीनां भवननिर्माणविधीनां च समुल्लेखो विद्यते। पञ्चमहाभूतानामेव सदुपयोगेन मानवः स्वजीवनं सुविधासम्पन्नं कर्तुं शक्नोति। दिगनुसारेण भवनस्य स्थितिविन्यासस्य प्रभावः स्पष्टरूपेण मानवजीवने निपतति। आदिकालादृषयः तेषां प्रभावानाम्–अनुशीलनं कृत्वा सम. ाजस्य सुखसमृद्ध्यर्थं विशिष्टनियमानां निर्धारणं कृतवन्तः। विश्वे सर्वत्र तज्ज्ञानमेव वास्तुशास्त्ररूपेण प्रख्यातम्। एवं वैदिकवाङ्मये संहिता–ब्राह्मणश्रौतसूत्रादिग्रन्थानामवलोकनेन ज्ञायते यद् वास्तुशास्त्रस्य प्रादुर्भावः, विकासश्च वेदाद् एव सिध्यति, तत्र भूमिपरीक्षणम्, स्तम्भस्थापनम्, गर्तविचारः, मापदण्डः, सभागृहम्, शयनकक्ष इत्यादिकं वर्णनं विद्यते त. था च उपकरणगृहम्, गृहनिर्माणम्, षोडशगृहनिर्माणम्, गृहे पाकशालादीनां स्थाननिर्णयः, गृहेषु स्तम्भस्थापनम्, द्वारवशाद् विविधगृहविवरणम्, गृहे ग्रामादौ च कूपतड़ागादि–जलाशयस्थाननिर्णयः, गृहं ग्रामं च परितः स्थापनीयवृक्षाः, निषिद्धवृक्षाः, वृक्षद्वारा अशुभनिवृत्तिः, वास्तुमण्डलदेवता तेषां पूजादिवर्णनम्, प्रासादादीनां लक्षणम्, प्रासादान्तः द्वार–देवतादीनां मानस्थापनादीनि वास्तुशास्त्रसम्बन्धिविचाराः विस्तारेण विद्यन्ते, तेषामुपरि शोधकार्यस्थावश्यकता वर्तते।

---

1. शतपथब्राह्मणम्–8.6.2

प्रासादे प्रतिमानिर्माणम्

डॉ. ब्रजेशकुमारः

भारतीयसंस्कृतौ सभ्यतायां च यदा धार्मिकचेतना आध्यात्मिकतां स्वीकृत्य उदिता तदा ब्रह्मणः रूपद्वयं दृष्टम्- निर्गुण-ब्रह्म सगुण-ब्रह्म च। प्रथमं स्वरूपं निराकार आसीत् यस्मिन् ब्रह्मणः स्वरूपं निर्गुणं, निर्विशेषं, इन्द्रियातीतं च स्वीकृतम्। द्वितीयं स्वरूपं सगुणं साकारश्च आसीत् यस्मिन् अस्य स्वरूपं सविशेषं मायोपाधिकं च स्वीकृतम्। इयमेव दार्शनिकमान्यता कालान्तरे विभिन्नानां देवीदेवतानां कल्पना भूता। मानवः ब्रह्मणः शक्तीनाम् अवताराणाञ्च भौतिकं कलेवरं कल्पिवान्। फलस्वरूपम् इमानि प्रतीकानि कालान्तरे कला-सौन्दर्यबोधेन सह सम्बद्धो भूत्वा मन्दिराणां प्रतिमानाञ्च रूपे प्रकटितानि।।

वासुदेव शरण-उपाध्यायमहोदयेन मन्दिरस्य उपादेयतायाः उल्लेखं कुर्वन् कथितं यत्- ''हिन्दूधर्मे मन्दिरनिर्माणं पारलौकिककार्याणि सन्तीति मनसि निधाय क्रियते।''[1] तत्र भक्ताः इष्टदेवस्य आह्वानं स्तुतिपाठञ्च एकत्रीभूय कुर्वन्ति।

प्रतिमायाः शाब्दिकोऽर्थः 'प्रतिरूपं' भवति। अर्थात् समाना आकृतिः। पाणिनिना अपि स्वकीये सूत्रे 'इवे प्रतिकृतो'[2] इत्यस्मिन् समरूपा आकृतेः अर्थे प्रतिकृतिशब्दस्य प्रयोगः कृतः। प्रतिमाविज्ञानाय आङ्गलभाषायां ''आइकोनोग्राफी'' शब्दः प्रयुज्यते। 'आइकन' शब्दस्य तात्पर्यः तस्याः देवतायाः अथवा ऋषेः तद्रूपेण सह वर्तते यत् कलात्मकरूपेण चित्र्यते। ग्रीकभाषायाम् एतत्कृते 'इकन' (Elken) शब्दस्य प्रयोगः वर्तते। ऋग्वेदे[3] अपि प्रतिमा इत्यस्य कृते 'अर्चा' शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। प्रतिमायाः प्रयोगो वस्तुतः तेषामेव आकृतीनां कृते क्रियते यत् केनापि धर्मेण सम्बन्धितो भवति। प्रतिमामाध्यमेन भक्ताः उपासकाश्च स्वकीयान् भक्तिपूर्णान् उद्गारान् इष्टेभ्यः आराध्येभ्यश्च समर्पयन्ति। द्विजेन्द्रनाथशुक्ल[4] महोदयेन भारतीयप्रतिमानां वर्गीकरणं त्रिधा कृतम्-

(i) ब्राह्मण-प्रतिमाः

(ii) बौद्धप्रतिमाः

(iii) जैनप्रतिमाः

एतासु प्रतिमासु ब्राह्मण-प्रतिमानां गोपीनाथ राव महोदयेन[5] पुनः त्रिषु प्रभेदेषु

---

1 उपाध्याय-वासुदेवशरण-प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृष्ठ 201-202

2 पाणिनि-अष्टाध्यायी, 5/3/96

3 ऋग्वेद 7/9/19

4 शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 194

5 टी.ए. गोपीनाथराव- एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, भाग-1, पृष्ठ 17

विभाजनं कृतम्–

(i) चलाः अचलाश्च प्रतिमाः (चलाचलप्रतिमाः)

(ii) पूर्णाः अपूर्णाः च प्रतिमाः (पूर्णापूर्णप्रतिमाः)

(iii) शान्ता अशान्ता च प्रतिमा : (शान्ताशान्तप्रतिमाः)

चलप्रतिमानां निर्माणाय तादृशानां द्रव्याणां प्रयोगो भवति, यल्लघुद्रव्यम्। यथा – स्वर्णरजतताम्रादि धातवः। अपि च इमाः प्रतिमाः अपेक्षाकृताः लघ्व्यः भवन्ति।

अचलप्रतिमानां निर्माणाय पाषाणानां प्रयोगः क्रियते येन इमाः स्थूलाः स्थावरप्रकृतियुक्ताः च दृश्यन्ते। इत्थं इमाः प्रतिमाः लम्बमानाः विशालाश्च भवन्ति।

चलाचलप्रतिमानां पुनः द्विधा विभाजनं कृतम्–

(1) चलप्रतिमाः

(a) कौतुकबेरः – पूजनार्थम्

(b) उत्सवबेरः – पर्वणि बाह्यगमनाय

(c) बलिबेरः – दैविकोपचारात्मकपूजायां प्रयोगार्थम्

(d) स्नपनबेरः – स्नानार्थम्

(2) अचलप्रतिमाः– इमाः प्रासादानां गर्भगृहे स्थाप्यते। सर्वदैव एकस्मिन्नेव स्थाने विद्यमानकारणाद् 'अचल' इति कथ्यते। एतासामपि मुख्यतः भेदत्रयं वर्तते[1]–

(1) स्थानकम्

(2) आसनम्

(3) शयनम्

प्रतिमाप्रासादयोः सम्बन्धः

व्यावहारिकरूपेण ज्ञायते यत् केवलं वैष्णवप्रतिमाः एव प्रदत्तासु मुद्रासु विभक्तुं शक्यते। अन्येषां देवीदेवतानां प्रतिमा न। सामान्यरूपेण एतासां मूर्तीनां वाहनस्य, आयुधस्य, मुद्रायाः, अलङ्कारणानां, भुजानां सङ्ख्यामाध्यमेनैव अभिधानं कर्तुं शक्यते। भारतीयमूर्तिकलायां देवदेवीनां प्रतिमाः पीठिकायां, सिंहासने, आसने, हस्ती–मृग–व्याघ्रचर्मसु, कमलपुष्पे, पद्मपत्रे, सुमेरूयुक्ते, पशूनामुपरि (गज–सिंह–अश्व–कृष्णमहिष–मृग–अज–शूकर–गर्दभ–शार्दूलादीना–मुपरि) पक्षिणां (मयूर–हंस–उल्लूक–गरुड़ादीनां) जलचराणां (मकर–मत्स्य–कच्छपप्रभृतीनां) उपरि उपवेशनमुद्रायां उत्थितमुद्रायां वा प्रदर्शयन्ते।[2]

आयुधम्– प्रतिमानां गुणाः शक्तयः च प्रदर्शयितुं तेषां हस्तायुधयोः उपयोगो भवति। एतस्य कृते बहुधा तेषां हस्तानां संख्या अपि वर्धिताः। हस्तेषु यानि वस्तुनि प्रदर्शयन्ते तानि देवदेवीनां शक्तीनां, क्रियाणां, गुणानाञ्च प्रतीकानि भवन्ति। शिल्पशास्त्रीयग्रन्थानुसारं देवतानां 36 (षटत्रिंशत्) आयुधानि सन्ति। चक्रम्, त्रिशूलम्, वज्रः, धनुः, कृपाणः, गदा, अङ्कुशः, इषु, छुरिका, दण्डः, शक्तिः, मूसलः, परशुः, कुन्तः (भाला), रिष्टिका, खट्वाङ्ग, भुशुण्डीः, कर्तिका,

1. टी.ए. गोपीनाथ राव– एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दु आइकोनोग्राफी, पृष्ठ 17

2. अग्रवाल–गिरिराज किशोर– भारतीय मूर्त्तिकला, पृष्ठ 88

कपालः, सूची, खेटः, पाशः, सर्पः, हलः, मुद्गरः, शङ्खः, शृङ्गः, घण्टा, शत्रुशिरः, माला, पुस्तकम्, कमण्डलः, कमलम्, पानपत्रम्, योगमुद्रा[1] इमानि आयुधानि सन्ति।

वैष्णवसम्प्रदाये योगः, भोगः, वीरा, अभिचारिका चतुस्समुद्राः शैलाश्च एतेषाम् अपि प्रतिमाः निर्मीयन्ते।[2] प्रायशः उत्थितमूर्त्तीना मुख्यमुद्राः अधोलिखितरूपेण उपलभ्यन्ते–

(1) समापादः– उभयोः पादयोः समानरूपेण उत्थिताः।

(2) अभङ्गम्– इषत् वक्रस्थितौ उत्थितमुद्रायाम्।

(3) त्रिभङ्गम्– मस्तके, कटिभागे, पादयोः च वक्ररूपम्।

(4) अतिभङ्गम्– यस्मिन् शरीरस्य प्रत्येकमपि अवयवेषु वक्रता स्यात्।

एतदतिरिच्य कांश्चन् प्रतिमासु अन्याः अपि मुद्राः द्रष्टव्याः भवन्ति। देवी–देवताभ्यः सम्बन्धिताः हस्तमुद्राः अपि प्रमुखाः सन्ति।

(1) अभयः– दक्षिणहस्तस्य अङ्गुल्यः उद्घाटिताः।

(2) वरदः– दक्षिणहस्तस्य उद्घाटितः करतलः अधो भवेत्।

(3) ध्यानमुद्रा– उभयोः करतलयोः अङ्के एकस्योपरि अपरहस्तः इति मुद्रायाम्।

(4) ज्ञानमुद्रा–दक्षिणहस्तस्य तर्जनी तथा अङ्गुष्ठयोः मेलनरूपम्।

प्रतिमासु देवी–देवतानां उपवेशनासनानि अपि भिन्नानि सन्ति। सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णम् आसनं पद्मासनं मन्यते। एतस्मिन् सम्यगुपविश्य दक्षिणपादं वामपादस्य जघने तथा वामपादं दक्षिणजङ्घायां दृढ़ीकृत्य एतादृशं स्थाप्यते यत् पादयोः तलौ कटिभागं स्पृशतः। देवताः मनुष्यप्रजातिभ्यः श्रेष्ठाः स्वीक्रियन्ते। अतः तेषां बहवः हस्ताः शिरांसि च प्रकल्प्यन्ते।

आभूषणानि तथा वस्त्राणि – देवतानाम् अभिज्ञानं क्वचित् तेषां वस्त्रैः क्वचि. चच्च आभूषणैः अलङ्करणैश्च भवति। यथा विष्णुप्रतिमा कौस्तुभमणिना युक्ता भवति। हिन्दूस्थापत्यकलायां प्रतिमाः विविधैः आभूषणैः वस्त्रैश्च सज्जीक्रियन्ते, एषा परम्परा अतीवप्राचीना वर्तते। वराहमिहिरेण बृहत्संहितायां लिखितम्–

देशानुरूपभूषणवेशालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निहिता वृद्धिदा भवति॥[3]

देशः कालः, वर्णाश्रमव्यवस्था चैतेषाम् अनुसारम् आभूषणानां वस्त्राणाञ्च या पद्धतिः मनुष्येषु प्रचलिता तादृगेव देवानां देवीनाञ्चापि परिकल्पना विहिता। ब्रह्माणं ब्रह्मचारीरूपेण, शिवं संन्यासीरूपेण, विष्णुं राज्ञः रूपेण स्थापित–करणस्य प्रथा दृश्यते।[4]

विभिन्नदेवतानां प्रतिमास्थापनम् – हिन्दूधर्मस्य प्रमुखानां देवी–देवतानां प्रतिमाः प्रायः सम्प्रदायद्वयेन सह सम्बन्धिताः सन्ति वैष्णवः शैवश्च। एतेषाम् अतिरिच्य गणेश–दुर्गादिदेवतानां सम्प्रदायानाम् अपि पृथक्–पृथक् प्रतिमाः उपलभ्यन्ते।

1. शुक्ल–द्विजेन्द्रनाथ– भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 232
2. वही, पृष्ठ 229
3. बृहत्संहिता, प्रतिमालक्षणाध्याय, पद्य–29
4. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ– भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 235

प्रासादमण्डने देवी-देवतानां स्थापनविषये कथितं यद् गणेशः, भैरवः, चण्डी, नकुलीशः, नवग्रहः, मातृदेवता, कुबेरश्च दक्षिणाभिमुखं कृत्वा स्थापयेयुः। इत्थमेव वानरेश्वरस्य हनुमतः मुखं नैऋत्याभिमुखं स्थापयेत्। अन्यः कोऽपि देवः नैऋत्याभिमुखो न भवति। ब्रह्मा, विष्णुः, शिवः, इन्द्रः, सूर्यः, कार्तिकेयश्च पूर्वाभिमुखं पश्चिमाभिमुखं च वर्तन्ते। एतान् कदापि दक्षिणोत्तराभिमुखं न स्थापयेत्।[1]

पूर्वपरास्यदेवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।
ब्रह्मविष्णुशिवार्केन्द्र-गुहाः पूर्वापराङ्गमुखाः॥
नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये ब्राह्मे च देवताः।
गणेशो धनदो लक्ष्मीः पुरद्वारे सुखावहाः॥
विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा,
मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः॥
नैर्ऋत्याभिमुखः कार्यो हनुमान् वानरेश्वरः।
अन्ये विदिङ्मुखा देवा न कर्त्तव्याः कदाचन॥

सजातीयाः देवाः परस्परं सम्मुखं स्थापयितुं शक्यन्ते। चण्डिकादिदेवीनां समक्षे मातृदेवता-यक्ष-क्षेत्रपाल-भैरवादयः देवानां स्थापनां कर्तुं शक्यते। ब्रह्मणः विष्णोश्च देवालयः परस्परं सम्मुखं भवति चेद् दोषो न भवति परन्तु भगवतः शिवस्य सम्मुखस्थः न कोऽपि अन्यो देवः शास्त्रसम्मतः।

देवप्रासादस्य जलनिकासः

पूर्वाभिमुखस्य पश्चिमाभिमुखस्य च प्रासादस्य नलिका उत्तरदिशि शुभा। उत्तराभिमुखस्य दक्षिणाभिमुखस्य च प्रासादस्य नलिका पूर्वस्मिन् दिशि श्रेयस्करी भवति। यदि कस्मिञ्चत् मण्डपे नैके देवाः स्थापिताः तदा मूलदेवस्य (प्रमुखदेवस्य) वामभागस्य देवस्य नलिका वामभागे तथा दक्षिणभागस्य देवस्य नलिका दक्षिणभागे कारयेत्।

देवपञ्चायतनम् -

प्रासादमण्डने कथितं यत् सूर्यस्य पञ्चायतनस्य-मध्यभागे सूर्यः, तस्य प्रदक्षिणक्रमे गणेशः, विष्णुः, चण्डीदेवी, महादेवश्च स्थापयेयुः। एतैः सह एव नवग्रहाणां, द्वादश गणानां च स्थापना भवति। गणेशस्य पञ्चायतनमध्ये गणेशः, अस्य प्रदक्षिणक्रमे चण्डीदेवी, महादेवः, विष्णुः सूर्यश्च शास्त्रानुसारं भवेयुः। अत्रैव द्वादशगणानां च स्थापनं कुर्यात्। विष्णोः पञ्चायतनमध्ये विष्णुं स्थापयित्वा प्रदक्षिणक्रमे गणेशः, सूर्यः, अम्बिका, शिवश्चैतान् स्थापयेयुः। एतैः सह एव गोपीनाम् अवताराणाञ्च मूर्तिभिः सह द्वारकानगरीमपि स्थापयेत्। चण्डीदेव्याः पञ्चायतने प्रमुखस्थाने सा स्वयं तिष्ठति ततः प्रदक्षिणक्रमेण महादेवः, गणेशः, सूर्यः, विष्णुश्चैतान् स्थापयेयुः। अपि च तत्र मातृदेव्याः चतुःषष्ठियोगिन्यादिदेवीनां भैरवादिदेवानां

1. प्रासादमण्डनम्- द्वितीयोऽध्याय, पृष्ठ 36-37

मूर्तयः अपि स्थापयेयुः।

दिक्पालाः

धार्मिकवास्तुशास्त्रस्य सिद्धान्तानुसारं मन्दिरस्य (देवप्रासादस्य) निर्माणकाले दिक्पालदेवतानां महत्त्वपूर्णा भूमिका भवति। वास्तुशास्त्रे प्रमुखरूपेण दशदिशां विषये उल्लेखः प्राप्यते। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणदिश अतिरिच्य चतुर्षु कोणेषु अर्थात् पूर्वोत्तरयोर्मध्ये ईशानः, दक्षिणपूर्वयोर्मध्ये आग्नेयः, दक्षिणपश्चिमयोर्मध्ये नैर्ऋत्यः, पश्चिमोत्तरयोर्मध्ये वायव्यः तथा आकाशः पातालश्च इमाः दिशः वर्तन्ते। प्रत्येकम् अपि दिशां एकः प्रमुखो देवो भवति सः एव दिक्पालनाम्ना प्रसिद्धः।

आकाशस्य देवता ब्रह्मा, पातालस्य च देवः शेषनागः (अनन्तः) कथितः। भैरवः क्षेत्रपालरूपेणापि ज्ञायते। एतेषां मूर्त्तयः मण्डोवरस्य जघनि अन्याभिः देवीदेवताभिः सह एव स्थाप्यन्ते।[1]

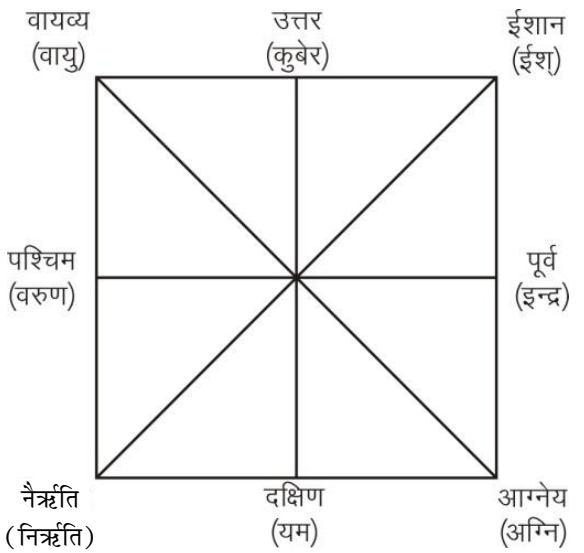

नवग्रहाः

देवप्रासादे नवग्रहाणां मूर्तयः स्तम्भेषु, आसनेषु वितानादिषु च स्थाप्यन्ते। प्राचीनेषु मन्दिरेषु एते मन्दिरस्य द्वारस्य उपरि उत वा अन्यत्र कुत्रचित् पृथक्-पृथक् स्थानेषु अथवा एकस्यामेव पङ्क्तौ स्थापिताः प्राप्यन्ते। नवग्रहेषु सर्वादौ प्रमुखरूपेण सूर्यः। जैनबौद्ध-धर्मावलम्बिजनाः अपि सूर्याय महत्त्वं प्रयच्छन्ति। देशस्य अनेकेषु जैनबौद्धगुहासु सूर्यस्य प्रतिमाः प्राप्यन्ते। बृहत्संहितायां सूर्यः उदीच्यवेशधारी च निरूपितः -

1. रूपमण्डनम्- भूमिका, पृष्ठ 44/45

नासाललाटजङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढ़पादादुरो यावत्।।[1]

रूपमण्डने सूर्यस्य प्रतिमा रथयुक्ता[2] कथिता। द्विभुजप्रतिमायां सूर्यः श्वेतपङ्कजहस्तः, धृतरक्तवस्त्रः वर्तुलः तेजसः बिम्बस्य मध्यस्थोऽपि वर्णितः –

सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्।
द्विभुजञ्चैकवस्त्रञ्च श्वेतपङ्कजधृत्करम्।
वर्तुलं तेजसो विम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम्
आदित्यस्य त्विदं रूपं कुर्यात् पापप्रणाशनम्।।[3]

तथैव सोमादिग्रहाणामपि मूर्तीनां वर्णनं रूपमण्डने प्राप्यते। अनेन प्रकारेण शास्त्रसम्मतरीत्या प्रासादेषु स्थापनाय प्रतिमानां निर्माणं कार्यम्। येन निश्चितरूपेण शुभं फलं भक्तजनाः प्राप्नुवन्ति।

---

1 बृहत्संहिता– प्रतिमालक्षणाध्यायः, श्लोक–46

2 रूपमण्डनम् 2/22

3 तत्रैव 2/18–19

वराहमिहिरानुसारेण वास्तुभूमेः शुभाशुभत्वम्

बालमुकुन्द झा

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदमित्यनेन विश्वकर्मणो मतमिदं यद्गृहं स्त्रीपुत्रादीनां भोगप्रदं, धर्मार्थकामप्रदायकं च भवति। अतः सर्वेषां कृते गृहनिर्माणं सुखास्पदं भवति। कुत्र कस्यां भूमौ गृहनिर्माणं सुखास्पदं भवतीति विषये वास्तुशास्त्रे विशिष्टं वचनं प्राप्यते। विकारयुता भूमिः न सौख्यदा भवति। भगवता श्रीकृष्णेनापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचारक्रम एवं वचनं निगदितं यथा -

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥[1]

अतो क्षेत्रस्याज्ञाते वासः न कर्त्तव्यः यतः क्षेत्रमेव मानवस्य शरीरम्। वास्तुनरस्य यथा प्रविभागो भवति तथैव नगरग्रामेष्वेवमेव विभागः कथयति वराहः यथा -

गृहनगरग्रामेषु च सर्वत्रैवं प्रतिष्ठिता देवाः।
तेषु च यथानुरूपं वर्णा विप्रादयो वास्याः॥[2]

गृहे वेश्मनि नगरे ग्रामे चैतेष्वपि सर्वस्मिन् देशे देवाः प्रतिष्ठिताः परिकल्पिताः। यथा गृहे वास्तुनरस्य परिकल्पना भवति तथैव नगरे ग्रामे च। तेषु ग्रामेषु विप्रादयो अर्थात् ब्राह्मणाद्या वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा यथाक्रमं विवासनीयाः। यत्र दिग्भागे यस्योचितं तत्र वासयेदिति। कथमिति तत्प्रतिपादयन् कथयति वराहः यथा-

वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुदग्दिगाद्यानि।
विशतां च यथा भवनं भवन्ति तान्येव दक्षिणतः॥[3]

गृहे चतुःशाले ग्रामे नगरे वा ब्राह्मणानामुत्तरस्यां दिशि वासगृहाणि कार्याणि। पूर्वस्यां क्षत्रियाणां, दक्षिणस्यां वैश्यानां, पश्चिमायाञ्च शूद्राणामिति। गृहाणि एवमेव कार्याणि यथा भवनं गृहाभ्यन्तरतमं विशतां तान्येव वासगृहाणि दक्षिणस्यां दिशि भवन्ति।

प्राङ्मुखस्य द्वारमुत्तराभिमुखं कार्यम्।
दक्षिणाभिमुखस्य प्राङ्मुखम्।

---

1. गीता अ- 14, श्लो- 1।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 67।
3. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 68।

पश्चिमाभिमुखस्य दक्षिणाभिमुखम्।
एवमुत्तराभिमुखस्य पश्चिमाभिमुखमिति।।[1]

यानि चतुर्दिक्षु द्वाराण्युक्तानि तेषां शुभाशुभफलं कथितम्। यथा पूर्वदिशि द्वारशुभाशुभफलम्–

अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण।।[2]

शिखिसंज्ञे वायुभीतिर्भवति। एवं कन्याजन्मपर्जन्ये, प्रभूतधनता जयन्ते। इन्द्रे नृपवाल्लभ्यं, क्रोधशीलता सूर्ये। असत्यभाषित्वं सत्ये, क्रूरता भृशे, अन्तरिक्षे तस्करत्वम्। एवं शिखितः अन्तरिक्षपर्यन्तम् अष्टौ देवाः पूर्वस्यां दिशि अवस्थिता भवन्ति। अथ दक्षिणस्यां दिशि यथा शुभाशुभफलम्–

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन।।[3]

अनिलतः मृगपर्यन्तमष्टौ देवा अवस्थिता भवन्ति दक्षिणस्यां भूमौ। तेषु अनिलस्योपरि द्वारे सति अल्पपुत्रत्वं, पौष्णे द्वारे दासत्वं, वितथोपरि द्वारे नीचत्वं याति। बृहत्क्षते भोजन–पानवस्तु–पुत्राणां च वृद्धिर्भवति। याम्ये द्वारे रौद्रं, गन्धर्वपदे द्वारे कृतघ्नं, भृङ्गराजे अधनं मृगस्योपरि द्वारे सति पुत्रबलविनाशो भवति।पश्चिमस्यां दिशि शुभाशुभफलं यथा–

सुतपीड़ारिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।।[4]

पितृतः पापयक्ष्मा पर्यन्तमष्टौ देवा अवस्थिता पश्चिमस्यां भूमौ। तेषु पितृपदे पुत्रव्यथा, द्वौवारिके शत्रुबाहुल्यम्, सुग्रीवे पुत्रधनवाप्तिः कुसुमदन्ते पुत्रधनफलसम्पत्तिः, वारूणे धनानां सम्पत्, असुरे राजभीतिः, शोषे धनक्षयः, पापयक्ष्माख्ये च रोगो भवति। एवं प्रकारेण पश्चिमस्यां दिशि यस्य वर्णस्य गृहनिर्माणं शुभं भवति तत्कृते एव सर्वं ज्ञानमपेक्षितं भवति। अथोत्तरस्यां दिशि शुभाशुभफलम्–

वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुण सम्यत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैर सुतेन दोषाः स्त्रिया नैःस्वम्।।[5]

---

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 70।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 71
3.
4. बृहत्संहिता वास्तुवि अ–, श्लो– 72
5. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 73

उत्तरस्यां दिशि दितितः अष्टौ देवा अवस्थिता भवन्ति (सन्ति)। तेषु देवेषु रोगाख्ये मृत्युः बन्धनं च, सर्पे द्वारे शत्रुवृद्धिः, मुख्योपरि द्वारे पुत्रधनप्राप्तिः, भल्लाटे सम्पूर्णशौर्यादि गुणानां सम्पत्तिः, सोमे द्वारे पुत्रद्वेषः, अदिति उपरि द्वारे स्त्रीद्वेषं तथा दितेरुपरि द्वारे निर्धनता भवति। एवं वर्णपरत्वेन उत्तरस्यां दिशि शुभाशुभं भवति।

अथ प्रशस्तभूलक्षणं कथितमाचार्यवराहेणैतादृशम्–

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
स्निग्धं समा न सुषिरा च महीनराणाम्।
अप्यध्वनिः श्रमविनोदमुपागतानां
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥[1]

प्रशस्तौषधि–द्रुमलतायुता भूमिः मधुरा, स्निग्धा सुरभिगन्धा, समलता, परिश्रमापहरण–प्रभावयुता भूमि धनधान्यादिकं सुखं च प्रददाति। अथ गृहेऽशुभफलं कथितं वराहेण यथा–

सचिवालयेऽर्थनाशो धूर्तगृहे सुतवधः समीपस्थे।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पदे भवति चाकीर्तिः॥
चैत्ये भयं ग्रहकृतं वल्मीकश्वभ्रसंकुले विपदः।
गर्त्तायां तु विपासा कूर्माकारे धनविनाशः॥[2]

गृहसमीपे मन्त्रिणः गृहं यदि भवेत्तदा धननाशो भवति। धूर्त्तस्य गृहे सति पुत्रनाशः, देवगृहे चित्तवैकल्यं, चतुष्पदे सति अकीर्त्तिः, प्रधानवृक्षे सति ग्रहभयं, दीमकयुता वा पीता भूमिः गृहसमीपे स्यात्तदा गृहस्वामिनोपरि आपत्तिः समायाति, गृहसमीपे गर्तायां विपासा, कच्छपसदृशा भूमिः धननाशं च करोति। अथापरं भूमिलक्षणं कथयति वराहः यथा–

उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णमथेष्टमन्येषाम्॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणामुदगादिप्लवं प्रदक्षिणेन भूभागेन शुभं भवति। प्लवत्वं निम्नत्वमिति। तद्यथा – उत्तरदिशि प्लवा भूमि ब्राह्मणानां प्रशस्ता। पूर्वप्लवा क्षत्रियाणां, दक्षिणाप्लवा वैश्यानां, पश्चिमप्लवाश्च शूद्राणां कृते शुभा भवति। अतोऽत्र वर्णानुक्रमेण शोभनम्। ब्राह्मणाः सर्वस्यां भूमौ सर्वासु दिक्षु वसेदिति। भूमेर्विधानवशेन शुभाशुभफलं यथा–

---

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 86
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 87–88।

गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्।
यद्यूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत्।।[1]

स्वस्तिवाचनपूर्वकं वास्तुदेवपूजनं च कृत्वा भूखण्डस्य मध्ये एकहस्तप्रमाणस्य गर्त्तं खनेत्। तस्मात् गर्तात् निस्सारितां मृत्तिकां पुनस्तस्मिन्नेव गर्त्ते क्षिपेत्। मृत्तिका यदि स्वल्पा भवति तदा निवासयोग्या भूमिर्न भवति। यदि मृत्तिका अवशिष्टा स्यात्तदा सा भूमिः शुभा भवति। इदमेवात्युत्तमभूमिलक्षणम्। अथान्यदपि शुभाशुभफलं यथा–

श्वभ्रमथवाम्बुपूर्णं पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम्।
तद्वन्यं यच्च भवेत् पलान्यपामाढ़कं चतुः षष्टिः।।[2]

भूखण्डे एकहस्तपरिमाणं गर्त्तं खनेत्। तस्मिन् गर्त्ते जलं प्रपूर्यं पूर्वाभिमुखं शतपदं गच्छेत्। पुनरागते सति यदि जलं तावदेव स्यात्तदा सा भूमिः सर्वकामसिद्धिदात्री भवति। यदि जलं स्वल्पमवशिष्येत्तदा मध्यमा भूमिः, जलमतीवाल्पं यदि स्यात्तदा सा भूमिरधमा कथ्यते।

अपि चैका विधिः वराहेण कथितः यत् तत्रत्या रजसा एकाढ़कप्रमाणतुल्यं भाण्डं प्रपूर्यं, पुनश्च तूलिते सति यदि चतुःषष्टिपलप्रमाणतुल्यं भवेत्तदा सा भूमिः शुभा भवति।

अन्यदायाह वराहः यथा–

आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रस्थे दीपवर्त्तिरभ्यधिकम्।
ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य।।[3]

अपक्वे मृत्पात्रे मृण्मये भाण्डे श्वभ्रान्तरगते, तत्र वर्णानां चिह्नैः अङ्कताः चतस्रो दीपवर्त्तिकाः ज्वालयेत्। यस्य वर्णस्य दिश्यधिकं चिरकाल पर्यन्तं दीपवर्ती ज्वलति तस्यैव वर्णस्य सा भूमिः शुभा भवति नान्यस्येति। एवं सर्वे विधयः विश्वकर्माप्रकाशेऽपि पठिताः सन्ति यथा–

निखनेद्धस्तमात्रेण पुनस्तेनैव पूरयेत्।
पांशुनाधिकमध्योना श्रेष्ठा मध्याधमा क्रमात्।।
जलेनापूरयेच्छ्वभ्रं शीघ्रं गत्वा पदैः शतम्।
तत्रैवागत्य वीक्षेत न हीनसलिला शुभा।।
अरत्निमात्रे श्वभ्रं वा ह्यनुलिप्ते च सर्वतः।
घृतमामशरावस्थं कृत्वावर्त्ति चतुष्टयम्।।
ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं सम्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।
दीप्ताः पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः।।[4]

---

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 89।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 90।
3. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 91।
4. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 92।

अतो गृहनिर्माणपूर्वं भूमिपरीक्षणं परमावश्यकं भवति। कथितं यथा विश्वकर्मणा–

हलाकृष्टे तथोद्देशे सर्वबीजानि वापयेत्।
त्रिपञ्चसप्त रात्रेण न प्ररोहन्ति तान्यपि॥
उप्तबीजा त्रिरात्रेण सांकुरा शोभना मही।
मध्यमा पञ्चरात्रेण सप्तरात्रेण निन्दिता॥
तिलान् वा वापयेत्तत्र यवांश्चापि सर्षपान्।
अथवा सर्वधान्यानि वापयेच्च समन्ततेः॥
यत्र नैव प्ररोहन्ति वा प्रयत्नैर्वर्जयेत्।
ब्रीह्यः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः॥
यवाश्चौषधयः सप्त सर्वबीजानि चैव हि।
सुवर्णताम्रपुष्पाणि श्वभ्रमध्यगतानि च॥
यस्य नाम्नि समायान्ति सा भूमिस्तस्य शोभना॥[1]

यत्र गृहनिर्माणं करणीयं तस्यां भूमौ हलेन कर्षणं कृत्वा बीजानि वपेत्। यदि बीजानि त्रिषु पञ्चषु सप्तसु वा दिनेषु अंकुरितानि न स्युः, तदा सा भूमिः अशुभा भवति। त्रिषु रात्रिषु अंकुरितानि यदि स्युः तदा सा भूमिः श्रेष्ठा भवति। यत्र सप्तसु रात्रिषु अंकुरितानि स्युः सा भूमिः अधमा कथिता।

लङ्काधिपतिरावणस्य श्वसुरः मयदानवः आसीत्। तस्य लिखितो मयमतग्रन्थो विद्यते। अस्मिन्प्रसङ्गे तस्याभिमतमेतादृशम्–

देवानां तु द्विजातीनां चतुरास्रायताः श्रुताः।
वस्त्वाकृतिरनिन्द्या सावाक्प्रत्यग्दिक्समुन्नता॥
हयेभवेणुवीणाब्धि दुन्दुभिध्वनि संयुता।
पुनर्गजातिपुष्पाब्जधान्यपाटलगन्धकैः॥[2]

देवानां ब्राह्मणानां च कृते आयताकारा भूमिः शुभा भवति। भूमिराकृतिः निन्दनीया न भवितव्या। शुभा भूमिः दक्षिणस्यां प्रतीच्यां चोच्चैः भवितव्या। एकवर्णा सघना कोमला च भूमिः प्रशस्ता भवति। कथितं च यथा–

पशुगन्धा समाश्रेष्ठा सर्वबीजप्ररोहिणी।
एकवर्णा घना स्निग्धा सुखसंस्पर्शनान्विता॥[3]

---

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 92।
2. विश्वकर्माप्रकाश अ–, श्लो– 61–64
3. विश्वकर्माप्रकाश अ–, श्लो– 65–69

समस्थलायां यस्यां भूमौ विल्वनिम्बनिर्गुण्डिपिण्डिलसप्तपर्ण-सहकाराश्चैमे वृक्षा फलिता भवेयुः सा भूमिः शुभा भवति। श्वेतवर्णा, रक्त-पीता-कपोतसदृशवर्णा, स्वादे च तिक्ता कटुका कषाया जलधारायुता च भूमिः प्रशस्ता शुभा भवति। यथोक्तम् -

विल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डिलः सप्तपर्णकः।
सहकारैश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थला॥
श्वेता रक्ता च पीता च कृष्णा कापोतसिन्नभा।
तिक्ता च कटुका चैव काषायलवणाम्लका॥
मधुरा षड्रसोपेता सर्वसम्पत्करी धरा।
प्रदक्षिणोदेकवती वर्णगन्धरसैः शुभा॥[1]

अपि च कथितमुत्तमं भूमिलक्षणं यथा -

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा।
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहिता वाक्प्रतीच्च्युन्नतिया॥
पूर्वोदग्वारिसारा परसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या।
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदररहिता सम्मताद्यैमुनीन्द्रैः॥[2]

श्वेतरक्तपीतकृष्णाश्च या भूमिः, अश्वगजनिनादयुता या भूमिः, मधुराम्ललवण-कटुकषायेति षड्रसस्वादयुता, एकवर्णा, गोधान्यकमलगन्धयुता, पाषाणतुषादिरहिता, दक्षिणस्यां प्रतीच्यां चोन्नता, पूर्वात्तरस्यां चावनता शूलास्थिरहिता, रज-सिकता शून्या भूमिश्च सर्वेषां कृते अनुकूला भवतीति मुनिभिर्गदिता।।

या भूमिः दधिधृतमधुतैलरक्तगन्धयुता भवेत् सा भूमिः सर्वेषां वर्णानां कृते प्रशस्ता शुभदा भवति। उक्तं च यथा-

सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसम्पत्करी तथा।
दध्याज्यमधु गन्धा च तैलासृग्गन्धिका च या॥[3]

अत्र शुभाशुभभूमिज्ञानार्थं वराहस्यैको विधिः यथा-

श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेनुवर्णसमम्।
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनोरमते॥[4]

अनेन प्रकारेण संक्षेपरूपेण वराहमिहिरानुसारेण प्रशस्तवास्तुभूमेः स्वरूपं निरूपितम्। वर्णानुसारं प्रशस्तभूमेः उपरि गृहनिर्माणं सदा करणीयं तदैव सुखं समृद्धिश्च जायेते इति।

---

1. मयमतम् अ-3, श्लो- 1-2
2. मयमतम् अ-3, श्लो- 3।
3.
4. मयमतम् अ-3, श्लो- 4-6।

वास्तुपदस्थदेवतानां शुभाशुभत्वविमर्शः

मृत्युञ्जयत्रिपाठी

वास्तुपदचक्रे याः देवताः स्थिताः सन्ति, तासां शुभाशुभत्वं प्रायः तासां नामानुसारेणैव भवति। अस्मिन् सन्दर्भे ध्यातव्यं यद्देवतानां गुणस्वभावाद्यनुसारेणैव तादृशं गुणधर्मनिर्माणं वास्तुशास्त्राचार्याः निर्दिशन्ति। तत्रापि प्रायः देवतानां स्वभावाद्यनुगुणं तासां शुभाशुभत्वं जानीयात्। अत्र वास्तुपदस्थदेवतानां स्वरूपाणि प्रदर्श्यन्ते –

1. शिखी – वास्तुचक्रस्य बाह्यपदेषु ईशानकोणे कर्पूरधवलश्वेतवर्णः शिखिनः अग्नेर्वा स्वरूपं कथितमस्ति। अस्य भार्या स्वाहा यज्ञमयाग्नेः आहुतिमन्त्ररूपे सुप्रतिष्ठितास्ति। शिखी त्रिनेत्रधरः चतुर्हस्तेषु माला–स्रुव–डमरु–त्रिशूलान् धत्ते। पञ्चमहाभूतेषु अग्नितत्त्वस्य प्रथमस्वरूपं शिखिनाम्ना प्रसिद्धः।[1] अयं शिवस्य एकं स्वरूपमप्यस्ति। अतः कालिदासः कथयति अभिज्ञानशाकुन्तले –

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतमिति।[2]

अतः शिवरूपत्वादयं वरत्रिशूलहस्तः धर्मरूपवृषे आरूढश्चास्ति। अयमेवाग्निः वास्तुनः शिरसि ज्ञानाग्निरूपेऽवस्थितः। अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। परन्तु रुष्टः कष्टप्रदोऽप्यस्ति। समरांगणसूत्रधारे अग्निरेव शंकरः कथितः। यथोक्तं तत्र –

योऽयं वह्निरिहोक्तः स सर्वभूतहरो हरः॥[3]

2. पर्जन्यः – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि शिखीतः दक्षिणं प्रति द्वितीयपदे वास्तुपुरुषस्य नेत्रस्थानीयः पर्जन्यः जलतत्त्वस्य प्रतीकः। जलजन्तूनां मुख्यनायकोऽयं पाशहस्तः वरप्रदः कुम्भीरथारूढः नौस्थो वा विद्युद्युतः नानावर्णावेष्टितः ज्योतिर्भूतः मेघानामात्मरूपो वर्तते।[4] अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समरांगणसूत्रधारे पर्जन्यः वृष्टिमान्नम्बुदाधिपवर्षदेवः कथितः।[5]

3. जयन्तः – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि पर्जन्यतः दक्षिणस्थपदे वास्तुदेवस्य श्रवणस्थानीयः जयन्तः वृष्टिदेवतायाः इन्द्रस्य पुत्ररूपे पूजितो भवति। अयं मुद्रिकाकङ्कणादिसर्वाभरणभूषितः,

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 1
2. अभिज्ञानशाकुन्तल मंगलाचरणम्
3. समरांगणसूत्रधार 14/14
4. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 2
5. समरांगणसूत्रधार 14/14

वरदाभहस्तः, जटिलः, श्मश्रुयुतः, शान्तः, कमण्डल्वक्षसूत्रभृत्, गौरवर्णः, कमलासनश्चास्ति।[1] अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे जयन्तः कश्यपः भगवानृषिश्च कथितः।[2]

4. इन्द्रः – वास्तुचक्रविन्यासे पूर्वदिशि जयन्ततः दक्षिणदिशि वास्तुपुरुषस्य स्कन्धस्थाने वज्रायुधहस्तः इन्द्रः राक्षसादिबलनिषूदनः सहस्राक्षः ऐरावतसमारूढः शचीपतिः देवानामधिपतिश्चास्ति। अयं पीतवर्णः अक्षधरश्चाप्यस्ति।[3] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे महेन्द्ररेव दनुजानां विमर्दकः देवराजः इन्द्रः कथितः।[4]

5. सूर्यः – वास्तुपदविन्यासे पूर्वदिशि इन्द्रतः दक्षिणे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणांसे भुजायां वा सूर्यदेवता शोभते। तीव्रकिरणयुतः कलिङ्गदेशोद्भवः कश्यपपुत्रः रक्तवर्णः सप्ताश्वरथगः सप्तकिरणयुक्तः द्विभुजः पद्महस्तः त्रैलोक्यतिमिरापहः सर्वसौख्यप्रदाता कर्मसाक्षीश्वरोऽयं निगदितः। अयं सूर्यो ग्रहाध्यक्षो वर्तते।[5] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति, परन्तु ज्योतिश्शास्त्रे क्रूरग्रहरूपे निगदितः। समराङ्गणसूत्रधारे सूर्यरेव विवस्वान् अहस्करः आदित्यश्च कथितः।[6]

6. सत्यदेवता – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि सूर्यात् दक्षिणस्थाने वास्तुपुरुषस्य दक्षिणप्रबाहौ **सत्यदेवता** परब्रह्मणः प्रतीकः। अयं पुण्ययुक्तः, अकल्मषः, पद्महस्तः, महाबाहुः, वरदाभयहस्तः, निर्मलः, शुभः, ज्ञानमुद्राधरः ब्रह्मचिन्तने निमग्नः भूतहितः धर्मस्वरूपश्च वर्तते।[7] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे सत्यदेवः धर्मरेव कथितः।[8]

7. भृशः – वास्तुपदविन्यासे पूर्वदिशि सत्याद् दक्षिणस्थाने वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहौ स्थितः भृशः कामपुरुषार्थस्य प्रतीकरूपः। भुवनत्रये सञ्चरणशीलोऽयं देवः कामदेवरूपः। अयं वरदहस्तः अभीष्टप्रदायकः पुष्पविमानस्थः हस्ते पुष्पधनुर्युतः गौरवर्णः नादरतः आदिदेवः।[9] समरांगणसूत्रधारे भृशः भूतहितः कामदेवः कथितः।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 3
2. समरांगणसूत्रधार 14/15
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 4
4. समरांगणसूत्रधार 14/15
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 5
6. समरांगणसूत्रधार 14/16
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 6
8. समरांगणसूत्रधार 14/16
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 7
10. समरांगणसूत्रधार 14/16

8. आकाशः– वास्तुचक्रे पूर्वदिशि भृशतः दक्षिणपदस्थः वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहुस्थाने आकाशदेव आकाशतत्त्वस्य प्रतीकः। अयं विष्णुपदः अनन्तकश्च। अस्मिन् सर्वे देवाः यक्षा ग्रहादयः सुप्रतिष्ठिताः। अयं शंखचक्रधरः असितवर्णः स्वस्तिकासनः शब्दयुतः सर्वगतः व्योम च वर्णितः।[1] समरांगणसूत्रधारे आकाशः अन्तरिक्षः नभश्च समुदाहृतः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

9. वायुदेवः – वास्तुमण्डले अग्निकोणे आकाशतः दक्षिणपदे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहुदण्डे वायुदेवः संस्थितः। अयं धनुर्युक्तः मृगारूढः जगत्प्राणः चलः युवा अंकुशध्वजधरश्चास्ति।[3] समराङ्गणसूत्रधारे मारुतः वायुः समुदाहृतः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

10. पूषा – वास्तुपदविन्यासे दक्षिणदिशि वायुपदादधो वास्तुपुरुषस्य मणिबन्धे पूषन्देवः अग्नितत्त्वस्य शक्तिः विद्युतः प्रतीकः। अयं पद्महस्तः वरप्रदः रक्तवस्त्रः विद्युदवर्णः महाबलश्चास्ति। अपि चायं महास्वनः शोणवर्णः द्विभुजाब्जकमण्डलुः गजवाहनः शुभ्रश्चास्ति।[5] समरांगणसूत्रधारे पूषा मातृगणः कथितः।[6] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

11. वितथः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि पूषातः अधःस्थानीयः वास्तुदेवस्य दक्षिणपार्श्वे वितथः। अयमपि द्यावापृथिव्यन्तरचारि चणकौदनबलिप्रियश्चास्ति। अस्य स्वरूपन्तु कृष्णवर्णः कलेरप्रतिमासनः मद्यमांसालयप्रियः रक्तकरः चलस्थश्च कथितः।[7] समरांगणसूत्रधारे वितथः अधर्मः कलेरप्रतिमः सुतश्च समुदाहृतः।[8] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

12. गृहक्षतदेवः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि वितथदेवाद् अधःस्थः वास्तोः दक्षिणकटिस्थः गृहक्षतदेवः। अयं गृहादिषु स्वस्तिं करोति। अयं पाटलाङ्गः गदासिवरचर्मभृत् क्रूरः सिंहवाहनश्चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे गृहक्षतः बुधः चन्द्रतनयश्च कथितः।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 8
2. समरांगणसूत्रधार 14/17
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 9
4. समरांगणसूत्रधार 14/17
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 10
6. समरांगणसूत्रधार 14/17
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 11
8. समरांगणसूत्रधार 14/18
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 12
10. समरांगणसूत्रधार 14/18

13. यमः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि गृहक्षतदेवाद् अधःस्थः वास्तोः दक्षिणभागस्थः यमदेवः। अयं मृत्योर्देवः दक्षिणदिशमाश्रितः महिषवाहनः अञ्जनाद्रिसमप्रभः चित्रगुप्तसहायकः दण्डपाशमुद्गरधृतः सप्तर्षिभिर्युक्तः धर्माधर्मप्रवर्तकः लोकसंयमनकः किङ्करैर्युतः रक्ताक्षः कर्मज्ञश्चास्ति। अस्य पदे गृहनिर्माणं मृत्युप्रदमेव।[1] समरांगणसूत्रधारे यमः प्रेताधिपः श्रीमान् वैवस्वतश्च कथितः।[2] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

14. गन्धर्व – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि यमदेवतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणजानुस्थः गन्धर्वदेवः अस्ति। अयं षड्विंशरागतत्परः वीणावादरतः विभुः अप्सरोगणसंकीर्णः नानागन्धैश्चर्चितः सुष्ठुवेषधरः शिखायुक्तः गौरवर्णः ध्यानमग्नः वीणाकमण्डलुधरश्चास्ति।[3] समरांगण ासूत्रधारे गन्धर्व एव देवो नारदः भणितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

15. भृंगराजः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि गन्धर्वतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणजङ्घास्थः भृङ्गराज अस्ति। अयं भ्रमरकुलैः सेव्यमानः, कुसुमामोदसंयुतः, सुनीलाङ्गः, महाकायः कुंकुमा–रुणविग्रहः खड्गखेटधरश्चास्ति।[5] समरांगणसूत्रधारे भृंगराज एव राक्षसः निर्ऋतेः सुतश्च भणितः।[6] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

16. मृगः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि भृंगराजतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणस्फिक्स्थितः मृग अस्ति। अयं शशांकचिह्नः कृष्णवर्णः चतुष्पदः श्वेतोदरविषाणः भूषितांगः वरदाभयमुद्रिकः वरासनः चारुनेत्रश्चास्ति।[7] समरांगणसूत्रधारे मृग एव अनन्तः स्वयंभूः धर्मश्च निगदितः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

17. पितरः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि नैर्ऋत्यकोणे मृगतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणपादस्थाः पितरः सन्ति। तत्र **सोमपाः अग्निष्वाताः बर्हिषदः** इत्यादयः पितृगणाः स्थिताः भवन्ति। एते पितरः पिंगाक्षाः कपिलजटाः हस्ते कुशकमण्डलुधराः सितवस्त्रपरिधानाः सितयज्ञोपवीतिनः भवन्ति। एतेषां कृते कृसरान्नं प्रदीयते। एते कुशपिण्डधराः स्वस्थाः श्यामलवर्णाः महोदराः सोमलोकवासिनश्च सन्ति।[9] समरांगणसूत्रधारेऽपि पितृलोकनिवासिनः देवाः पितरः निगदिताः।[10] भारतीयपरम्परायामेते पितृदेवा शुभदेवरूपे पूजिताः सन्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 13
2. समरांगणसूत्रधार 14/19
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 14
4. समरांगणसूत्रधार 14/19
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 15
6. समरांगणसूत्रधार 14/20
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 16
8. समरांगणसूत्रधार 14/20
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 17
10. समरांगणसूत्रधार 14/21

18. दौवारिकः– वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि नैर्ऋत्यकोणतः उत्तरं प्रति पितृदेवेभ्यो वामभागे वास्तोः वामस्फिक्स्थितः दौवारिकः। अयं द्वाररक्षकः पिष्टबलिप्रियः दन्तकाष्ठवासितश्चास्ति। अयं वेत्रमुद्राधरः भूतिविभूषितः मुक्ताभपादुकारूढो वर्तते।[1] समरांगणसूत्रधारे दौवारिकः प्रमथानामधीश्वरः नन्दी कथितः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

19 सुग्रीवः – वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि दौवारिकतः वामभागे वास्तोः वामजङ्घास्थितः सुग्रीवः। अयं कपिराजमुख्यः पाषाणवृक्षधरः पद्मासने सुशोभितः हेमवर्णः यज्ञशरीरः द्विभुजः कामदश्चास्ति।[3] समराङ्गणसूत्रधारे तु – आदिः प्रजापतिः स्रष्टा मनुः सुग्रीव ईरितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

20 पुष्पदन्तः – वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि सुग्रीवतः वामभागे वास्तोः वामजानुस्थितः पुष्पदन्तः। अयं विनायकः लम्बोदरः महाकायः गजवक्त्रः चतुर्भुजः सिद्धिबुद्धिसहितः अभ्रसंकाशः खगपक्षविराजितः महाबलः व्यालहस्तः सर्वविघ्नविनाशकश्चास्ति।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु – पुष्पदन्तस्तु विनतातनयः स्यान्महाजवः।[6] अनेन पुष्पदन्तः पक्षिराजगरुडः इत्यनुमीयते। भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

21 वरुणः – वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि पुष्पदन्ताद् वामभागे वास्तोः वामोरुस्थितः जलनायकः वरुणः। अयं कुम्भीरथसमारूढः श्वेताद्रिशिखिरोपमः पाशहस्तः महाबाहुः जलचरगणयुतः यादसां नाथः मकरस्थः पाटलांशुकः शंखपाशधरः शुभ्रश्चास्ति।[7] समरांगणसूत्रधारे तु – वरुणः पाथसां नाथो लोकपालः स कीर्तितः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

22. असुरः– वास्तुमण्डले पश्चिमदिशि वरुणाद् वामभागे वास्तोः वामकटिस्थितः असुरः। अयं रक्षोगणसमन्वितः शक्तिशूलधरः नित्यं रक्ताक्षः महाबलः हिरण्यपाशभृत् मेचकाभासः करालास्यः अंगवर्जितः सिंहारूढो वारुणाक्षश्चास्ति।[9] समरांगणसूत्रधारे तु – असुरो राहुरर्केन्दुमर्दनः सिंहिकात्मजः।[10] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितः।

23. शोषः – वास्तुमण्डले पश्चिमदिशि वरुणाद् वामभागे वास्तोः वामपार्श्वस्थितः

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 18
2. समरांगणसूत्रधार 14/21
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 19
4. समरांगणसूत्रधार 14/22
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 20
6. समरांगणसूत्रधार 14/22
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 21
8. समरांगणसूत्रधार 14/23
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 22
10. समरांगणसूत्रधार 14/23

शोषः। अयं पातालतलवासी सहस्रशिरनागः फणमणिविराजितः कर्पूराभः नागराजः महाबलः परोपकारनिरतः अनन्तः विष्णुवाहनः कृष्णतनुः शूरः वरशूलेषुचापभृत् गृध्रापक्षः कृशः दीर्घश्चास्ति।[1]

समरांगणसूत्रधारे तु – शोषस्तु भगवानेषः सूर्यपुत्रः शनैश्चरः।[2] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

24. पापयक्ष्मा – वास्तुपदमण्डले पश्चिमदिशि शोषतः वामभागे वास्तोः वाममणि–बन्धस्थितः पापयक्ष्मा। अस्य पापः यक्ष्मेति चापरनामानि। अयं निर्भयः निर्घृणः शक्तिपाणिः महाबलः धूम्रवर्णः गदावरदमुद्रिकः कपोतवाहनश्चास्ति।[3] समरांगणसूत्रधारे तु – पापयक्ष्मा क्षयः प्रोक्तः।[4] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

25. रोगः – वास्तुचक्रे पापयक्ष्मातः वामभागे वायव्यकोणस्थानीयः वास्तुनः वामप्रबाहौ रोगः। अयं वातपित्तकफेतित्रिगुणात्मकः त्रिपादः त्रिशिरः रक्तनेत्रः भस्मविभूषितः घृतमोदकबलिप्रियः पापधरः रक्तः दुरात्मा व्याधिसंग्रह दुष्टकर्ममर्दकश्चास्ति।[5] समराङ्गणसूत्र–धारे तु – रोगस्तु कथितः ज्वरः।[6] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

26. अहिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि रोगतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामबाहौ स्थितः अहिः। अयं त्रैलोक्यान्तरचारी शेषवंशसमुद्भवः चक्षुकर्णः महीश्वरः अहिराजः कमलवच्छुभ्रः फणमणिविराजितः अक्षकुण्डधरश्चास्ति।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु – भुजंगमानामधिपः श्रीमान् नागस्तु वासुकिः।[8] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

27. मुख्यः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि अहितः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामभुजास्थितः मुख्यः। अयं गणानां मुख्यनायकः जटाजूटधरः सौम्यः शूलपट्टिशधरः। अयमेव मुख्यः विश्वकर्मा वास्तुकुम्भाक्षसूत्रधृक् निपुणः महिषस्थो वर्तते।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु – त्वष्टा स्यान्मुख्यसंज्ञोऽत्र विश्वकर्माभिधश्च सः।[10] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

28. भल्लाटः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि मुख्यतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामबाहुस्थितः भल्लाटः। अयं भिल्लवेशधरः शिवरूपः कृष्णः धनुर्बाणादिधरः भिल्लमोहनकर्त्ता

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 23
2. समरांगणसूत्रधार 14/24
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 24
4. समरांगणसूत्रधार 14/24
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 25
6. समरांगणसूत्रधार 14/24
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 26
8. समरांगणसूत्रधार 14/25
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 27
10. समरांगणसूत्रधार 14/25

बर्हिपिच्छैरलंकृतः (मयूरपिच्छैरलंकृतः) चन्द्रसंकाशः वरमुद्रागदाधरः हयपुत्रः (हयग्रीवस्य पुत्रः) चास्ति।[1] समराङ्गणसूत्रधारे तु – चन्द्रो भल्लाट इत्युक्तः।[2] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

29. सोमः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि भल्लाटतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामप्रबाहुस्थितः सोमः। अयं शशांकः रजनीपतिः क्षीरोदधिसमुद्भूतः शिवजटाजूटविराजितः सुधाकरः द्विजाधारः त्रैलोक्यप्रीतिकारकः औषधाप्यायनकरः कन्दर्पवर्धनः नरविमानस्थः वरहस्तः गदाधरः गौरः महोदयः श्रीमाञ्च निगदितः।[3] समरांगणसूत्रधारे तु – कुबेरः सोमसंज्ञितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

30. सर्पः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि सोमतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामस्कन्धस्थितः सर्पः। अयं सप्तफणयुक्तः उरगः कुम्भमालाधरः चतुर्बाहुः फणमणियुतः रक्तभ्रमः निगदितः।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु सर्पस्य स्थाने चरकः कथितः। चरको व्यवसायाख्यः।[6] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

31. अदितिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि सर्पतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामकर्णस्थिता देवमाता अदितिः। इयं द्विभुजा पद्महस्ता सर्वाभरणभूषिता कश्यपप्रियभार्या सुरूपा वामलोचना सूत्रवज्रांकुशाशीतिर्बिभ्राणाख्यानभूषिता चारुगौरांगी निगदिता।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु श्रीरिहादितिसंज्ञिका।[8] भारतीयपरम्परायामियं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजिता।

32. दितिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि अदितितः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामनेत्रस्थिता दैत्यमाता दितिः। इयं शुभांगी द्विभुजा शूलपट्टिशधारिणी देवी श्यामलप्रभायुता खड्गधारिणी शूलधारिणी वृषासना चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु – दितिरत्रोच्यते शर्वः शूलभृद् वृषभध्वजः।[10] भारतीयपरम्परायामियं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजिता।

33. आपः – वास्तुपदमण्डले ईशानकोणे शिखितः अधःस्थितकोणे वास्तोः मुखस्थितः आपो देवः। अयं वरदः शिवः पवित्रः मंगलावरः नीलवर्णः पीतवस्त्रयुतः पद्मभूषणः

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 28
2. समरांगणसूत्रधार 14/26
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 29
4. समरांगणसूत्रधार 14/26
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 30
6. समरांगणसूत्रधार 14/26
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 31
8. समरांगणसूत्रधार 14/26
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 32
10. समरांगणसूत्रधार 14/27

अक्षाब्जपाशपात्रधरः कथितः।[1] समरांगणसूत्रधारे तु हिमवानाप इत्युक्तः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

34. सावित्रः– वास्तुपदमण्डले आग्नेयकोणे वायुतः अधःस्थितकोणे वास्तोः दक्षिण–हस्तस्थितः सावित्रदेवः। अयम् अन्धकारनाशकः द्विभुजः पद्मगौरः पद्मासनस्थितः नित्यं वेदपाठरतः कथितः।[3] समराङ्गणसूत्रधारे तु वेदमाता सावित्र उच्यते।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

35. जयः– वास्तुपदमण्डले नैर्ऋत्यकोणे पितृस्थानतः ऊर्ध्वस्थितकोणे वास्तोः मेढ्रस्थितः जयः। अयं यष्टिधारकः वज्रधरः महोग्रः अतुलविक्रमः पीतवर्णः गजारूढश्च कथितः।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु जयाभिधस्तु वज्रीति।[6] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

36. रुद्रः– वास्तुपदमण्डले वायव्यकोणे रोगस्थानतः ऊर्ध्वस्थितकोणे वास्तोः वामहस्ततलस्थितः रुद्रः। अयं सर्वदा शमर्थात् कल्याणं करोति अतः शङ्करः। एषः विभुः उमाधिष्ठितवामांगः वरदाभयहस्तकः जटागंगाधरः सौम्यः कर्पूराद्रिसमप्रभः गोस्थितः जटी यक्षः त्र्यक्षः अरुग् वराभयसूत्रधृक् शुभ्रः चर्मवस्त्रधरश्च कथितः।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु रुद्रस्तूक्तो महेश्वरः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

37. अर्यमा– वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नपूर्वदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणस्तनस्थाने स्थितः अर्यमा। एषः स्वभार्यासंज्ञासहितं भद्रं करोति। अयं अर्जुनवर्णः दीप्तिमान् रथवाहनः सुपद्ममाली खट्वाङ्गी चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु आदित्यस्त्वर्यमा।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

38. सविता– वास्तुपदमण्डलस्य अर्यमातः दक्षिणं प्रति आग्नेयकोणे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणहस्तस्थाने स्थितः सवितादेवः। एषः सवितृमण्डलसंस्थः सप्ताश्ववाहनयुतः पङ्कजधरः कर्पूरकुण्डलविधारकः सौख्यप्रदो देवः। अयं सविता विश्वजनिता द्विबाहुः अरुणछवियुतः रथगामी पद्मपाणिश्च वर्तते।[11] समराङ्गणसूत्रधारे तु देवी गंगात्र विद्वद्भिः सवितेति प्रकीर्तिता।[12]

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 33
2. समरांगणसूत्रधार 14/27
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 34
4. समरांगणसूत्रधार 14/28
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 35
6. समरांगणसूत्रधार 14/29
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 36
8. समरांगणसूत्रधार 14/30
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 37
10. समरांगणसूत्रधार 14/28
11. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 38
12. समरांगणसूत्रधार 14/28

भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

39. विवस्वान् – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नदक्षिणदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणक्रोड–भागगते स्थितः विवस्वान्देवः। एषः त्रिगुणात्मकः स्वर्णमयरथारूढः तमोनाशकः धृतचक्रपद्मः द्विभुजः शोणद्युतिः चण्डः पंकजासनः कर्मसाक्षी रथी च वर्णितो वर्तते। समरांगणसूत्रधारे तु मृत्युः शरीरहर्तासौ विवस्वानिति स स्मृतः।[1] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

40. विबुधाधिपः – वास्तुपुरुषस्य दक्षस्तनाश्रितः विबुधाधिपः वास्तुमण्डले विवस्वतः उत्तरं प्रति नैर्ऋत्यकोणे अवस्थितः। अयं गजारूढः अप्सरोभिः विवीज्यमानः सहस्राक्षः पीतांगः वज्रोत्पलकरः श्रीमान् चास्ति।[2] समराङ्गणसूत्रधारे तु स्यादिन्द्रो बलवान् हरि इति कथितः।[3] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

41. मित्रः – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नपश्चिमदिशि वास्तुपुरुषस्य उदरस्थितः वामपाण्यंगुलिस्थितश्च विवस्वान्देवः। अपि चायं एषः तमोशान्तकः हलरत्नाब्जवज्रध्वजयुक्तहस्तः ऊर्ध्वभागे श्यामः अर्धसितस्वरूपः यथा मनःस्थः सिंहस्थः वर्तते।[4] समराङ्गणसूत्रधारे तु मित्रो हलधरो माली इति भणितः।[5] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

42. राजयक्ष्मा – वास्तुपुरुषस्य वामहस्तस्थः वास्तोर्मेढ्रसमाश्रितश्च राजयक्ष्मा वास्तुमण्डले मित्राद् उत्तरं प्रति वायव्यकोणे अवस्थितः। अयं नानाव्याधिसमाकीर्णः रोगैश्च परिशोभितश्चास्ति। एषः वामहस्तेन वरदः दक्षिणहस्तेन चाभयप्रदो वर्तते। अयं वरशक्तिधरः ब्रह्मचर्यवान् मयूरवाहनः नीलांगश्च।[6] समरांगणसूत्रधारे तु राजयक्ष्मा गुहः प्रोक्तः।[7] भारतीयपरम्परायामयं अशुभदेवरूपे पूजितः।

43. पृथ्वीधरः – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नोत्तरदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणहस्तांगुलिस्थः पृथिवीधरदेवः। एषः जगतीतलस्थः आधारभूतः गृहे सुखप्रदः सहस्रवदनः श्रीमान् शंखचक्राक्षकुम्भभृत् नीलवर्णश्च वर्तते।[8] समराङ्गणसूत्रधारे तु क्षितिध्रोऽनन्त उच्यते इति भणितः।[9] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

44. आपवत्सः – वास्तुपुरुषस्य वक्षसि संस्थितः आपवत्सः। वास्तुमण्डले पृथिवीधरतः

---

1. समरांगणसूत्रधार 14/28
2. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 40
3. समरांगणसूत्रधार 14/29
4. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 41
5. समरांगणसूत्रधार 14/30
6. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 42
7. समरांगणसूत्रधार 14/30
8. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 43
9. समरांगणसूत्रधार 14/30

पूर्वं प्रति ईशानकोणे अयमवस्थितः। एषः कूर्मासनस्थः वरप्रदः कुम्भहस्तः महातेजो द्विभुजः सिंहवाहनः वरपाशधरो गौरवर्णश्च वर्णितः।[1] समराङ्गणसूत्रधारे तु आपवत्स उमा स्मृतेति निगदितः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

45. ब्रह्मा – ब्रह्मा वास्तुपुरुषस्य हृदये संस्थितः। अस्यापर नाम **विश्वकर्मा** अप्यस्ति। अयं ज्ञानस्य प्रतीकः, परमशान्तिरूपः, वेदेषु निहितज्ञानेन संसारं तेजयुक्तं करोति। कोटिसूर्याणां प्रकाशेन युक्तोऽयं देवः लोकपितामहरूपे सुप्रतिष्ठितोऽस्ति। अयं देवः श्मश्रुयुक्तः हंससमारूढः, चतुर्मुखः, चतुर्बाहुः, चतुर्वेदसमन्वितः, पुस्तक–अक्षमाला–स्रुव–कमण्डलून् संधार्य, अरुणशरीरः, लम्बोदरश्चास्ति। अयं वास्तुचक्रे सर्वाधिकपदेषु स्थितो भवति। परन्तु अस्य पदेषु किमपि निर्माणकार्यं शुभदं न भवति। अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समरांगणसूत्रधारे ब्रह्मणः निघण्टु एवमेव भणितोऽस्ति –

मध्ये य एव देवानां स्थितो ब्रह्माब्जसम्भवः।
स सहस्राननोऽचिन्त्यविभवो जगतां प्रभुः॥[3]

अनेन प्रकारेण देवानां शुभाशुभं सामान्यतः तेषां गुणकर्मानुसारेण ज्ञायते परन्तु **'स्तुतिः कस्मै न रोचते'** इत्यनुसारेण एते पञ्चचत्वारिंशद्देवाः पूजया प्रसन्नाः शुभदाः भवन्ति। अपि च यदि देवानां प्रकृतिविरुद्धं यदि तेषु पदेषु निर्माणादिकं क्रियते तदा ते रुष्टाः अशुभा अपि भवितुमर्हन्ति। अतः शास्त्रनिर्देशानुसारेणैव वास्तुपदस्थदेवानां प्रकृत्यनुरूपमेव निर्माणं शुभदं भवतीति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 44
2. समराङ्गणसूत्रधार 14/27
3. समरांगणसूत्रधार 14/13

दानवानां विश्वकर्मा मयासुरः

डॉ अव्यक्त रैणा

दानवराजमयः वास्तुशास्त्रस्य अप्रतिमः विद्वान् आसीत्। वास्तुशास्त्रस्य अष्टादशप्रवर्तकेषु अस्य नामाल्लेखः प्राप्यते।[1] अस्य वास्तुकलायां महत्वपूर्णावदानं वर्तते। भारतस्य दक्षिणभ. ागे प्रसिद्धद्राविडशैल्याः अयं प्रवर्तकः स्वीक्रियते विद्वद्भिः। अयं ज्योतिषशास्त्रस्यापि महान् विद्वान् आसीत्। सूर्यवरप्रसादाद् अनेन सूर्यसिद्धान्तरूपे ज्योतिषस्य अद्भुतं रहस्यमयं ज्ञानं सम्प्राप्तम्। अस्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु वर्णनं चोपलभ्यते तदाधारीकृत्य अत्र अस्य परिचयः कृतित्वञ्च प्रस्तूयते।

आचार्य मयस्य जन्मादिविवरणम्-

भारतीयज्ञानविज्ञानपरम्परानुसारं मयस्य उत्पत्तिः ब्रह्मणः विश्ववित् संज्ञकमुखात् अभवत्।[2] अपरमतानुसारेण मयासुरः दनुकश्यपयोः पुत्रः नमुचिदैत्यस्य भ्राता आसीत्।[3] मत्स्य-पुराणेऽपि दितिपुत्रनाम्ना मयस्य चर्चा प्राप्यते यथा-

मयो नाम दितेः पुत्रस्त्रिनेत्रः कलहप्रियः।[4]

सूर्यसिद्धान्ते सत्ययुगस्यान्ते अस्य कालः स्वीकृतः दृश्यते। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते -

अल्पावशिष्टे तु कृते मयोनाम महासुरः।[5]

भारतीयकालगणनानुसारं प्रायः 2165120 वर्षं पूर्वं उपर्युक्त वर्णानुसारेण अस्यकालः अनुमीयते। आधुनिकविद्वांसः वर्तमानसूर्यसिद्धान्तस्य समयः वराहमिहिरकालस्यानन्तरं कथयन्ति। यतोहि पञ्चसिद्धान्तिकायां वराहोक्तग्रहाणां भगणादिमानं सम्प्रत्युपलब्धसूर्यसिद्धान्तोक्तमानेन भिन्नं वर्तते। अनेन उपर्युक्तमानं किञ्चित् संदिग्धं प्रतीयते परन्तु रामायणग्रन्थे मयस्य नामोल्लेखनेन उपर्युक्तकथनस्य पुष्टिरपि जाता यथा-

मयो नाम महातेजो मायावी वानरर्षभ।
तेनेदं निर्मित सर्वं मायया काञ्चनं वनम्।।
पुरादानवमुख्यानां विश्वकर्म बभूव ह।

---

1 मत्स्यपुराण-252/2-4

2 वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथनम्- पृष्ठ-8

3 महाभारत-2/2/39

4 मत्यपुराणम्-133/7

5 सू.सि. मध्यमा.-2

येनेदं काञ्चनः दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम्।।[1]

वाल्मीकिरामायणस्य कालः भारतीयपरम्परागतमनुसारेण त्रेतायुगे अर्थात् प्रायः 800000 वर्ष पूर्वं अभवत्। महर्षिवाल्मीकि रामस्य समकालिक इति केचन विद्वांसः मन्यन्ते। परम्परागतश्रुत्यनुसारेण वेदानां रचानान्तरं रामायणस्य रचनाऽभवत्। ग्रन्थेऽस्मिन् 500 ईशाब्दपूर्वपर्यन्तमनेके क्षेपकाः प्रक्षिप्ताः। मैक्डोनल-विद्यालंकार-चन्द्रशेखरपाण्डेय कालीप्रसादजायसवाल-याकोवी-कीथप्रभृतीनां विदुषां मतानां समीक्षणेन कथयितुं शक्यते यत् रामायणस्य वर्तमानोपलब्धसंस्करणम् 500 ईशाब्दपूर्वस्यास्ति। तस्य पुनः संस्करणानि 200 ईशाब्दपूर्वपर्यन्तम् (सातवाहनयुगपर्यन्तम्) अभवन् किन्तु ग्रन्थस्यास्य सम्प्रत्युलब्धस्वरूपं तु 500 ईशाब्दपूर्वात् प्रागेव स्थिरमभवत्। रामायणस्य रचना महाभारतात्प्रागेवाभवदिति प्रायः सर्वेषां विदुषां सम्मतिः। रामायणस्य किष्किन्धाकाण्डे मनुनोक्तचारित्रिकोपदेशस्य वर्णनं दृश्यते। अनेन मनुस्मृत्यनन्तरं रामायणस्य रचनाऽभवदिति प्रतीयते।[2] अनेन रामायणकालतः पूर्वमेव अस्य जन्मसिद्धत्वात् मयस्य प्राचीनता सिद्धयति।

मयस्य परिवारः- पूर्वमेव उल्लिखितमस्ति यद् ब्रह्मणः मुखादेव मयस्य जन्म अभवत्। तदा ब्रह्मणः आदेशात् ग्रामनगरादीनां निर्माणार्थं विश्वकर्मादयः ब्रह्मणः मानसपुत्राः स्थपत्यादीनां चतुर्णां पुत्राणाम् उत्पत्तिम् अकुर्वन्। तत्र मयस्य पुत्रः सूत्रग्राहीति प्रकीर्तितः।[3]

द्वितीयमतानुसारेण मयः दितेः पुत्र आसीत्।[4] मानसारानुसारेण मयस्य विवाहः सुरेन्द्रतनयया सह जातः। स्वर्गस्य अप्सरा हेमा तस्य पत्नी आसीत्। यया अनेन मायाभि-दुन्दुभिसंज्ञंकौ पुत्रौ मन्दोदरी नाम्नी च कन्या प्राप्ता। वह्निपुराणनुसारेण अस्य सप्तमहाबलाः सन्ततयः आसन्-

मयस्य जाता हेमायां पुत्राः सप्त महाबलाः।
मायावी दुन्दुभिश्चैव वृषश्च महिषस्तथा।
बालिका बज्रकन्या च कन्या मन्दोदरी तथा।।[5]

मन्दोदर्याः विवाह रावणेन सह संजातः। अतः मयासुरा रावणस्यश्वसुरः आसीत्[6]। अनेन ब्रह्मणः प्रीत्यर्थं तपः कृतः। अनेन संतुष्टो भूत्वा पितामहः वरदानरूपे सर्वं औषनसं धनं च दत्तवान् अर्थात् अनेन पितामहात् शिल्पज्ञानं वैभवञ्च प्राप्तम्।[7] साम्प्रतिक मेरठनगरं मयस्य राष्ट्रमासीदतः **मयराष्ट्र** नाम्नापि केचन जनाः मेरठनगरं स्वीकुर्वन्ति।

---

1 वाल्मीकिरामायण-किष्किन्धाकाण्ड-51/10-11

2 उद्धृत- शास्त्रमीमांसा- प्रो वेदनारायण चौधरी अभिनन्दन विशेषाङ्क सन् 2013 पृष्ठ 324

3 वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथन पृष्ठ -9

4 मत्यपुराण-133/7

5 शब्दकल्पदुम

6 वाल्मीकिरामायण-उत्तरकाण्ड 12

7 वाल्मीकिरामायण- किष्किन्धाकाण्ड

मयस्य स्थानादिकम् – सूर्यसिद्धान्तस्य एकस्मिन् टीकारहितपुस्तके प्रथमाधिकारे सप्तमश्लोकरूपे कश्चिद् विशिष्टः उल्लेखः प्राप्यते।

न मे तेजः सह कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति॥
तस्माद् एवं स्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते।
रोमके नगरे ब्रह्मशापान्म्लेच्छावतारधृक्॥[1]

अत्र दीक्षितमहाभागाः सप्तमश्लोकस्य पूर्वापरसन्दर्भेण विचारं कृत्वा एनं श्लोकम् असंगतं स्वीकुर्वन्ति। अनेन प्रकारेण वेबरमहोदयस्य कथनमस्ति यद् इजिप्टदेशस्य राज्ञः तालमयस इत्यस्य नाम भारतस्य उत्खननेन सम्प्राप्तलेखेषु 'तुरुमय' सम्प्राप्यते। अतः असुरः मयः तुरुमयस्य स्वरूपान्तरं भवेत्। अनेन आलमाजेष्ट ग्रन्थस्य कर्ता तालमी एव मयो भवेत्[2] परन्तु तालमीमहाभागस्य ग्रन्थस्य मूलसूर्यसिद्धान्तेन साकं न अस्ति कश्चित् सम्बन्धः। पं. सुधाकरद्विवेदीमहाभागाः पञ्चसिद्धान्तिकायाः प्रकाशिकाटीकायां सूर्यारुणसंवादे स्पष्टं कुर्वन्ति यद् गर्गादिमुनिभ्यः यज्ज्ञानं महर्षिणा पुलिशेन भणितं स पौलिशसिद्धान्तः , ब्रह्मशापवशाद् रोमकनगरे समुत्पन्नः सूर्यः यज्ज्ञानं रोमकनगरस्य यवनान् दत्तवान् स रोमकसिद्धान्तः, वसिष्ठेन यज्ज्ञानं पराशराय दत्तं स वसिष्ठसिद्धान्तः। सूर्येण (सूर्यांशपुरुषेण) यज्ज्ञानं मयदैत्याय भणितं स सूर्यसिद्धान्तः। यञ्च ब्रह्मा वसिष्ठाय दत्तवान् स पैतामहः सिद्धान्तः[3]। उपर्युक्तकथनेन विदितमस्ति यद् रोमकसौरसिद्धान्तयोः उपदेष्टा सूर्य एव अस्ति। रोमकसिद्धान्ते मयस्य उल्लेखो न विद्यते यद्यपि सूर्यसिद्धान्ते अस्ति एव।

पाश्चात्यविद्वांसः मयं यवनदेशस्य (यूनान देश) निवासी स्वीकुर्वन्ति। केचित् भारतीयविद्वांसः मयदैत्यं असीरीया अथवा बैबीलोनिया इत्यस्य निवासी आमनन्ति[4] महावीरप्रसादश्रीवास्तवमहाभागस्य मान्यता वर्तते यन्मय इति कस्यापि पुरुषस्य संज्ञा नास्ति अपितु एकस्याः जातेः नामासीत्। इयं जातिः शिल्पे यन्त्रविद्यायां च बहुकुशलासीत्। मयस्य चर्चा महाभारते सभाभवननिर्माणप्रसङ्गे दृश्यते। रामायणेऽपि मयस्य चर्चास्ति। अस्याः जातेः सम्भवतः केचन जना भारतवर्षतः मैक्सिकोदेशपर्यन्तं गतवन्तः, यत्र ते मयसभ्यतायाः स्थापनं कृतवन्तः। यस्याः अनेकानि चिह्नानि विशेषतः ज्योतिषसम्बन्धितत्त्वानि सम्प्रत्यपि प्राप्यन्ते।[5]

हिन्दू–अमेरिका–प्रभृतिदेशानां ग्रन्थेषु माया अथवा मयसभ्यतायाः विस्तृत उल्लेखः प्राप्यते।[6] प्रो

---

1 पुणेस्थस्य आनन्द–आश्रमे सूर्यसिद्धान्तसंख्या 2909
उद्धृतम्–भारतीयज्योतिष (दीक्षित–पृष्ठ 247–248)

2 भारतीयज्योतिष(दीक्षित) पृष्ठ 15

3 सू. सि. विज्ञानभाष्य– पृष्ठ–4

4 मयतम्–II श्रीकृष्ण जुगनू–मय और इनका मत पृष्ठ 199

5 सूर्यसिद्धान्त विज्ञानभाष्य पृष्ठ 5–6

6 मयमतम् II श्रीकृष्ण जुगनू पृष्ठ XII

केशवरामकांशीरामशास्त्रीमहाभागानां मते मयः अस्य युगस्य एकः महान शिल्पी स्थपतिश्चासीत्। मध्य-अमेरीकायाः प्रदेशेषु समागता (साम्प्रतिक युकातान् तस्य निम्नभूभागे ग्वाटेमाला धेन्दुरास, एल. साल्वादारे प्रभृतिप्रदेशेषु) मया-नाम्नी एका अमेरिकन-आगन्तुक-प्रजा आसीत्। यया निर्मितं भव्यं स्थापत्यं तस्याः उच्चस्थापत्यविद्यायाः परिचयं ददाति। एतेषां स्थापत्यानां कालः प्रायः ईशापूर्वद्वितीयशताब्दी अस्ति। यदि महाभारतीयमयः ऐतिहासिकजनः अस्ति। तदा तस्य कालः ईशापूर्व द्वितीय-तृतीयसहस्राब्दयोः मध्ये सम्भाव्यते अर्थात् अमेरिकादेशे मायानां ज्ञातसमयतः बहुपूर्वं मयस्य कालः। स्थपतिमयस्य स्थापत्यप्रियमायानां च मध्ये कश्चित् सम्बन्धः? इति प्रश्नस्य अस्माकं समक्षे उत्तरं नास्ति। यतोहि-अमेरिकी- आदिमप्रजातीनां निवासस्य किमपि प्राचीनसाहित्यं मुखपरम्परयामपि उपलब्धं नास्ति। तेषां पार्श्वे वर्णलिपिः नासीत् केवलं चित्रलिपिः विकसितः आसीत्। अस्मात् कारणात् तेषां प्रामाणिक- इतिहासः सुलभो नास्ति। यत् किञ्चित् प्राप्यते तत् पारम्परिकजनश्रुतिरेव अस्ति। केवल वक्तुं शक्नुमः यत् महाभारतीयमयः बहितः समागतः कश्चिद् दानवः आसीत्। अथवा केवलं वक्तुं प्रभवामः यद् भारतीय- उच्चारणं मयः अस्ति अमेरिकादेशे उच्चारणं माया।[1] परन्तु महावीरप्रसाद-श्रीवास्तवमहाभागाः कथयन्ति यत् मयासुरः विदेशी नासीत्। भारतस्य निवासीभूत्वा तेन यज्ज्ञानं प्राप्तं तस्य ज्ञानम् ऋषिभिः अनन्तरं तेनैव सम्प्राप्तम्।[2]

मयस्य विशिष्टग्रन्थाः

मयस्य वास्तुशास्त्रे प्रमुखा रचना मयमतम् इति नामकः ग्रन्थः अस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे प्रायः वास्तुशास्त्रस्य प्रमुखानां सिद्धान्तानां संग्रहो वर्तते। एतदतिरिच्य मयकृत् आसुरीविद्या-मयतंत्र-प्रतिष्ठातन्त्र-मयशास्त्र-मयवास्तु-मयशिल्प-मयप्रतिष्ठातत्त्व-मयशिल्पषटिका-मयसंग्रह-मयदीपिकाप्रभृतीनां[3] नैकानां ग्रन्थानां चर्चा तु प्राप्यते परन्तु सम्प्रति ते समुपलब्धाः न सन्ति।

एवमेव ज्योतिषविषये सूर्यसिद्धान्तनामको ग्रन्थः समुपलभ्यते, यस्मिन् मयासुरः ज्योतिषशास्त्रस्य जिज्ञासुरूपे निगदितः। तत्र सूर्यांशपुरुषः ज्ञानोपदेष्टा अस्ति। अतः मयेन सूर्य-सिद्धान्तः न लिखितः इति स्पष्टो जातः। तथापि मयेन सम्बन्धत्वात् सूर्यसिद्धान्तः मयस्य कृति इति स्वीक्रियते विद्वद्भिः। केषुचिद् ग्रन्थेषु मयोक्तमयसंहितायाः वर्णनमपि मिलति।[4] मयपरम्परायाः मुख्यग्रन्थेषु मयमतम्, मानसारः, चित्रलक्षणम्, कश्यपशिल्पः, एकलाधिकारः, वास्तुपुरुषविधानम्, प्रयोगमञ्जरी, प्रयोगपरिजातः, शिल्परत्नम्, शिल्पसंग्रहः, शुक्रनीति, ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः, हरिभक्तिविलासः, मठ्प्रतिष्ठा, मनुष्यालयचन्द्रिका, चतुवर्गचिन्तामणिः

---

1 उद्धृतम्-मयमतम् II श्रीकृष्णजुगनु पृष्ठ XIV

2 सू. सि. विज्ञानभाष्य भूमिका- पृष्ठ-22

3 मयमतम्-II सम्पादक श्री कृष्ण जुगनु

4 वास्तुशास्त्रविमर्श-4 पृष्ठ- 13

प्रभृतयः ग्रन्थाः सन्ति।[1]

मयस्य वैशिष्ट्यम्

वास्तुविद्यानिष्णातः आचार्यमयः द्राविड़परम्परायाः उद्भावकोऽस्ति। यथा विश्वकर्मा देवतानां शिल्पी आसीत् तथैव मयः दानवानाम्। यथोक्तं वाल्मीकिरामायणे–

पुरा-दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह।[2]

महाभारतस्य एकस्मिन् प्रसङ्गे मयः स्वयमेव उद्घोषयति–

अहं हि विश्वकर्मा दानवानां महाकविः।[3]

अत्र स्वयमेव विश्वकर्मणां साकं तुलनया विश्वकर्मापेक्षया अस्य किञ्चित् न्यूनत्वं सिद्धयति। मयमतेऽपि सूत्रग्राह्यादीनां कृते स्थपति विश्वकर्मा एव इति वचनेनापि विश्वकर्मणः श्रेष्ठत्वम् अनुमीयते। तथापि मयः मायाविद्यायाः अप्रतिमज्ञाता कुशलः प्रोक्ता चासीत्।[4] महाभारतस्य सभापर्वणि मयनिर्मितानां पाण्डवानां सभाभवनानां, वनस्य[5] स्वर्णभवनस्य[6] मायानगरस्य[7] च अद्भुतं वर्णनं दृश्यते। एवमेव मत्स्यपुराणे त्रिपुरदुर्गस्य वर्णनं प्राप्यते –**त्रिपुरं येन तद्दुर्गं कृतं पाण्डुरगोपुरम्**[8]**।** एवमेव स्कन्धपुराणे[9] लिङ्गपुराणे[10] चापि त्रिपुरवधप्रसङ्गे मयस्य चर्चा प्राप्यते। मत्स्यपुराणे विस्तृतरूपेण त्रिपुरस्य चर्चा दरीदृश्यते। भागवतपुराणे अस्य निर्मितस्य वैहायस्विमानस्य चर्चा दृश्यते।[11]एवमेव वाल्मीकिरामायणस्य सुन्दरकाण्डे पुष्पकविमानस्य वर्णनं दरीदृश्यते[12]। अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रस्य प्रायोगिककार्ये मयस्य महत्वपूर्णं योगदानं परिलक्ष्यते।

समीक्षणम्–

मयस्य विषये यत् किञ्चिदुपलभ्यते तत् सर्वं अस्ति न वेति सन्देहास्पदः। तथापि मयः ऐतिहासिकः पुरुषः आसीत् इति स्पष्टमेव। यतोहि रामायणप्रभृतिप्राचीनग्रन्थेषु

---

1 वास्तुशास्त्रविमर्श पुष्प 4 पृष्ठ 15

2 वा. रा. कि.का.–51/11

3 महाभारत–सभापर्व–1–5

4 वा.रा. कि.का–51–10–11

5 महाभारतसभापर्व–15/9–12

6 महाभारतसभापर्व–51–12

7 महाभारतसभापर्व–12–90

8 मत्स्यपुराण–133/7

9 आवन्त्य–रेवाखण्ड–43

10 लिंङ्गपुराण–73–74

11 भागवत पुराण–8/10/16–17

12 उद्धृत वा. शा वि पुष्प 4 पृ 13

अस्य चर्चा समुपलभ्यते। रामायणे उल्लिखितस्य रामसेतोः कालः तिरुचिरापल्लीस्थितस्य भारतीदास विश्वविधान संस्थया 2003 ईशवीवर्षस्य सर्वेक्षणानुसारं केवलं 3500 वर्षमितः अस्ति।[1] रामसेतोः उल्लेखः वाल्मीकिरामायणे अपि सम्प्राप्यते अतः न्यूनतमं प्रायः 3500 वर्ष पूर्वं तु मयस्यापि कालः सम्भाव्यते, यतः पौराणिकमतानुसारेण तु मयः रावणस्य श्वसुरः आसीत्। मयस्य स्थानादिविषयेऽपि मतवैभिन्न्यं दृश्यते। केचिद् विद्वांसः एनं वैदेशिकं स्वीकुर्वन्ति तथापि अस्य स्थितिः बृहत्तरभारत एव सम्भवति। मयस्तु ज्योतिषशास्त्रस्य वास्तुशास्त्रस्य च ज्ञाता आसीत्। ज्योतिषशास्त्रस्य अष्टादशप्रवर्तकेषु यद्यपि अस्य नामोल्लेखः न प्राप्यते तथापि यवनः इति शब्देन अस्य नामोल्लेखस्य सम्भावना अपि वर्तते। यतो हि पाश्चात्यविद्वांसः मयं, यवनं स्वीकुर्वन्ति। परन्तु मय एव यवनः इति सन्देहास्पदः। कश्चिदपि अन्यः यवनः भवितुं शक्नोति। परन्तु वास्तुशास्त्रस्य अष्टादशप्रर्वतकेषु मत्स्यपुराणे स्पष्टरूपेणास्य नामोल्लेखः। तत्र बृहत्संहितायां ज्योतिषशास्त्रस्य प्रवर्तकैः गर्गपाराशरकाश्यपैः सह मयस्य शिष्यसंघानां चर्चा प्राप्यते यथा–

कनकशिलाचयविवरजतरुकुसुमाससूङ्ग मधुकरानुरुते
बहुविहगलह सुरयुवति गीत मन्द्र स्वनोपवने।
सुनिलयशिखरे बृहस्पतिर्नारदाय यानाह।
गर्ग-पराशर-कश्यप- मयाश्च यान् शिष्यसङ्घेभ्यः।[2]

अनेन स्पष्टं यत् मयाचार्यस्य गुरुकुलपरम्परा सुदृढासीत् यस्मिन् वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिशास्त्रस्य च विशेषरूपेण अध्ययनं भवति स्म।

वास्तुशास्त्रस्य ज्ञातारूपे अनेन निर्मितानि अनेकानि भवनानि आसन् येषामुल्लेखः रामायण–महाभारत–पुराणादिषु सम्प्राप्यते। अनेन अनेकानां भवनानाम् उपवनानां वाटिकानां सभा–भवनदीनां निर्माण तु कृतं परन्तु स्वयमेव वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तोपरि ग्रन्थो लिखितो न वा? इति महाप्रश्नः। सम्प्रति केवलं मयमतम् इति ग्रन्थः समुलभ्यते यस्मिन् अस्य मतानां संग्रहो विद्यते इति ग्रन्थावलोकनेन स्पष्टं भवति। यथा ग्रन्थस्य प्रयोजनविषये तत्र उल्लिखितम्–

तैतिलानां मनुष्याणां वस्त्वादीनां सुखोदयम्।
प्राज्ञो मुर्निमयः कर्ता सर्वेषां वस्तुलक्षणम्[3]

अपि च तत्रैव –

पितामहाद्यैरमरैर्मुनीश्वरैर्यथा यथोक्तं सकलं मयेन तत्।

---

1 रामसेतु – विकिपिडिया

2 बृहत्संहिता–24–1–2

3 मयमतम्– 1/2

तथा तथोक्तं सुधियां दिवौकसां नृणां च युक्त्योखिलवस्तुलक्षणम्।।[1]

अपि च मयस्य मतानि अस्मिन् सङ्ग्रहितानि इति दृष्ट्या ग्रन्थस्य नाम 'मयमतम्' इति सम्भाव्यते। सम्भवतः मयस्य शिष्यपरम्परायां केनचित् मयस्य सिद्धान्तानां नियमानाञ्च परिशीलनं कृत्वा ग्रन्थोऽयं विरचितः। अस्य कथनस्य प्रबला सम्भावना वर्तते। वास्तुशास्त्रस्य अन्यानां ग्रन्थानामपि अयं प्रणेता इत्यस्य चर्चा केषुचित ग्रन्थेषु प्राप्यते। तथापि सम्प्रति तेषां ग्रन्थानां उपलब्धिर्न भवति। ज्योतिषशास्त्रस्य महान् ग्रन्थः सूर्यसिद्धान्तो वर्तते। अनेन सह मयस्य सम्बन्धः प्रश्नकर्तृरूपे वर्तते। पुनश्च तत्र कथानकरूपे सूर्यमयासुरसंवादः प्राप्यते अतः केनापि ऋषिणा ग्रन्थस्यास्य संकलनं कृत्वा प्रकाशितम् इति स्फुटमेव। अनेनापि सूर्यसिद्धान्तस्य कर्ता मय नास्तीति स्पष्टमेव। यदि वयं सूर्यसिद्धान्त-मयमतयोः समीक्षणं कुर्मः तथापि भाषाकौशल-लेखन- शैलीदृष्ट्या च उभयोः मध्ये वैभिन्न्यं दरीदृश्यते। अतः अनयोः रचनाकारयोः मध्ये पार्थक्यं स्फुटमेव प्रतिभाति। सूर्यसिद्धान्ते कुत्रापि मयमतग्रन्थस्य चर्चा न अस्ति एवमेव मयमतेऽपि सूर्यसिद्धान्तस्य चर्चा न दृश्यते। विशेषरूपेण मयमतस्य दिक्परिच्छेदे अध्याये सिद्धान्तोक्तप्रकारेण दिक्साधनस्य विधिस्तु कथितः परन्तु तत्र सूर्यसिद्धान्तस्य न तु चर्चा अस्ति न तु तस्य प्रकारः कथितः। अपि च तत्र मयमते अपच्छायाविषये चर्चास्ति परन्तु सूर्यसिद्धान्ते अस्य चर्चा न मिलति। अतः अनयोः रचनाकारौ भिन्नौ एव इति प्रतीयते। वस्तुतः मयस्य शिष्यपरम्परायां केनचिद् आचार्येण ज्योतिषज्ञेन सूर्यसिद्धान्तस्य संग्रहः कृतः केनचिच्च वास्तुशास्त्रज्ञेन मयमतग्रन्थस्य। यथा सम्प्रति शङ्कराचार्यस्य शिष्यपरम्परायाम् अनेके शिष्याः सन्ति तथैव मयस्य शिष्यपरम्परायपि अनेके मयाः अभवन् इति सम्भाव्यते अर्थात् शनैः शनैः मयः इति पदवी जाता। मय वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिषशास्त्रस्य च महान् गुरुः आसीदिति निसंशयः। अस्य शिष्यपरम्परापि ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः संवाहिकासीदिति।

गणितवास्तुशास्त्रयोः मयासुरस्य योगदानम् -

तत्र ज्योतिषशास्त्रे मयासुरेण सम्बद्धः सूर्यसिद्धान्तनामको ग्रन्थः प्राप्यते। ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रस्य मूर्ध्नि संस्थितः। अस्मिन् ग्रन्थे ज्योतिषशास्त्रस्य वर्णनं प्राप्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य रहस्यमयं ज्ञानं तु अत्यन्तं प्राचीनं, तत्र केवलं युगभेदन किञ्चित् परिवर्तनं दृश्यते परन्तु शास्त्रस्य मूलसंकल्पना कदापि परिवर्तिता न भवति। यथोक्तं तत्र-

शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम्।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता।।
शास्त्रमाद्यं तदेवेतं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः।।[2]

तत्र कालस्य स्थूलसूक्ष्मभेदत्वेन कालस्य मूर्तामूर्तविभागयोः वर्णेनेन सह नवविधकालमानानि गदितानि सन्ति। अहर्गणेन ग्रहानयनस्य या भारतीयपद्धतिः वर्तते। सम्भवतः

---

1 मयमतम्-1/2

2 सू. सि. म. अ.-8-9

तस्य मूलं तु सूर्यसिद्धान्तः एव। सूर्यसिद्धान्ते दिग्देशकालसम्बन्धीनां त्रिप्रश्नानाम् उत्तराणि, सूर्यचन्द्रग्रहणयोः वैज्ञानिकविधिना साधनविधिः, ग्रहनक्षत्राणाम् उदयास्तविषयाः प्रभृतयः नैके विषयाः सुविस्तृतरूपेण प्रतिपादिताः सन्ति। अस्मिन् ग्रन्थे भूगोलाध्याये सृष्टिरुत्पत्तिपरिकल्पना भुवनकोशविमर्शः भूगोलस्य च वर्णनम् अनुसन्धानदृष्ट्या अत्यन्त महत्वपूर्णमस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे सिद्धान्तज्योतिषस्य प्रायः समस्त विषयाः निगदिताः सन्ति। सम्प्रति-उपलब्धसूर्यसिद्धान्ते अयनांशचर्चा अतिमहत्त्वपूर्णः, यत्र अयनांशस्य 27^0 दौलनात्मिका गतिः स्वीकृता दृश्यते। वस्तुतः मयस्य उपदेशान् संगृह्य केनचित् शिष्येन सूर्यसिद्धान्तः विरचितः। मध्ये- मध्ये कालक्रमेण अस्मिन् ग्रन्थे तस्य शिष्यपरम्परया प्रक्षिप्तांशाः संयोजिताः येन ग्रन्थोऽयं तत् तत् काले ग्रहगतिसाधने आधारभूतः ग्रन्थो जातः। वराहमिहिरेण पञ्चसिद्धान्तिकायां निगदितं-स्पष्टः सावित्रः।[1]अनेन ग्रन्थेन मयासुरस्य योगदानं च स्पष्टरूपेणावलोक्यते। सम्भवतः फलकथनदृष्ट्या मयसंहिता नामकग्रन्थोऽपि आसीत् यस्य प्रस्तोता प्रथम उपदेष्टा वा मय एव आसीत्। सम्प्रति ग्रन्थोऽयं न प्राप्यते।

वास्तुशास्त्रे मयस्य एका सुदृढा परम्परा दरीदृश्यते। अयं असुरजातेः महान शिल्पी आसीत्। अस्य विरचितानां नैकानां भवनानां, सभाभवनानां, वाटिकानां, नगराणां, विमानानाञ्च वर्णनं रामायणादिप्राचीनकाव्येषु सन्निहितं वर्तते। अयं मयासुरः द्राविड़शैल्याः प्रवर्तकोऽपि आसीत्। विश्वकर्मणः नागरशैल्याः प्रतिस्पर्धायां द्राविड़शैल्या अनेन प्रवर्तनं कृतम्। अतः अयं विश्वकर्मणः प्रतिद्वन्द्विरूपे भारतीयइतिहासे सुप्रतिष्ठितो जातः। अस्य मतानां सिद्धान्तानां नियमानां च संग्रहः 'मयमतम्' नामकग्रन्थे दरीदृश्यते। अस्मिन् ग्रन्थे वास्तुशास्त्रस्य नैकविधनिर्मितीनां वर्णनं प्राप्यते। वस्तुतः ग्रन्थस्यास्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु चर्चा सम्प्राप्यते। कर्मकाण्डाय यज्ञकुण्डादीनां निर्माणे, गोपुरे, द्वारे, भूमिपरीक्षणविषये च मयस्य सिद्धान्तैः शिल्पशास्त्रिनः परिचिताः सन्ति एव। हैमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिग्रन्थौ मयस्य सिद्धान्ताः नियमाश्च समुद्धृताः। कृत्यकल्पतरोः मातृकासु अपि ग्रन्थस्यास्य श्लोकाः लभ्यन्ते। राजशास्त्रीयनिबन्धग्रन्थेष्वपि मयस्य कथनानि सम्प्राप्यन्ते।[2] यतोहि ज्योतिषस्य संहितान्तर्गतं वास्तुशास्त्रस्य चर्चा प्राप्यते एवमेव वास्तुशास्त्रस्याङ्गभूतत्वेन ज्योतिषशास्त्रमित्यपि प्राप्यते। अनेन वास्तुज्योतिषशास्त्रयोः परस्परसम्बन्धः स्फुटः। ज्योतिषशास्त्रस्य ज्ञानं विना वास्तुशास्त्रे प्रवीणता भवितुं न अर्हति। एवमेव ज्योतिषेऽपि वास्तुशास्त्रस्य ज्ञानम् अपेक्षितं वर्तते एव। अस्मात् कारणात् मयासुरः ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः महान् ज्ञाता आसीदित्यत्र नास्ति आश्चर्यः। सूर्यसिद्धान्त-मयमतग्रन्थयोः ये सिद्धान्ताः सन्निहिताः सन्ति तेषां समीक्षणेन मयासुरस्य ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः महदवदानं स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते इति।

कालज्ञाने मयासुरस्य वैशिष्ट्यम् -

त्रिप्रश्नेषु दिग्देशकालेषु कालः अन्यतमो वर्तते। सूर्यसिद्धान्ते कालस्य भेदविषये

---

1 पञ्चसिद्धन्तिका- उद्धृतं भारतीय ज्योतिष(दीक्षित) पृष्ठ-211

2 मयमतम् (II) श्रीकृष्णजुगनू भूमिका - पृष्ठ-(XXIII)

निगदितमस्तित्यत् –

लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते।।[1]

तत्र अमूर्तकालस्य प्रवृत्तिः त्रुटितः स्वीकृता। आधुनिकदृष्ट्या तु त्रुटिमानं आधुनिकसेकेण्डमितकालस्य 3240000 भागतुल्यं भवति। तत्र मूर्तगणनायाः प्रारम्भः प्राणादितः कथितः। एकप्राणस्य मानं तु आधुनिक मतेन 4 सेकेण्डमितं भवति। ततोऽग्रे कालगणना–

6 प्राण= विनाड़ी (1पलम्)
60 विनाडिकाः (पलानि) = 1 नाड़ी (घटिका)
60 नाडिका = 1 नाक्षत्रम् अहोरात्रम् इत्यादयः

एवमेव तत्र सौरचान्द्र–सावन–नाक्षत्रमानानां सूक्ष्मतापूर्वकं वर्णनं कृत्वा दिव्य – पैत्र– गुरु– प्राजापत्य– ब्रह्ममानानामपि निरूपणं कृतम्। ततः अर्हगणसाधनं कृत्वा स्पष्टग्रहानयनं विहितम्। तत्र सूर्य–चन्द्रयोः स्पष्टगतिस्थितिवशात् मानवव्यवहारोपयोगिनां तिथ्यादिमानानां साधनं प्रदर्शितम्। त्रिप्रश्नाधिकारेऽपि नतकाल–लम्बनायन–दशमलग्नादीनि प्रतिपादितानि वर्तन्ते। ग्रहणाधिकारे सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणकालविमर्शः प्रदर्शितः। ग्रहयुतिकालः नक्षत्रग्रहयुतिकालः ग्रहाणाम् उदयास्तादिविचारः महापातकालसाधनविचारश्चेत्यादयः सूर्यसिद्धान्ते विशेषरूपेण निगदिताः सन्ति। एवमेव सङ्क्रान्तिज्ञानपुरस्सरं सङ्क्रान्तिपुण्यकालविचारः तत्र प्रदर्शितः। अतः कथयितुं शक्यते मानवजीवनपयोगिनः कालज्ञानस्य विचारः सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टरूपेण निगदितः। सूर्यसिद्धान्तस्य अवलोकेनेन मयासुरस्य कालज्ञानविषये योगदानं स्पष्टरूपेणैव परिलक्ष्यते।

---

1 सू. सि. म. अ.

अथ गृहप्रवेशः

प्रो. हरिहरत्रिवेदी

ॐ तिर्थिविष्णुस्तथा वारो नक्षत्रं विष्णुरेव च।
योगश्च करणं विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

<u>प्रतिज्ञासंकल्पः -</u> ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य तत्सदद्य श्रीब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे सप्तमवैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथमचरणे भूर्लोके जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशे .....प्रदेशे/नगरे/ग्रामे/क्षेत्रे अद्य .....नामसंवत्सरे .....मासे ..... पक्षे .....तिथौ.....नक्षत्रे .....योगे..... करणे .....वासरे .....राशिस्थिते श्रीसूर्ये.....राशिस्थिते श्रीचन्द्रे .....राशिस्थिते देवगुरौ, शेषेषु ग्रहेषु यथा-यथा स्थानस्थितेषु सत्सु एवं ग्रहगणगुणविशेषेण विशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ .....गोत्रः.....राशिः.....शर्माऽहं (वर्माऽहं, गुप्तोऽहं, दासोऽहं वा) ममात्मनः सपत्नीकस्य सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं, सर्वारिष्टनिवृत्तिपूर्वकं, धन-धान्य-पुत्र-पौत्रादि-आयुरारोग्य- ऐश्वर्यादिसमृद्ध्यर्थं, सर्वोपद्रवप्रशमनपूर्वकं सर्वविध सुखशान्त्यर्थञ्च, पुत्रपौत्रादिसहितस्य अस्मिन् नूतननिर्मिते गृहे चिरकालसुखेन निवासार्थं, सर्वसङ्कटनानाविधरोगादि-सर्वोपद्रवशान्ति- सम्पदायुरारोग्य-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-पुत्र पौत्राद्यभिवृद्धिपूर्वकं, सुवर्ण-रजत-ताम्र-त्रपु-सीस- कांस्य-लौह-पाषाणद्यष्टशल्यमेदिनीदोष -आयव्ययादि-अन्यथा भवने नानाविधहिंसादोषपरिहारद्वारा एतद्गृहक्षेत्र-अवच्छिन्न-भूम्यधि ष्ठित-देवतोपरोधजनित-उपसर्गनिवृत्तिपूर्वकं वास्तोः शुभता सिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, गृहप्रवेशनिमित्तां सग्रहमखां वास्तुशान्तिं गृहप्रवेशाख्यं कर्म च अहं करिष्ये।। तदङ्त्वेनादौ निर्विघ्नतया कार्यसिद्ध्यर्थं, श्रीगणेशाम्बिकयोः पूजनं, स्वस्तिपुण्याहवाचनं मातृकापूजनं, वसोर्धारापूजनम् आयुष्यमन्त्रजपं साङ्कल्पिकं नान्दीश्राद्धम् आचार्यादीनां ब्राह्मणानां च वरणं करिष्ये।

विशेषः - सति सम्भवे पौराणिकशान्तिकाध्याय-श्रीदुर्गासप्तशती-विष्णुसहस्रनामादिपा. ठकानां, श्रीगणेश-ग्रह-वास्तुप्रभृतिमन्त्रजापकानाञ्च सम्प्रदायागतानां वरणं कुर्यात्।

<u>गृहप्रवेशकाले संकल्पविशेषः -</u> सग्रहमखां वास्तुशान्तिं विधाय, प्रवेशकाले श्रीगणपतिं सम्पूज्यः ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनः मंगलतुर्यशान्तिपाठेन सजलकलशः

ब्राह्मण-कन्या-तुलसीपुरःसरं पुत्रपौत्रकलत्रादियुतः सतोरणं सध्वजं सपताकां गृहमागत्य द्वारसमीपे उपविश्य पुण्याहेऽस्मिन् श्रौत-स्मार्तकर्मकरणार्थं संस्कारानेकयोगैश्वर्यादि-विविध मंगलोदयसिद्धये, एतन्नूतनमपूर्वगृहप्रवेशमहं करिष्ये।

तत्रादौ द्वारशाखापूजनम् - द्वारशाखयोः तन्मन्त्रौ -

दक्षिणशाखायाम् - स्थापितेयं मया शाखा शुभदा ऋद्धिदाऽस्तु मे।
सुपूजिता मया शाखा सर्वदा सुस्थिराऽस्तु मे।।1।।
यो धारयति सर्वेशो जगन्ति स्थावराणि च।
धाता दक्षिणशाखायां पूजितो वरदोऽस्तु मे।।2।।
[ॐ धात्रे नमः]

वामशाखायाम् - यः समुत्पाद्य विश्वेशो भुवनानि चतुर्दश।
विधाता वामशाखायां स्थिरो भवतु पूजितः।।1।।
[ॐ विधात्रे नमः]

ऊर्ध्वम् -

1. ॐ गणपतये नमः।। हरिः ॐ गणानान्त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपतिꣳहवामहे निधीनान्त्वा निधिपतिꣳहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्।।

2. ॐ द्वारश्रियै नमः।। ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इषणन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण।।

अधः- ॐ देहल्यै नमः।। ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः।।

पार्श्वयोः (द्वारशाखयोः) - ॐ द्वारमातृकाभ्यो नमः -

ॐ जयन्ती मंगला चैव पिंगला चैव दक्षिणे।
आनन्दवर्द्धिनी वामे महाकाली च निर्गमे।।

गृहप्रवेशसमये द्वारपूजनम् -

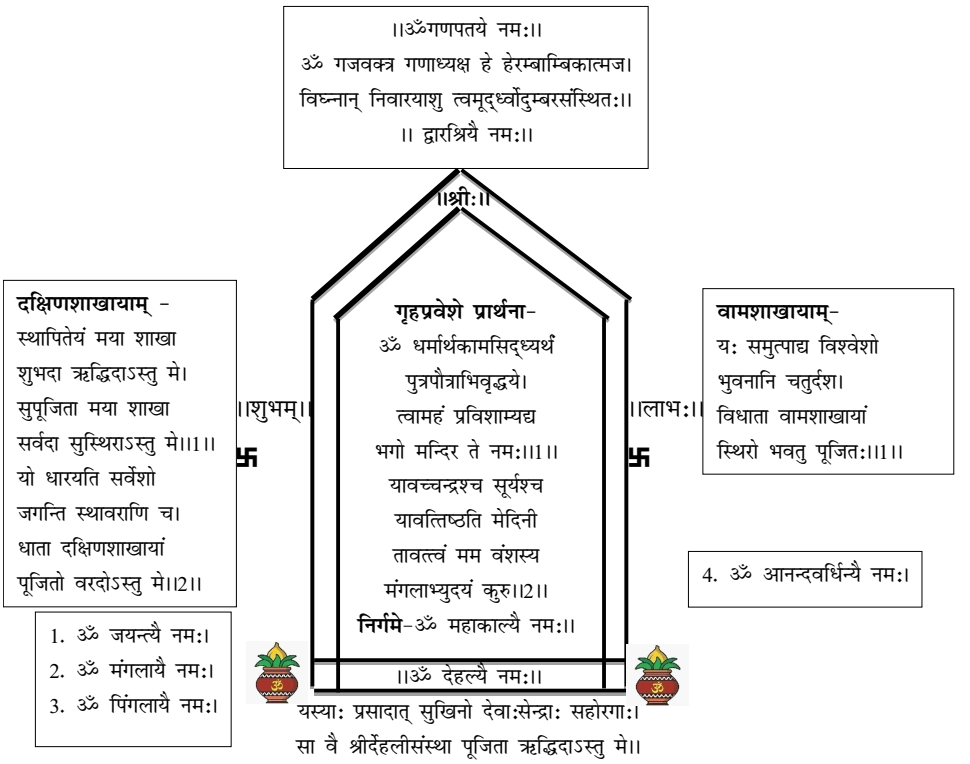

ततः श्रीगणपत्यादीन् नमस्कृत्य सम्पूज्य च प्रार्थनां कुर्यात्।

१. ऊर्ध्वम् -।।ॐ गणपतये नमः।। ॐ गजवक्त्र गणाध्यक्ष हे हेरम्बाम्बिकात्मज।
विघ्नान् निवारयाशु त्वमूर्द्ध्वोदुम्बरसंस्थितः।।
।। ॐ द्वारश्रियै नमः।।

२. अधो देहल्याम् - देहलीं पूजनं कुर्यात्

यस्याः प्रसादात् सुखिनो देवाः सेन्द्राः सहोरगाः।
सा वै श्रीर्देहलीसंस्था पूजिता ऋद्धिदाऽस्तु मे।। ।।ॐ देहल्यै नमः।।

सर्वोपचारार्थे गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि।

३. प्रवेशे काले - (वैदिकब्राह्मणान्, सौभाग्यवतीं, कन्यां, तुलसीं, सवत्सां गां च सम्पूज्य, सम्प्रार्थ्याय च प्रविशेत्।)

अथ द्वाराभिमुखो भूत्वा - **ॐ धर्मार्थकामसिद्ध्यर्थं, पुत्रपौत्रादिवृद्धये।**
त्वामहं प्रविशाम्यद्य, भगो मन्दिर ते नमः।।

यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च, यावत्तिष्ठति मेदिनी।
तावत्त्वं मम वंशस्य, मंगलाभ्युदयं कुरु॥

इत्युक्त्वा सम्प्रार्थ्य प्रविशेत् - **ॐ गृहा मा विभीत।**

ॐ धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तामहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह॥ यन्मे किंचिदस्त्युपहूतः सर्वगणः साधुसंवृतः। तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वतः।(पारस्करगृह्यसूत्रे 3/4)

इति देहलीमस्पृशन् दक्षिणपादपुरःसरमन्तः प्रविश्य प्रधानगृहमध्ये आग्नेय्यां दिशि वा तं कलशं संस्थाप्य, अस्मिन्नूतननिर्मिते (क्रीते) गृहे- **पुण्याहं, कल्याणं, ऋद्धिं, स्वस्तिं, श्रीरस्तु** - इत्यादिबौधायनोक्तपंचवाक्यात्मकं पुण्याहवाचनं विधाय, श्रीलक्ष्मीं सम्पूजयेत् -

ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इषणन्निषाणामुं मऽ इषाण सर्वलोकं मऽ इषाण॥

<u>गृहस्य धारकं स्तम्भं पूजयेत्-</u> **ॐ धारणार्थं महाभाग निर्मितो विश्वकर्मणा।**
स्थापितः शुभदो नित्यं गृहभारक्षमो भव॥

<u>दीपस्थाने दीपपूजनम्</u> - दीपं प्रज्वाल्य गन्धाक्षतपुष्पैश्च सम्पूज्य - **ॐ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥**

प्रार्थनां कुर्यात् - ॐ तिमिरस्य तिरस्कर्ता ज्योतीरूपः सुविश्रुतः।
विघ्नान्धकारनाशाय पूजयामि सुसिद्धिदम्॥ (ॐ दीपाय नमः।)
भक्त्यादीपं प्रयच्छामि देवाय परमात्मने।
त्राहि मां निरयाद् घोराद् दीपज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

<u>चुल्ह्यां धर्मपूजनम् -</u> **ॐ महानस इति ख्यातो देवयज्ञादिसिद्धिकृत्।**
अन्नादिसाधनं स्थानं धर्ममूलं शुभप्रदम्॥ ॐ चुल्ह्यां धर्माय नमः।

<u>सम्मार्जनस्थानपूजनम् -</u> **ॐ पूतना शुभदा ज्येष्ठा सदा सन्धानसंस्थिता।**
स्थानं चोत्करसम्पत्तेरस्तु मे सर्वसिद्धिदम्॥ ॐ ज्येष्ठायै नमः।

<u>जलस्थाने जल(वरुण)पूजनम्-</u>
ॐ तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो
हविर्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳ स मा नऽ आयुः प्रमोषीः॥
ॐ शंखस्फटिकवर्णाभ श्वेतहाराम्बरावृत।
पाशहस्त महाबाहो दयां कुरु दयानिधे॥ ॐ वरुणाय नमः।

<u>पेषण्यां पेषणीपूजनम्</u> (वर्तमानकाले पेषणीस्थाने मिक्सीयन्त्रं प्रपूजयेत्) -
ॐ सौभाग्यं सुभगे देहि पेषणी संस्थिता शुभे।
पिष्टनिष्पादनार्थं त्वं पूजिता शुभदाऽस्तु मे॥ ॐ सुभगायै नमः॥

उलूखलपूजनम् – **ॐ ब्रीहीणां कण्डनं यच्च तुषाणां च विमोचनम्।**
त्वदधीनमतः पूजां करोमि तव सिद्धये॥ॐ रौद्रपीठाय नमः॥

मूसलपूजनम् – **ॐ बलभद्रप्रियाय प्रहरणाय नमः।**

शयनकक्षे शय्यायां शय्यापूजनम्– **ॐ कामः कामप्रदो मेऽस्तु शयनीये सुपूजित।**
पूजां गृहाण सुमुख धानधान्यसमृद्धये॥
ॐ कामाय नमः॥ शय्याधिष्ठातृदेवेभ्यो नमः॥
ॐ देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

गृहमध्ये सर्वदेवपूजनम् –

ॐ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः
शूरऽइषव्योतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री
धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो
युवाऽस्य यजमानस्य व्वीरो जायतान्निकामे निकामे नः पर्जन्यो
व्वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥
ॐ मध्ये सुपूजिता देवाः सन्तु मे सर्वसिद्धिदाः।
नश्यन्तु सर्वविघ्नानि देवानां पूजनादिह॥
ॐ सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः।

पशुस्थाने पशुपतिपूजनम् – **ॐ सर्वाधिपो महादेव ईशानः शुक्लशंकरः।**
पशूनां पतिरस्माकं पूजितः शुभदः सदा॥ ॐ पशुपतये नमः॥

एतदनन्तरं वा पूर्णाहुत्यादि विसर्जनान्तं पूर्वोक्तं कुर्यात्।
॥सर्वं शुभं भूयादिति गृहप्रवेशः॥

पर्यावरणवास्तु के शास्त्रीय, कलात्मक एवं वैज्ञानिक पक्ष

प्रो. हंसधर झा

पर्यावरणवास्तु, इस युग्म शब्द में पर्यावरण शब्द अत्यन्त ही व्यापक शब्द है। पर्यावरण में भी दो शब्दों का संयोग है, परि एवं आवरण। अर्थात् पर्यावरण यानी हमारे चारों ओर का आवरण, जिससे हम घिरे हुए हैं उसे पर्यावरण कहते हैं। अतः इस पर्यावरण के अंतर्गत पृथ्वी और आकाश में स्थित वे सभी पदार्थ, जो किसी न किसी प्रकार से हम से संबंध रखते हैं, जिनसे हम प्रभावित होते हैं, या जिनको हम प्रभावित करते हैं, वे सभी पदार्थ पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, जीव-जंतु, पेड़-पौधे, नदी-नाला, तालाब, झरने, पहाड़ आदि वे समस्त पदार्थ जिनके बीच मनुष्य रहता है, वे सभी पदार्थ पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं। इसी पर्यावरण की एक इकाई हमारा वास्तु भी है, जो प्राणीमात्र के जीवन से जुड़ा हुआ है। अथवा हम यूँ कह सकते हैं कि अभी का जो हमारा मुख्य प्रतिपाद्य विषय वास्तु है, उसका पर्यावरण के साथ अङ्गाङ्गीभाव का संबंध है। अर्थात् पर्यावरण यदि अङ्गी है तो वास्तु उसका एक अङ्ग है।

पर्यावरण और वास्तु के अकाट्य सम्बन्ध के विषय में हमारे भारतीय मनीषियों ने जितना चिन्तन कर रखा है वह समस्त संसार के लिए उपहार स्वरूप ही है। यही कारण है कि हमारे भारतीय वास्तुशास्त्र के प्रति संसार का आकर्षण दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। भारतीय वास्तुशास्त्र में वास्तु के पर्यावरण के साथ सामञ्जस्य को अत्यन्त ही महत्त्व दिया गया है। दोनों के बीच का यही सामञ्जस्य भारतीय वास्तुशास्त्र की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करता है। इस वैज्ञानिकता का दिग्दर्शन हमारी भारतीय संस्कृति में पग-पग पर किया जा सकता है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के अनेक घटकों, जैसे तुलसी, पीपल, बट आदि वृक्षों की पूजा, गंगा, यमुना, सरयू, गोदावरी, नर्मदा आदि नदियों तथा समुद्र पर्वत आदि प्राकृतिक इकाइयों में ईश्वर बुद्धि, धरती को माता का स्थान देना, ये सभी बातें पर्यावरण के प्रति अत्यन्त ही सम्मान का भाव ही तो व्यक्त करता है। यहाँ उदाहरण के रूप में मैं कुछ वैदिक मंत्रों का दिग्दर्शन कराना चाहूँगा, जो पर्यावरण और वास्तु के प्रति हमारी मान्यता को व्यक्त करते हैं। वेद कहता है-

''नमो वृक्षेभ्यः। वृक्षाणां पतये नमः। वनानां पतये नमः।
औषधीनां पतये नमः। अरण्यानां पतये नमः।''[1]

---

1. यजुर्वेद 16/ 17-20

नमो वन्याय च। इत्यादि।[1]

कुछ मंत्रों में वृक्षों एवं वनस्पतियों को सबके लिए मधुमय, हितकारी एवं शांतिदायक होने की कामनाएँ की गई हैं। यथा–

'मधुमान्नो वनस्पतिः।[2]

सुमित्रिया न आप औषधयः सन्तु।[3]

औषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः।[4]

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। इत्यादि।[5]

इसी तरह **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'**[6] इत्यादि अनेक वचनों एवं मंत्रों के माध्यम से पर्यावरणविषयक महत्त्वों का दिग्दर्शन किया जा सकता है। इस तरह वेद पुराण में वर्णित वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर हमारे वास्तु के साथ पर्यावरण का सन्तुलन जिस तरह बना रहे उसी ज्ञान की पद्धति को वास्तुशास्त्र कहते हैं।

भारतीय वास्तुशास्त्र साक्षात् वेद से सम्बन्ध रखता है। यानी भारतीय वास्तुशास्त्र सदियों से पुरातन, वास्तुनिर्माण का विज्ञान है, जिसमें वास्तुकला के सिद्धान्त और दर्शन सम्मिलित हैं, जो हर प्रकार के भवन निर्माण की विधि को सँजोये हुये है। भारतीय वास्तुशास्त्र का मूल दृष्टिकोण विविध प्राकृतिक ऊर्जा से सामञ्जस्य स्थापित करना है, जो प्राकृतिक ऊर्जाएँ, प्रकृति द्वारा हमें निःशुल्क प्राप्त होती हैं। जैसे सौर–ऊर्जा, वायुमण्डलीय ऊर्जा, खगोलीय ऊर्जा, भूगोलीय ऊर्जा, ग्रहगोलीय ऊर्जा, जलीय ऊर्जा, चुम्बकीय ऊर्जा, विद्युत ऊर्जा इत्यादि। इस तरह इन सभी ऊर्जाओं का सही–सही सामञ्जस्य स्थापित करना ही हमारे भारतीय वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि भारतीय वास्तुशास्त्र के अनुसार निर्मित वास्तु निश्चयेन सुख–समृद्धिदायक होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र में वर्णित ग्राम आदि का चयन, भूमिचयन, स्थानचयन, दिक्साधन, शल्योद्धार, पिण्डादि साधन, द्वार विचार, आङ्गण विचार,गृहभित्ति विचार, गृहौच्च्य विचार, पाकगृह विचार, जलाशय विचार, शुभाशुभ काष्ठ विचार, शुभाशुभवृक्ष विचार अथवा गृहोपयोगी अन्य उपकरण विचार, सबके सब भारतीय मनीषियों के उसी विज्ञान की कसौटी पर परखे गए हैं, जो मानव के लिए सुख–समृद्धि में सहायक हो। उपर्युक्त वास्तुशास्त्रीय सभी विचार पर्यावरण की अनुकूलता पर आधारित हैं। इस तरह सभी विषयों को इस छोटे से लेख में नहीं समेटा जा सकता है। अतः मैं स्थाली–पुलाकन्याय से कुछ–एक बिंदुओं को स्पर्श करना चाहूँगा, जो हमारे

1. यजुर्वेद 16/ 34
2. ऋग्वेद 2190/8
3. यजुर्वेद 36/23
4. यजुर्वेद 36/16
5. यजुर्वेद 13/27
6. अथर्ववेद 12/01/12

नवीन पाठकों के लिए उपादेय हो सकता है।

इस क्रम में सर्वप्रथम मैं गृहनिर्माण के महत्व पर विचार करते हुए गृह निर्माण के क्रम का वर्णन करता हूँ।

गृहनिर्माण का महत्व-

गृह निर्माण यानी वास्तु विषयक शास्त्र साक्षात् ब्रह्मा जी के मुख से उपदिष्ट है। जैसे कि वास्तुशास्त्र में महर्षि वसिष्ठ का वचन देखा जा सकता है-

वास्तुज्ञानं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरा।
ग्रामसद्मपुरादीनां निर्माणं सूक्ष्मतोऽधुना।।[1]

वस्तुतः ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट होने से इस भारतीय वास्तुशास्त्र की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है, इसमें संदेह नहीं। फिर भी इसके महत्त्व के विषय में भविष्य पुराण का यह वचन देखा जा सकता है -

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिध्यन्ति गृहं विना।
यतस्तस्माद्गृहारम्भप्रवेशसमयं ब्रुवे।।
परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[2]

इसी तरह वास्तु के महत्व को व्यक्त करते हुए वास्तुराजवल्लभ में लिखते हैं-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनां निलयं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहाणि पुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।[3]

इस तरह हमारे शास्त्रों में वास्तुकर्म का प्रचुरतया वर्णन है ही, इसके क्रम के विषय में भी शास्त्रों में स्पष्ट संकेत मिलता है। इस प्रसङ्ग में वास्तुसारसंग्रह का यह वचन द्रष्टव्य है-

देशग्रामानुकूलत्वं दिशो भूतग्रहस्य च।
मासधिष्ण्यादिकं शुद्धं वीक्ष्यायव्ययमंशकान्।।[4]

---

1. वास्तुसौख्य भाग-1, श्लो. 6
2. वास्तुसौख्य भाग-1,श्लो.7-8
3. वास्तुसारसंग्रहः, 1/15
4. वास्तुसारसंग्रह.2/16

इस तरह स्पष्ट है कि निवास के लिए देश, ग्राम, स्थान का चयन, जलवायु, पंचमहाभूत, ग्रह, मास, नक्षत्र, आय, व्यय, काकिणी आदि का विचार करना चाहिए। इसी क्रम में वास्तु रत्नाकर में लिखते हैं-

ग्रामादेरनुकूलत्वं दिशो भूतग्रहस्य च।
ग्रहधिष्ण्यादिकं शुद्धं वीक्ष्यायव्ययमंशकान्॥
सुगेहं रचयेद्धीमान् वास्तुशास्त्रानुसारतः।[1]

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए वास्तुराजवल्लभ में इस प्रकार लिखते हैं-

आदौ भूमिपरीक्षणं शुभदिने पश्चाच्च वास्त्वर्चनं
भूमेः शोधनकं ततोऽपि विधिवत् पाषाणतोयान्तकम्।
पश्चाद्वेश्मसुरालयादिरचनार्थं पादसंस्थापनं
कार्यं लग्नशशाङ्कशाकुनबलैः श्रेष्ठे दिने धीमता॥[2]

इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट होता है कि गृह निर्माण के क्रम में सबसे पहले देश-विशेष यानी ग्राम की अनुकूलता, इसके बाद उस गाँव में भी दिशा की अनुकूलता, उसके बाद भूमि की अनुकूलता, पुनः अनुकूल भूमि का शल्यादि शोधन, फिर पिंड, आय, व्यय, वार, नक्षत्रादि का शास्त्रानुसार विचार कर शुभमुहूर्त में गृहनिर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिये।

वस्तुतः **'पर्यावरणवास्तु का शास्त्रीय, कलात्मक एवं वैज्ञानिक पक्ष'** नामक शीर्षक में **शास्त्रीय** यह पद कलात्मक एवं वैज्ञानिक इन दोनों शब्दों का विशेषण के रूप में अभिप्रेत है। यानी वास्तु में कलात्मकता या वैज्ञानिकता हो, किंतु वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए। शास्त्रीय मान्यता के बिना वास्तु की कलात्मकता, तथाकथित वैज्ञानिकता स्वीकार्य नहीं होनी चाहिये। क्योंकि वास्तुशास्त्र विरुद्ध कलात्मकता या वैज्ञानिकता सुख-समृद्धिकारक नहीं हो सकती। आशय यह है कि हमारे भारतीय मनीषियों ने अपने दिव्य ज्ञान एवं दीर्घकालिक चिंतन के आधार पर वास्तुकला के विभिन्न पहलुओं पर अशेष विचारों को परखा है और उनमें मानव के लिये कल्याणकारी कलाओं को या विज्ञान को वास्तुशास्त्र में पिरोया है। इसी शास्त्रसम्मत कलात्मकता या वैज्ञानिकता की कसौटी के रूप में पिण्डादि का साधन, गृहोच्छ्राय प्रमाण, गृहभूमि प्रमाण, मण्डलानयन, मण्डलेश विचार, आङ्गण विचार,भित्तिविचार,गृहाच्छादन विचार, सोपान विचार, उपकरणगृह विचार, द्वारविचार, गवाक्ष विचार आदि को लिया जा सकता है।

यहाँ हम उदाहरण के रूप में द्वार विचार को लेते हैं-

सम्प्रति तथाकथित वास्तुशास्त्री जो शास्त्र की मर्यादा को दरकिनार करते हुए घरों में प्रायः द्वारों का स्थान किसी भी दीवार से सटाकर निर्धारित करते हैं। उनकी यह स्वयंभूः

1. वास्तुरत्नाकर 1/6
2. वास्तुराजवल्लभ11/14 एवं वास्तुरत्नाकर 01/12

सोच होती है कि घर के किसी एक तरफ द्वार होने से जगह की बचत होती है। किन्तु उन्हें यह नहीं पता है कि यह पद्धति हमारी भारतीय मनीषियों के सहस्त्रों वर्षों की तपस्या से सम्प्राप्त भारतीय वास्तुशास्त्र के विरुद्ध है। बेशक तथाकथित वास्तुशास्त्रियों को एक किनारे में निर्मित द्वार में वैज्ञानिकता और कलात्मकता दिखती है, किन्तु वह वैज्ञानिकता या कलात्मकता किस काम की जिसका दूरगामी प्रभाव दु:ख और अशान्ति हो।

हमारा वास्तुशास्त्र कहता है कि द्वार कभी भी कोने में या घर के किसी एक प्रान्त में शुभदायी नहीं होता। ज्योतिर्निबन्ध के अनुसार जिस दिशा में द्वार बनाना हो उस दिशा में मकान की लम्बाई का समान नौ भाग करके पाँच भाग दाहिने और तीन भाग बाएँ में छोड़कर शेष भाग में द्वार बनाना चाहिए। यथा–

नवभागं गृहं कुर्यात् पञ्चभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कृत्वा शेषे द्वारं प्रकल्पयेत्।।[1]

इसी तरह आजकल भवन में द्वार के सामने द्वार तथा द्वार के ऊपर द्वार का निर्माण धड़ल्ले से चल रहा है, जो वास्तुशास्त्र विरुद्ध है। इसका दुष्परिणाम सब लोग भुगत रहे हैं, किंतु वे यह सुनने को तैयार नहीं कि मेरे परिवार के सुख समृद्धि का शत्रु मेरे घर में विद्यमान है, कहीं और नहीं। दुर्भाग्यवश द्वार के सम्मुख द्वार और द्वार के ऊपर द्वार में उन्हें कलात्मकता एवं वैज्ञानिकता दिखती है। जबकि हमारे ऋषियों ने अपने दिव्य ज्ञान एवं चिरकालिक अनुभव के आधार पर इसका विरोध किया है। यथा–

द्वारस्योपरि यद् द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम्।
न कार्यं व्ययदं यच्च संकटं तद्दरिद्रकृत्।।[2]

दूसरे उदाहरण के रूप में वास्तुभूमि के दैर्घ्य–विस्तार विचार को लिया जा सकता है–

भारतीय वास्तुशास्त्र में भूखंड के लम्बाई चौड़ाई के विषय में अत्यन्त गहन चिन्तन प्राप्त है। यथा पिण्डादि विचार तो भूखंड के आन्तरिक विचारों में महत्त्व रखते ही हैं, बाह्य दृष्टि से भी भूखण्ड का चतुरस्त्र होना, आयताकार होना, त्रिकोणाकार होना,दण्डाकार होना, चक्राकार होना, सूर्पाकार होना, कूर्माकार होना इत्यादि आकृतियाँ भी अपने आप में अत्यन्त ही महत्त्व रखती हैं। इस क्रम में भी हमारे भारतीय प्राचीन मनीषियों ने जो गहन चिंतन कर रखा है वह मानव मात्र के लिए अनुसरणीय है। इसमें हमारे भारतीय प्राचीन मनीषियों का चिन्तन है कि आकृति भेद से भी वास्तुभूमि शुभ या अशुभ फलदाई होती है। यथा वसिष्ठसंहिता में लिखते हैं–

---

1. वास्तुरत्नाकर 8/28
2. वास्तुरत्नाकर 8/58

आयते सिद्धयः सर्वाश्चतुरस्त्रे धनागमः।
चक्रे दारिद्र्यमित्याहुर्विषमे शोकलक्षणम्।।
राजभीतिस्त्रिकोणे स्याच्छकटे तु धनक्षयः।
दण्डे पशुक्षयं प्राहुः शूर्पे वासे गवां क्षयः।। इत्यादि।।[1]

इसके अनुसार स्पष्ट है कि आयताकार एवं चतुरस्त्र भूमि वास के लिए उपयुक्त होता है, किन्तु चक्राकार भूमि, विषम भूमि, त्रिकोण भूमि, शकटाकार भूमि, चापाकार भूमि वास के लिए शुभदाई नहीं होती हैं।

किन्तु आजकल इन दिव्य वास्तुशास्त्रीय वचनों को दरकिनार करते हुए आज के तथाकथित वास्तुशास्त्र के महारथी या बिल्डर अपने व्यापार को चमकाने की दृष्टि से चाहे वह किसी भी आकृति की हो अपने विशाल भूखंड का एक-एक पग का उपयोग में लाने की व्यापारिक मानसिकता से प्लॉट के प्लाट काट देते हैं और उसे ऊँची ऊँची कीमतों में बेच देते हैं। वास्तु शास्त्र के अन्तर्ज्ञान से अनभिज्ञ जनता उनकी मीठी-मीठी बातों में फँसकर उनके टेढी-मेढी शास्त्रविरुद्ध आकृति के भूखंडों को खरीद भी लेते हैं। जिसका दुष्परिणाम भूमिपति को जीवन भर झेलना पड़ता है। आज इन सब के पीछे मेरी दृष्टि में मूल कारण छिपा है हमारे भारतीय ज्ञान की उपासना में कमी होना। कालचक्र के प्रभाव से हमारे भारतीय विद्या के प्रति सरकार और जनता में क्रमशः उदासीनता आई है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मनीषियों के ज्ञान विज्ञान से हम अछूते होते चले जा रहे हैं और अज्ञानता के कारण तथाकथित वास्तुशास्त्रियों के चंगुल में फँस कर अपने जीवन को दुःखमय बनाने में अग्रसर हो रहे हैं ।

इसके बाद तीसरे उदाहरण के रूप में हम चर्चा करने जा रहे हैं **'गृहकार्य के लिये ग्राह्याग्राह्य काष्ठ'** के विषय में।

हमारे भारतीय वास्तुशास्त्र में गृहकार्योपयोगी एवं अनुपयोगी काष्ठों पर भी चिन्तन किया गया है। भारतीय मनीषियों ने काष्ठ की वैज्ञानिकता को ध्यान में रखते हुए अपने दीर्घकालिक चिन्तन के आधार पर गृहकार्य में ग्राह्य एवं अग्राह्य काष्ठों को परिगणित किया है। गृहकार्य में प्रशस्त काष्ठ का उल्लेख करते हुए सूत्रधार लिखते हैं-

खदिरो बीजकः शालो मधूकः शाकशिंशपौ।
सर्ज्जाऽर्जुनाञ्जनाशोकाः कदरो रोहिणीतरुः।।
विकङ्गलो देवदारुः श्रीपर्णी चादयस्तथा।
कुटुम्बिनाममी प्रोक्ताः पुष्टिदा जीवदास्तथा।।[2]

---

1. वास्तुरत्नावली पृ. 19-20 / भारतीयवास्तुशास्त्र इकाई 4.6 पृ. 58
2. वास्तुसारसंग्रहः 19/12-13

अर्थात् खैर, विजयशाल, शीशम, महुआ, शाक(सागवान), शिंशप (शीशम), सर्ज, अर्जुन, अञ्जन, अशोक, कदर (करंज), रोहिणी (कुटकी), विकंगल, देवदारु श्रीपर्णी (कायफल), इन वृक्षों की लकड़ी को घर में लगाना शुभदायक होता है। इसी प्रकार वास्तुरत्नाकर में प्रशस्त काष्ठ को इस प्रकार लिखते हैं-

श्रीपर्णी रोहिणी शाकं सर्जश्च सरलाः शुभाः।
पतङ्गलोध्रशालाख्यास्तालार्जुनकशिंशपाः॥
चन्दनाशोकबदरीमधूकाश्च कदम्बकाः।
गेहे दारुगुणैर्युक्ते गृहकर्मणि युज्यते॥[1]

इसी तरह गृहकार्य में अशुभ काष्ठ को कहते हुए लिखते हैं-

प्लक्षोदुम्बरचूताख्या निम्बस्नुहिविभीतकाः।
दग्धाः कण्टकिनो वृक्षा वटाश्वत्थकपित्थकाः॥
अगस्तिशिग्रुतालाख्यास्तिन्तिणीकाश्च निन्दिताः।
अन्ये च गृहनिर्माणे योजनीयाः समा द्रुमाः॥[2]

अर्थात् पाकड, गूलर, आम, नीम्ब, स्नूही (सेहुड़), विभीतक, बहेड़ा, जला हुआ काष्ठ, कांटेदार काष्ठ, वट, पीपल, कैथ, अगस्त,शिग्रु (सहजन), ताल, तिन्तिणी(इमली), इन काष्ठों को घर में लगाना सर्वथा निन्दित है।

वस्तुतः इन प्रशस्त एवं अप्रशस्तकाष्ठों का निर्णय हमारे भारतीय मनीषियों के सुदीर्घकालिक अन्वेषण का परिणाम है। परन्तु आज हम चकाचौंध की दुनियाँ में बने-बनाए, ऊपर के पॉलिस या वस्त्रादि से आवृत, देखने में आकर्षक चीजों के पीछे भाग रहे हैं। उसके अंदर की क्षमता या पर्यावरण की दृष्टि से कितना अनुकूल है या प्रतिकूल काष्ठ लगा है, हमारे जीवन पर उसका कितना दुष्प्रभाव होगा, इन सभी चीजों की चिंता करने की हमें आवश्यकता नहीं होती। बस हमारा वर्तमान सँवर जाए, भविष्य की हमें परवाह करने की कोई जरूरत नहीं है। यही कारण है कि आज हमारे घर में समग्र सुविधाएँ विद्यमान हैं, केवल एक नहीं है, वह है हमारी सुख-शान्ति। हम अपने ऋषियों की विद्या या ज्ञान से अनपेक्षित हो रहे हैं। उनके बताए हुए शास्त्र के प्रति हमारी अनास्था हमारे दुःख का कारण हो रही है, जो आज चिन्ता का विषय है।

इसी क्रम में पर्यावरण के अन्तःमर्मज्ञ हमारे ऋषियों ने यह भी बताया है कि वास्तु के समीप कौन से वृक्ष सुखदाई होते हैं और कौन से वृक्ष अशुभदाई। इस बात को भी हम सही सही पालन कर लेते हैं तो इसमें संदेह नहीं कि हमें बहुतों अनिष्ट से निजात मिल सकती है। यथा बृहत् संहिता में आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं-

---

1. वास्तुरत्नाकर 6/49-50
2. वास्तुरत्नाकर 6/52-53

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम्॥
छिन्द्याद्यदि न तरूँस्ताँस्तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ॥[1]

अर्थात् मकान के समीप काँटे वाले वृक्ष, यथा बैर, बबूल, अकोल्ह, कटारि आदि वृक्षों से शत्रुभय होता है। दूधवाले, महुआ आदि वृक्ष से धननाश, फल वाले वृक्ष, जामुन आदि से सन्तान नाश होता है। यदि समीपस्थ इन वृक्षों को नहीं काटा जा सके तो इन वृक्षों और मकान के बीच शुभदायक वृक्ष, जैसे नागकेसर, अशोक, अरिष्ट, मौलसरी, कटहल, शमी और शाल (साखु), इन पेड़ों को लगा देना चाहिए, इससे दोषकारक वृक्ष के दोष प्रभावहीन हो जाते हैं।

वास्तुप्रदीप में अशुभवृक्षों को इस प्रकार कहते हैं–

क्षीरवृक्षा वटाश्वत्थरक्तपुष्पद्रुमास्तथा।
सकण्टका शाल्मली च प्लक्षोदुम्बरसंज्ञितौ॥
अग्निकोणे सदा दुष्टा मृत्युपीड़ाप्रदायकाः।[2]

अर्थात् दूध वाले वृक्ष,बड़, पीपल, रक्तपुष्प, काँटेदार वृक्ष, सेमल, पाकड़, गूलर, ये वृक्ष अग्निकोण में अशुभ होते हैं। फिर शुभ वृक्ष को बतलाते हुए कहते हैं–

पुन्नागफलिनीनिम्बदाड़िमाशोकजातिकाः।
नागकेशरसंपुष्पजपाकुसुमकेशराः॥
जयन्ती चन्दनं प्रोक्तं वचा चैवापराजिता।
मधुबिल्वाम्रभृङ्गाश्च नागरं ककुपादिकाः॥
यत्र तत्र स्थिताश्चैव नारिकेलादयः शुभाः।[3]

अर्थात पुन्नाग, हल्दी, नींबू, दाड़िम (अनार), अशोक, जाती (चमेली), नागकेसर, जपा (अड़हुल), केसर, जयन्ती, चन्दन, बचा, अपराजिता, मधु (महुआ), बेल, आम, भृङ्ग (दालचीनी), नागर, नारियल ये वृक्ष घर के पास किसी भी तरफ शुभदाई ही होते हैं।

इस तरह पर्यावरण वास्तु के विषय में वास्तु शास्त्र में विभिन्न पहलुओं पर हमारे भारतीय मनीषियों ने प्रचुर चिंतन किया ही है, उसी क्रम में घर के समीपस्थ जलाशय आदि का शुभाशुभ प्रभाव का वैज्ञानिक चिंतन भी देखा जा सकता है। बृहत्संहिता में आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं–

---

1. बृहत्संहिता 52/84–85
2. वास्तुरत्नाकर 6/37–38
3. वास्तुरत्नाकर 6/38–40

सलिलालयेऽर्थहानिर्धूर्तगृहे सुतवधः समीपस्थे।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पथे भवति चाऽकीर्तिः॥
चैत्ये भयं गृहकृतं वल्मीकश्वभ्रसंकुले विपदः।
गर्तायां तु पिपासा कूर्माकारे धनविनाशः॥[1]

अर्थात घर के निकट जलाशय होने से धन की हानि, अवधूत का घर होने से पुत्रनाश, देवकुल होने से उद्वेग, चौराहा होने से अपयश, चैत्य (डीह) होने से मकान सम्बन्धी भय, वल्मीक (दीमकपिण्ड) और बिल होने से विपत्ति, खाई होने से पिपासा से पीड़ा, तथा घर के पास कूर्माकार भूमि होने से धन का नाश होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को वास्तु भूमि का चयन करने से पूर्व उपर्युक्त बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इसी प्रकार घर में चित्रकला के विषय में भी हमारे भारतीय चिन्तक मनीषियों ने चिन्तन किया है, जो सुखार्थी के लिए ध्यातव्य है। हमारे वास्तु शास्त्र के अनुसार इतिहास प्रतिपादित अथवा पुराणोक्त आख्यायिका का चित्रण घर में निन्दित कहा गया है। वैसे चित्रण केवल देवगृह में शुभ कहे गए हैं। इसी तरह इन्द्रजाल के समान चित्र व मिथ्यारचित चित्र, रौद्र एवं भयंकर चित्रों का चित्रण, गृह में निन्दित कहा गया है। यथा वास्तुशास्त्र के ये वचन देखे जा सकते –

इतिहासपुराणोक्तं वृत्तान्तं प्रतिरूपकम्।
निन्दितं च गृहे नेष्टं शस्तं देवकुलेषु तत्॥
यानीन्द्रजालतुल्यानि यानि मिथ्याकृतानि च।
भीषणानि च यानि स्युर्न कुर्यात्तानि वेश्मसु॥[2]

घर को चित्रकला से यदि सजाना चाहते हैं तो आपको जो मन में आता है उसे नहीं उकेरा जा सकता । किस तरह का चित्र गृही के मन और बुद्धि पर सकारात्मक भाव को उत्पन्न करता है, इस विषय में हमारे मनीषियों ने गम्भीर मनोवैज्ञानिक चिन्तन किया है और तदनुरूप उन्होंने हमें वास्तुशास्त्र के माध्यम से शिक्षा दी है। इस तरह के निर्देश में महर्षियों की वैज्ञानिकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, कि भयावह चित्रों का पुनः पुनः अवलोकन करने से मनुष्य के मन में और बुद्धि पर उसी तरह का प्रभाव पड़ सकता है। अतः ऋषियों ने महाभारत या किसी युद्ध का चित्र या व्याघ्र आदि हिंसक पशु का चित्र, या तदनुरूप हिंसक मुद्राएँ, घर में रखना या चित्रण करना अशुभकारक बतलाया है। इस तरह इसमें सन्देह नहीं कि हमारा भारतीय वास्तुशास्त्र पर्यावरणवास्तु के कलात्मक एवं वैज्ञानिक पक्षों का संगम है, जिसमें अवगाहन करने से मानवमात्र के जीवन में सुख समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है ।

---

1. वास्तुरत्नाकर 6/46-47
2. वास्तुसारसंग्रह 26/64-65

व्यावसायिक-वास्तु

प्रो. मदनमोहनपाठक

व्यावसायिक-वास्तु विषय पर विचार करने से पूर्व इसके शब्दगत अर्थ को जान लेना परमावश्यक होगा। वास्तु शब्द का अर्थ **वसन्ति प्राणिनो यत्र** अर्थात् जहाँ पर प्राणी रहते हैं ऐसा किया गया है। लेकिन प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्राणी शब्द से मनुष्य तथा उसके द्वारा पालित पशु पक्षी या अन्य कोई पालनीय जीव का ही ग्रहण उपयुक्त होगा। शैवतन्त्रागम तन्त्र के अनुसार वास्तुशास्त्र 64 कलाओं में एक महत्त्वपूर्ण कलाशास्त्र है। वास्तु शब्द पाँच वर्णों के मेल से बना है। जिसमें पञ्चमहाभूतों का सन्निवेश किया गया है।

व् = वायु
आ = अग्नि
स् = पृथ्वी (स्था)
त् = जल (तोय)
उ = आकाश (ऊर्ध्वं)

उपर्युक्त इन पञ्चमहाभूतों में से वायु-अग्नि-पृथ्वी-जल को यदि अनुकूल कर लिया जाय तो आकाश स्वत: अनुकूल हो जाता है। वास्तुशास्त्र के माध्यम से पञ्चमहाभूतों को अनुकूल कर पञ्चमहाभूत से निर्मित इस देव दुर्लभ मनुष्य जन्म के उद्देश्य को सफल करने का सफल प्रयास हमारे वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों ने किया है। वास्तुशास्त्र इतना व्यापक तथा विस्तृत है कि इस पर वर्तमान में उपलब्ध एक नहीं अपितु पांच शास्त्र आधारित हैं। जैसे-

1. मूर्तिशास्त्र, 2. छन्द:शास्त्र, 3. संगीतशास्त्र, 4. नृत्यशास्त्र, 5. वास्तुशास्त्र

अब यहाँ दूसरी जिज्ञासा स्वाभाविक होगी की वास्तु शब्द से **वसन्ति प्राणिनो यत्र** ऐसा अर्थ लेंगे तो वास्तु पुरुष का अर्थ क्या होगा? समाधान के लिए एक वास्तु शब्द से प्राणियों के रहने योग्य भूमि तथा दूसरे वास्तु शब्द से किसी अज्ञात वास्तु-पुरुष का बोध होता है। इस वास्तु-पुरुष को जानने के लिए पुराणों का अनुशीलन अपेक्षित होगा। इस विषय को सुस्पष्ट करने के लिए मत्स्य-पुराण का वचन उपस्थित किया जाता है। एक बार शौनकादि ऋषियों ने सूतजी से प्रश्न किया कि वास्तु-पुरुष कौन हैं? वास्तु-शास्त्र के प्रणेता कौन-कौन हैं? तथा प्रासाद-गृह-भवनादि का निर्माण कैसे करना चाहिए? सर्वप्रथम वास्तु-पुरुष के प्रणेता का उल्लेख करते हुए सूतजी ने बताया -

भृगुरत्रिवसिष्ठश्च विश्वकर्मायमस्तथा। नारदो नग्नजिश्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्माकुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च। वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः॥[1]

वास्तु-पुरुष के विषय में एक कथा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा -

पुरान्धकवधे घोरे घोररूपस्य शूलिनः। ललाटश्वेदसलिलमपतद्भुवि भीषणम्॥
करालवदनं तस्मात् समुद्भूतं समुल्वणम्। असमानमिवाकाशं सप्तद्वीपां वसुन्धराम्॥
ततोऽन्धकानां रुधिरमपिवत् पतितं क्षितौ। तेन तत्समरे सर्वं पतितं यन्महीतले॥
तथापि तृप्तिमगमत्तद्भूतं न तदा यदा। तदा शिवस्य पुरतस्तपश्चक्रे सुदारुणम्॥
क्षुधाविष्टन्तु तद्भूतमाहर्त्तुं जगतां त्रयम्। ततः कालेन सन्तुष्टो भैरवस्तस्य चादरात्॥
तमुवाच ततो भूतं त्रैलोक्यग्रसनं क्षमम्। भवामि देवदेवेश तथेत्युक्तञ्च शूलिना॥
ततस्तत् त्रिदिवं सर्वं भूमण्डलमशेषतः। स्वदेहेनान्तरीयञ्च बन्धनं प्रापतद्भुवि॥
भीतभीतस्ततो देवैर्ब्रह्मणावथ शूलिना। दानवासुररक्षोभिरवष्टब्धं समन्ततः॥
येन तत्रैव चक्रान्तं स तत्रैवाभवत् पुनः। निवासात् सर्वदेवानां वास्तुरित्यभिधीयते॥
अवष्टब्धेन तेनापि विज्ञप्ताः सर्वदेवताः। प्रसीदध्वं सुरा सर्वे युष्माभिर्निश्चलीकृतः॥
स्थाष्यामि किं यदाहारमवष्टब्धमधोमुखम्। ततो ब्रह्मादिभिः प्रोक्तं वास्तुमध्ये तु यो बलिः॥
आहारो वैश्वदेवान्ते न्यूनमस्मिन् भविष्यति। वास्तूपशमनो यज्ञस्तवाहारो भविष्यति॥
एवमुक्तस्ततो हृष्टः स वास्तुरभवत्तदा। वास्तुयज्ञः स्मृतस्तस्मात् ततः प्रभृतिशान्तये॥[2]

इस प्रकार वास्तुशब्दार्थ, वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तकाचार्य, वास्तुपुरुष के उद्भव एवं वास्तु में शान्ति हेतु वास्तुपुरुष के पूजन का विधान बता कर प्रकृत व्यावसायिक वास्तु पर अपना पक्ष उपस्थित करते हैं। व्यावसायिक-वास्तु उसे कहेंगे जिस भवन में व्यवसाय सुरक्षित एवं सम्वर्धित ढ़ंग से किया जा सके। व्यावसायिक वास्तु के अन्तर्गत व्यापार-केन्द्र, (मार्केट-कम्प्लेक्स) कार्यालय, होटल, अस्पताल व नर्सिंगहोम प्रभृति आते हैं। इनमें व्यावसायिक-केन्द्र का निर्माण हो अथवा कार्यालय का निर्माण, होटल हो अथवा अस्पताल सर्वत्र गृह-निर्माण से पूर्व निम्न-लिखित बातों का ध्यान रखना परम श्रेयस्कर होता है।

गृह-निर्माण से पूर्व विचारणीय कुछ बातें -

1. भूमि शोधन।

(क) **ज्वालन** (वास्तु भूमि पर ऊपजे हुए बेकार काँटे, कुश आदि को जलाने की क्रिया)

---

1. मत्स्यपुराण 252/2-4

2. मत्स्यपुराणे वास्तुभूतोद्भवो नाम 226 अध्यायः।

(ख) **निष्कासन** (वास्तु भूमि में नीचे दबे हुए शल्यादि को निकालना)

(ग) **प्लावन** (वास्तु भूमि को चारो तरफ से घेर कर जल भरना)

उपर्युक्त तीन प्रविधियों से भूमि शोधन की क्रिया सम्पन्न होती है।

2. अपेक्षित एवं शास्त्रोक्त दिशा में भूमि का प्लवत्व-निर्धारण।

3. दिग्ज्ञान करके ही भवन का निर्माण हो।

4. शिलान्यास से पूर्व तथा भवन निर्माण के पश्चात् गणेश, शक्ति, क्षेत्रपाल, दिशाधिपति, तथा वास्तुपुरुषादि का पूजन तथा हवन अवश्य किये जायें। जैसा कहा गया है -

परीक्षितायां भूवि विघ्नराजं समर्चयेच्चण्डिकया समेतम्।
क्षेत्राधिपं चाष्टदिगीशदेवान् सुपुष्पधूपैर्बलिभिः सुखाय।।[1]

इस प्रकार-

पृथ्वीनवग्रहधरामरशक्रपूर्वाः नागाः पराशरप्रजापतिचूतपर्णैः।
वास्तोष्पतिर्दधियुताक्षतधूपगन्धैः पूज्या धरामरगणाविधिवद्गणेशः॥

इन उपर्युक्त विधानों के पश्चात् व्यावसायिक-भवन का निर्माण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिये।

1. व्यावसायिक-भवन के पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम में मार्ग होना श्रेयस्कर समझा जाता है। क्योंकि व्यावसायिक-भवन या किसी भी भवन के जिस दिशा में सड़क होंगी उस भूमि का प्लवत्व या झुकाव भी उसी दिशा में होगा। भूमि का प्लवत्व भी पश्चिम उत्तर तथा पूर्वदिशा में श्रेयस्कर माना जाता है।

2. भूखण्ड के ईशानकोण में कोई निर्माण नहीं करना चाहिए। उस भूमि के उपयोग के लिए छोटा सा मन्दिर, नलकूप, भूमिगत टैंक, झरना या फुहारों का निर्माण करके किया जा सकता है।

3. इन भवनों में बिजली का मुख्य स्वीच-बोर्ड तथा जेनरेटर का स्थान अग्निकोण तथा उसके आस-पास में होना श्रेयस्कर माना जाता है।

4. शौचालय भूखण्ड के दक्षिण तथा पश्चिम में बनाना चाहिये।

5. भवन के ऊपरी-मञ्जिल की बालकनी या टैरेस यथा सम्भव पूर्व अथवा उत्तर की तरफ बनाना उचित है।

6. बड़े वाहन की पार्किंग दक्षिण तथा पश्चिम में एवं छोटे वाहन अर्थात् मोटरसाइकिल, स्कूटर आदि की पार्किंग उत्तर अथवा पूर्व में होना चाहिए।

---

1. वास्तुरत्नावली - पृ.सं.29

7. आवासीय वास्तु हो अथवा व्यवसायिक वास्तु निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार अवश्य होना चहिए-

समस्या	समाधान
(क) भूखण्ड के सामने श्मशान न हो।	मुख्य गेट पर उत्तल दर्पण लगाना चाहिए।
(ख) भूखण्ड के सामने चिकित्सालय न हो।	चार दिवारी बनावें।
(ग) भूखण्ड के सामने मन्दिर न हो।	चार दिवारी बनावें।
(घ) भूखण्ड के सामने गिरिजाघर न हो।	चार दिवारी बनावें।

व्यावसायिक-भवन चाहे मिनी-मार्केट, लोकल शोपिंग-सेन्टर, कमर्शियल-कम्प्लेक्स, डिस्टिक-सेन्टर अथवा किसी भी प्रकार की मण्डी हो, सर्वत्र उपर्युक्त-नियमों का पालन करना सर्व-समृद्धि में सहायक सिद्ध होता है।

दुकान तथा शो-रूम की आन्तरिक-व्यवस्था -

1. दुकान अथवा शो-रूम का मुख पूर्व या उत्तर दिशा में हो तो आर्थिक एवं सर्व-समृद्धि में सहायक सिद्ध होता है। अनुपलब्धता में पश्चिम दिशा को लिया जा सकता है। दक्षिणदिशा तो अनुपयुक्त होता है।

2. दुकान के अन्दर के रैक, सेल्फ, अलमारियाँ, शो-केस तथा काउन्टर का निर्माण दक्षिण तथा पश्चिम के दिवारों के साथ बनानी चाहिए।

3. सम्भव हो तो ईशान-कोण में अपने इष्ट-देव का चित्र लगा सकते हैं। वहाँ पीने का पानी रख सकते हैं।

4. बिजली के उपकरण जैसे इनवर्टर, जनरेटर या मेन स्विच बोर्ड आग्नेय कोण में लगाना चाहिए।

5. दुकान में समान बिक्री करने वाले का मुख पूर्व या उत्तर की तरफ तथा खरीदने वाले का मुख दक्षिण तथा पश्चिम की तरफ होना श्रेयस्कर होता है।

6. कैश-बॉक्स को दक्षिण तथा पश्चिम की दिवारों के सहारे लगाकर रखना चाहिए।

7. कैस-काउन्टर तथा मालिक व मैनेजर के ऊपर से कोई बीम नहीं होना चाहिए।

कार्यालय की आन्तरिक-व्यवस्था -

व्यावसायिक, औद्योगिक-संगठन एवं विविध-विषयों जैसे ज्यौतिष, मनोविज्ञान आदि के विशेषज्ञों के कार्यालय की आन्तरिक-व्यवस्था के लिए निम्नलिखित निर्देशों का पालन करना चाहिए।

1. कार्यालय का प्रवेश-द्वार पूर्व अथवा उत्तर की तरफ हो।

2. स्वागत काउन्टर अन्दर आते समय बाँयी तरफ तथा प्रतीक्षालय दाहिनी तरफ होना

चाहिए। प्रतीक्षालय न बन सके तो कुर्सियाँ तथा सोफा-सेट पूर्व तथा उत्तर की दिवारों के सहारे रखनी चाहिए।

3. कार्यालय में यदि पेन्ट्री (Pantry) या रसोईघर की व्यवस्था करनी हो तो उसे मण्डप के अग्निकोण में स्थापना करनी चाहिए।

4. कार्यालय में शौचालय की व्यवस्था मण्डप के दक्षिणकोण में करनी चाहिए। सम्भव न हो तो ईशान व वायव्य को छोड़कर अन्य किसी दिशा व कोण में बनाया जा सकता है।

5. कार्यालय के अधिकारियों व अधीनस्थ कर्मचारियों को पद क्रम से पश्चिम व दक्षिण दिशा में बैठना चाहिए। जिससे उनका मुख पूर्व तथा उत्तर दिशा की तरफ रहे।

6. कार्यालय में खजांची, एकाउन्टेन्ट, व लेखा विभाग के कर्मचारियों को उत्तर की तरफ तथा बाहर का काम करने वाले एजेन्ट, सेल्स-मैन, निरीक्षक, फिल्ड-वर्कर, पत्र / सन्देशवाहकों तथा टेलीफोन आदि की व्यवस्था वायव्य दिशा में होनी चाहिए।

7. कार्यालय का मुख्यद्वार किसी अन्य कार्यालय के द्वार के सामने, केन्टीन व किसी टेलीफोनबूथ के द्वार के सामने होना उपयुक्त नहीं है।

होटल एवं रेस्टोरेन्ट की आभ्यन्तरिक व्यवस्था -

होटल, रेस्टोरेन्ट व जलपानगृह का उपयोग मात्र अल्पकालिक-निवास, भोजन व जलपान के लिए ही नहीं, अपितु बिजनेस-कांफ्रेंस, गोष्ठियों मीटिंग, सम्मेलन, शादी, विभिन्न-पार्टियों का आयोजन एवं गेट-टुगेदर अदि के लिए प्रयुक्त होता है। अतः इसका बाह्य एवं आभ्यन्तरिक निर्माण इस प्रकार होना चाहिए जिससे इसमें समय बिताने वाले को शान्ति, तृप्ति व सन्तुष्टि हो सके। अतः इसके बाह्य एवं आभ्यन्तरिक निर्माण में निम्नलिखित बातों का ध्यान देना परमावश्यक होता है।

1. भूखण्ड का चयन तथा भवन-निर्माण से पूर्व की प्रविधि व्यावसायिक-वास्तुप्रकरण में बताये गये प्रविधि के अनुरूप करनी चाहिए।

2. भवन का निर्माण इस प्रकार हो कि नैर्ऋत्यकोण सबसे ऊँचा तथा ईशानकोण सबसे नीचा रहे।

3. कमरों का निर्माण ऐसा हो जिससे उसके किंवाड़ पूर्व अथवा उत्तर की तरफ खुले। ऐसा सम्भव न हो तो अग्निकोण के पास द्वार रखे जा सकते हैं।

4. अन्दर की व्यवस्था जैसे शौचालय, स्नानघर, पलंग, टी.वी. आदि का स्थान आवासीय-भवन-प्रकरण में बताये गये नियम के अनुरूप होना चाहिए।

5. होटल में किचन (भोजननिर्माण-कक्ष) अग्निकोण तथा भोजन-कक्ष दक्षिण या पश्चिम में होना चाहिए।

6. पानी की व्यवस्था ईशानकोण में, स्वीमिंग-पूल पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व में भी

बनाया जा सकता है।

7. स्वागत-कक्ष प्रवेशद्वार के दक्षिण व पश्चिम से उत्तराभिमुख व पूर्वाभिमुख होना चाहिए।

8. होटल / रेस्टोरेन्ट में जलपान-कक्ष पश्चिम व दक्षिण में, रसोई-घर आग्नेय या नैर्ऋत्य में, कैस-काउन्टर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होना चाहिए।

9. होटल के सबसे निचले-तल में जिमनेजियम तथा निचले-तल के ही दक्षिण-पश्चिम में भण्डार-गृह बनाना चाहिए।

अस्पताल एवं नर्सिंग-होम का बाह्य एवं आन्तरिक निर्माण -

चिकित्सालय का निर्माण भी व्यावसायिक-वास्तु प्रकरण में बतायी गयी प्रविधियों के अनुसार करना चाहिए। पुनरपि इस सन्दर्भ में निम्नलिखित विषयों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

1. गहन-चिकित्सा-कक्ष (आई. सी. यू.) वायव्यकोण में बनाना चाहिए।

2. चिकित्सालय का मध्यभाग (ब्रह्मस्थान) खुला रहना चाहिए।

3. प्रसूतिकक्ष ईशानकोण, उत्तर अथवा पूर्व में बनाना चाहिए।

4. शल्यचिकित्साकक्ष (आपरेशन-थियेटर) मण्डप के पश्चिम में बनाना चाहिए।

5. आपातकालीनसेवा (इमरजेंसी-वार्ड) वायव्य, उत्तर व पूर्व-दिशा में हो।

6. नैर्ऋत्य में राहु का स्थान होने के कारण कोई वार्ड नहीं बनाना चाहिए। वहाँ अनुसन्धान-कक्ष, भण्डार, लेबोरेटरी आदि बनाना चाहिए।

7. बाह्य-चिकित्सा-कक्ष (ओ.पी.डी.) पूर्व व उत्तरदिशा में बनाना चाहिए।

8. एक्स-रे मशीन, फिजियोथेरेपी एवं अन्य विद्युत उपकरण अग्निकोण या इसके आस-पास होनी चाहिए।

9. रोगियों का कक्ष (वार्ड) वायव्य-दिशा में श्रेष्ठ, दक्षिणदिशा में निषिद्ध तथा अन्य दिशाओं में श्रेष्ठ होता है।

10. शय्या को ऐसे रखें जिससे रोगियों का शिर उत्तर की तरफ नहीं हो।

11. पोस्ट-मार्टम अथवा मुर्दा-घर दक्षिण-दिशा में हो।

12. चिकित्सालय परिसर में स्टाफ-क्वाटर पश्चिम-भाग में बनाना चाहिए।

13. चिकित्सालय / नर्सिंगहोम में उसका द्वार, कैश-काउन्टर, रिसेप्शन (स्वागत-कक्ष) वेटिंग, पार्किंग, ओवर-हेड-टैंक, पानी की निकासी, आदि का विचार, व्यावसायिक-भवन-प्रकरण में बताये गये विधि के अनुसार होना चाहिए।

उपर्युक्त विधान से बनाये गये चिकित्सालय व नर्सिंग-होम रोगियों के स्वास्थ्य में समृद्धिकारक तथा चिकित्सकों के लिए यश का अभिवृद्धि कारक होता है।

इस प्रकार व्यवसायिक-वास्तु के अन्तर्गत आने वाले तत्तद् भवनों के निर्माण उस प्रकरण में बतलाये गये नियम के अनुरूप करना चाहिए। ऐसे भवन सर्वसमृद्धि में सहायक होते हैं।

मौर्यकालीन कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित पर्यावरण एवं कृषि संरक्षण तथा संवर्द्धन सम्बन्धी नीति

प्रो0 डी0पी0 सकलानी
एवं डॉ0 प्रेम बहादुर

पर्यावरण का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि यह मानव विकास से प्रारम्भ होकर मानव संस्कृति के विकास के साथ-साथ विभिन्न स्तरों से होते हुए वर्तमान विकृत स्वरूप को प्राप्त हो गया है जिससे सम्पूर्ण विश्व के जीव-जगत की सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। पर्यावरण प्रदूषण को कम करने, जैव विविधता और जीवन को भू-मण्डल पर सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक शोध के साथ-साथ ऐतिहासिक शोध की आवश्यकता भी है। हमारे मनीषी, वेद-उपनिषद् और पुराणों के रचयिता तथा सुदृढ़ राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के जनक आचार्य कौटिल्य एवं उनके द्वारा संरक्षित और निर्देशित राजा/सम्राट पर्यावरण को कितना महत्व देते थे? और संरक्षण हेतु किन-किन विधियों का उपयोग करते थे? यह जानने की आवश्यकता है। ताकि वैज्ञानिक शोध के साथ सामंजस्य बनाकर अधिक सार्थक परिणामों की प्राप्ति की जा सके। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि आदि मूल तत्त्व एवं मानव, वनस्पति, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि के समायोजन से पर्यावरण का निर्माण होता है। अतः पृथ्वी पर व्याप्त पर्यावरण प्रकृति का सर्वोत्तम वरदान है। पर्यावरण प्रकृति की वह स्थिति है जिसने पृथ्वी को जीव-जगत् का गौरव प्रदान किया है। इस प्रकार पर्यावरण का तात्पर्य पृथ्वी के जैव-जगत् को आवृत्त करने वाले भौतिक परिवेश से है। पर्यावरण परिस्थितियों एवं पदार्थों का समुच्चय भी है, इसके अन्तर्गत आकाश, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, रात, दिन, वायु, जल, भूमि, वन, वनस्पतियाँ, झीलें, पहाड़, नदियाँ, वृक्ष, औषधियाँ, कृषि, अन्न तथा मानव सहित समस्त पशु-पक्षी, कीट-पतंगे, शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुएं एवं मौसम समाहित हैं।

कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र मौर्य साम्राज्य की जानकारी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है जिसके लगभग समस्त भागों, अधिकरणों एवं प्रकरणों में प्रत्यक्षतः एवं परोक्षतः प्राकृतिक तत्त्वों के संरक्षण की ही चर्चा की गयी है तथा सम्राट को सम्बोधित करते हुए राज्य को निर्देश दिया गया है कि राज्य की समस्त प्राकृतिक सम्पदाएं यथा जंगल, पहाड़,

मिट्टी, नदी, झील, तालाब, कुएँ, औषधीय एवं सामान्य वनस्पतियाँ, पेड़-पौधे, उद्यान, धातु-युक्त खानें, पालतू एवं जंगली पशु, पक्षी एवं जीव-जन्तुओं का संरक्षण एवं संवर्द्धन करना राजा का परम कर्त्तव्य होना चाहिए तथा इन्हें हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को राज्य द्वारा कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। चाहे वह राज-परिवार से सम्बन्धित व्यक्ति ही क्यों न हो। मौर्य काल में राज्य की नीतियों के महत्त्वपूर्ण अवयव भूमि-प्रबन्धन, मृदा-प्रबन्धन, जल-प्रबन्धन, वन-प्रबन्धन, कृषि-प्रबन्धन, पशु-प्रबन्धन, प्राकृतिक आपदा-प्रबन्धन (यथा बाढ़ एवं सूखा आदि) एवं पालतू एवं जंगली जीव-जन्तु प्रबन्धन आदि रहे हैं जो प्रकृति एवं पर्यावरण के महत्वपूर्ण अवयव हैं।

वस्तुतः प्राकृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से मौर्य साम्राज्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। उत्तर में हिमालय से, पश्चिम में हिन्दूकुश, सफेद कोह, सुलेमान और किरथर की पहाड़ियों से, दक्षिण में अरब सागर और कच्छ के रण से, और पूर्व में थार अथवा राजस्थान के रेगिस्तान तथा पूर्वी पंजाब की अधिपत्यकाओं और पहाड़ियों से परिवेष्ठित सिन्धु और उसकी सहायक नदियों की विस्तृत घाटी अपने आप में एक छोटा-सा संसार थी, जिस पर मौर्यों के उत्थान से पूर्व मगध की आंधी और तूफान का बहुत प्रभाव नहीं पड़ता था। यह क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों से अत्यन्त समृद्ध था। चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम भारतीय सम्राट था जिसने बृहत्तर भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसके राज्य की सीमाएं आधुनिक भारत की सीमाओं से बहुत आगे ईरान की सीमाओं से मिलती थी। उसने सिन्धु तथा पाँच नदियों के क्षेत्र को गंगा तथा यमुना की पूर्वी घाटियों के साथ मिलाकर एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण किया जो एरिया (हेरात) से पाटलिपुत्र तथा दक्षिण में वह विन्ध्य पर्वत की सीमा से आगे तक फैला हुआ था।

मौर्य काल के इतिहास की जानकारी का सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत अर्थशास्त्र है, जिसके माध्यम से मौर्य सम्राट अपने शासन सत्ता की नीतियों का निर्धारण एवं संचालन करते थे। अर्थशास्त्र में राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, कृषिनीति, व्यापारनीति, विदेशनीति, युद्धनीति, आदि विविध नीतियों का उल्लेख हुआ है जिसके केन्द्र में पर्यावरण नीति को महत्त्वपूर्ण माना गया है। कौटिल्य का मानना था कि स्वच्छ प्रकृति एवं पर्यावरण ही इन समस्त नीतियों को किसी भौगोलिक क्षेत्र में लागू करने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है। इसीलिए कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उपर्युक्त नीतियों के सन्दर्भ में प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण को राजा का महत्त्वपूर्ण धर्म एवं अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है, जिसका अनुसरण मौर्य कालीन शासकों द्वारा ईमानदारी एवं तन्मयता पूर्वक किया गया। कौटिल्य का मानना था कि राजा का सद्-आचरण ही किसी साम्राज्य में स्वच्छ वातारण एवं पर्यावरण का सृजन कर सकता है। धर्म से शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा का आदर्श भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के सामने सदा रहता था। यद्यपि छठी ई0पू0 शताब्दी में ही बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के आचार्यों द्वारा पर्यावरण संरक्षण हेतु निर्देश दिए गए हैं। इतिवुत्तक के

झायी-सुत्त[1] में चक्रवर्ती राजा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ''चक्रवर्ती, धार्मिक, धर्मराजा, चारों दिशाओं का विजेता, जनपदों में सुव्यवस्था स्थापित करने वाला, सप्त रत्नों से युक्त था।'' दीर्घनिकाय के लक्खण-सुत्त[2] में इसी आदर्श को अधिक स्पष्टतापूर्वक अभिव्यक्ति करते हुए कहा गया है, कि ''चक्रवर्ती, धार्मिक, धर्मराजा, चारों दिशाओं का विजेता....वह इस सागर-पर्यन्त पृथ्वी को बिना दंड के, बिना शास्त्र के, धर्म के द्वारा जीत कर उस पर शासन करता है।'' उपर्युक्त वक्तव्य बौद्धकालीन भारतीय भौगोलिक क्षेत्र के राजाओं के सन्दर्भ में कहा गया है तथापि इस मन्तव्य को अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार मौर्य शासकों द्वारा पूर्णरूपेण कार्यान्वित किया गया। ज्ञातव्य है कि यही भौगोलिक क्षेत्र मौर्य शासकों का भी था तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव अशोक जैसे महान मौर्य शासक पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ऐसे ही सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए मौर्य शासकों द्वारा राज्य हेतु नीतियों का निर्धारण किया गया जिसका प्रभाव मौर्य साम्राज्य की गतिविधियों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आचार्य कौटिल्य की नीतियाँ इतिहास प्रसिद्ध हैं जिसके केन्द्र में प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा प्रमुख मानी जा सकती है क्योंकि आचार्य कौटिल्य का मानना था कि सामाजिक विकास हेतु मजबूत अर्थव्यवस्था सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवयव है जिसकी प्राप्ति प्राकृतिक तत्त्वों के सृजन, वृद्धि, उपयोग व उपभोग तथा संरक्षण से ही संभव है। अतः उसने सर्वप्रथम प्रकृति प्रदत्त संसाधन यथा कृषि, पशुपालन, खनिज सम्पदा, जंगल, पहाड़, नदी, झील, तालाब, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि के संरक्षण हेतु नीतियों का निर्धारण अपने अर्थशास्त्र में किया है। मौर्य शासकों की नीतियों एवं क्रिया-कलापों से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका पालन मौर्य शासकों द्वारा अत्यन्त तन्मयता पूर्वक किया गया जिसका उल्लेख आगे प्रस्तुत किया गया है।

मौर्य साम्राज्य की नीतियों के निर्धारण का मुख्य स्रोत कौटिल्य के अर्थशास्त्र को माना गया है जिसे मौर्य कालीन नीति-निर्देशक ग्रन्थ कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें प्रकृति के पंचतत्व यथा- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश में (पृथ्वी, जल और अग्नि के लिए प्रत्यक्षतः एवं वायु तथा आकाश के लिए परोक्षतः) यह बताने का प्रयास किया गया है कि ये ही वे प्राकृतिक अवयव हैं जिनके सन्तुलन एवं स्वच्छता पर ही मानव एवं उसके द्वारा स्थापित शासन सत्ता का स्थायित्व सम्भव है। वेदों के पश्चात् कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण के बारे में अत्यन्त गहनता से उल्लेख किया गया है जबकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को एक राजनीतिक ग्रन्थ माना जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या कौटिल्य का अर्थशास्त्र तत्कालीन परिस्थितियों की माँग थी जिसमें प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में इतने प्रभावी ढंग से निर्देश देने की आवश्यकता आन पड़ी अथवा मौर्य काल से पूर्व के

1. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (2009), पृष्ठ 165।
2. वही, पृष्ठ 166।

शासकों एवं लोगों द्वारा अपने क्रिया-कलापों से इतना प्राकृतिक असन्तुलन उत्पन्न कर दिया गया था कि पर्यावरण संरक्षण हेतु मौर्य शासकों द्वारा ऐसे नियमों को निर्धारित करना अवश्यम्भावी हो गया था जिससे आने वाले समय में पर्यावरण को संरक्षित एवं सन्तुलित किया जा सके? यह एक विचारणीय प्रश्न है। मौर्य साम्राज्य की नीतियों में सर्वप्रथम भूमि संरक्षण के लिए नीतियाँ निर्धारित की गयीं थी क्योंकि भूमि ही प्राकृतिक संसाधनों का आश्रय-स्थल है। इसमें भी भूमि की गुणवत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया। अर्थशास्त्र के **'जनपदनिवेश'**[1] में कहा गया है कि गाँव की सीमा का निर्धारण नदी, पहाड़, जंगल, बेर के वृक्ष, खाई, तालाब, सेमल के वृक्ष, शमी के वृक्ष और बरगद आदि का वृक्ष लगाकर किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य शासकों द्वारा इन प्राकृतिक अवयवों के माध्यम से जल, वायु एवं मिट्टी को संरक्षित करने का उद्देश्य निहित था।

मौर्य **शासन व्यवस्था का आधार कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसका सीधा सम्बन्ध भूमि से** था। रोमिला थापर का मानना है कि अर्थशास्त्र और अन्य ग्रन्थों नें कृषि का विस्तार कर राजस्व में वृद्धि करने के लिए राज्य की भूमि पर कृषकों की नई बस्तियाँ बनाने की नीति प्रतिपादित की है।[2] पुनः उन्होंने कहा है कि कौटिल्य ने जिस प्रकार के राज्य की वकालत की है उसकी चिन्ता शायद राजस्व इकट्ठा करने की अधिक थी।[3] किन्तु इस तथ्य को नजरंदाज नहीं किया जा सकता है कि राजस्व वृद्धि हेतु संसाधनों का संरक्षण आवश्यक पहलू है जो कि प्रकृति प्रदत्त हैं। ज्ञातव्य है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण पर विशेष बल दिया है, न कि उनके निर्बाध एवं नियंत्रण विहीन दोहन तथा शोषण पर, अतः इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसका मूल उद्देश्य प्रकृति एवं पर्यावरण का संरक्षण करना तो था ही, साथ ही प्रकृति द्वारा उपहार स्वरूप दिए गए संसाधनों का समुचित एवं सन्तुलित उपयोग करना था। इसी प्रकार स्वराष्ट्र एवं पर-राष्ट्र द्वारा ऐसी नीतियों एवं सिद्धान्तों को युद्ध के समय ध्यान में रखना कि सेना द्वारा किसी भी प्रकार से कृषि, फसल एवं पेड़-पौधों को हानि न पहुँचायी जाय। जबकि मौर्य काल के बाद के समय में प्रायः सेनायें शत्रु देश की समस्त व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देती थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के 'भूमिच्छिद्र-विधानम्' में भूमि संरक्षण पर विशेष बल दिया है। इस कार्य हेतु ऐसी नीतियाँ राज्य द्वारा निर्धारित करने का निर्देश दिया है जिससे ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाकर उससे जहाँ एक तरफ फसल उगाई जाय, वहीं दूसरी तरफ पर्यावरण संरक्षण का भी कार्य सम्पन्न किया जा सके। इसीलिए अर्थशास्त्र में कहा गया है कि ऊषर भूमि में पशुओं के लिए चारागाह बनाने चाहिए।[4]

---

1. गैरोला, वाचस्पति, कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी (2003), जनपदनिवेशः 17/1/2। *नदीशैलवनगृष्टि.....सीम्नां स्थापयेत्।* पृष्ठ 77।
2. थापर, रोमिला, आदिकालीन भारत की व्याख्या, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली (1999) पृष्ठ 114।
3. वही, पृष्ठ 114।
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, भूमिच्छिद्र-विधानम्, प्रकरण-18, अधयाय-2, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 82-84।

इसी प्रकार जो भूमि वृक्ष-लता एवं मृगादि पशुओं से सम्बन्धित हो उसे वेदाध्यायी ब्राह्मणों को वेदाध्ययन एवं सोमयाग के लिए तथा तपोवनों को तपस्वियों के लिए संरक्षित कर देना चाहिए।[1] ध्यातव्य है कि वैदिक कालीन धार्मिक ग्रन्थों में यह निर्देश दिया गया है, कि पर्यावरण की शुद्धि हेतु यज्ञादि कार्य आवश्यक है। इसी प्रकार दो कोस परिमाण के मृग-वन को राजा के विहार हेतु तैयार करवाना चाहिए। उस विहार वन के दो दरवाजे हों, जिसके चतुर्दिक खाई खुदी होनी चाहिए उसमें स्वादिष्ट फल, लता, गुल्म एवं वृक्ष हों, वह कांटेदार पेड़ों से रहित होने चाहिए, उसमें कम गहरे सरोवर हों, मनुष्यों से परिचित मृग हों, मृगया के लिए वहाँ ऐसे व्याघ्र, हाथी, हथिनी तथा उनके बच्चे रहते हों जिनके नाखून एवं दाँत न हों।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य मौर्य सम्राट के इस प्रकार के रहन-सहन की व्यवस्था द्वारा जहाँ एक तरफ सम्राट को पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी की महत्ता का आभास कराना चाहता था वहीं दूसरी तरफ सामान्यजन को भी यह सांकेतिक निर्देश देना चाहता था कि प्राकृतिक तत्वों का संरक्षण ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इसी प्रकार 'कुप्याध्यक्ष' प्रकरण में उसने चंदन, पलाश, अशोक आदि के लिए अलग-अलग वन संरक्षित करने का निर्देश दिया है।[3] इसी तरह देश-देशान्तर से लाए गए पशु-पक्षियों एवं जानवरों के लिए अलग वन संरक्षित करने का निर्देश दिया है।[4] विदेशों से मँगाए गए पशु-पक्षी एवं जानवर इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मौर्य शासक उच्चकोटि की जैव विविधता में विश्वास करते थे। अतः कौटिल्य द्वारा निर्धारित वन एवं वन्यजीव संरक्षण नीतियों में पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी सन्तुलन ही महत्वपूर्ण बिन्दु था क्योंकि समकालिक साक्ष्य इस बात की प्रचुर मात्रा में जानकारी प्रदान करते हैं कि उस समय मौर्य साम्राज्य की सीमा के अन्दर पशु-पक्षियों एवं जानवरों की बाहुल्यता थी। मेगस्थनीज ने भारत के ऐसे जंगली पशुओं-पक्षियों का वर्णन किया है जो यूनान में सदैव पालतू रूप में देखे जाते थे। यथा- भेड़, कुत्ते, बकरी, बैल, गाय, घोड़ा, हाथी, एक सींग वाला घोड़ा (गैडा), बारहसिंगा आदि।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में पशुओं की संख्या इतनी अधिक थी कि वे स्वतन्त्र रूप से जंगलों को अपना निवास स्थान बनाते थे। मौर्य काल में भी ये पशु आवश्यकतानुसार प्रचुर मात्रा में पाले जाते थे। इसी प्रकार निआर्कस एवं एरियन ने अनेकों भारतीय पक्षियों का वर्णन किया है, जिनमें प्रमुखतः तोते का वर्णन करते हुए एरियन ने कहा है कि तोते तीन प्रकार के होते थे। सिखाए गए तोते बच्चों की भाँति मृदुभाषी एवं वाचाल होते थे, आदमी की भाषा बोलते समय ये बीच-बीच

1. वही, भूमिच्छिद्र-विधानम्, पृष्ठ 82-84।
2. वही, भूमिच्छिद्र-विधानम्, पृष्ठ 82-84।
3. वही, भूमिच्छिद्र-विधानम्, पृष्ठ 82-84।
4. वही, भूमिच्छिद्र-विधानम्, पृष्ठ 82-84।
5. शास्त्री, के0ए0 नीलकण्ठ, नन्द-मौर्य-युगीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली (1969), पृष्ठ 102-103।

में टांय-टांय भी करते थे।[1] इसी प्रकार एरियन लिखता है कि भारत के मोर दुनियाँ भर के मोरों से ज्यादा बड़े एवं सुन्दर होते हैं। सिकन्दर भारतीय मोरों की सुन्दरता से इतना मुग्ध हुआ कि उसने कहा यदि कोई मोर मारेगा तो उसे कठोर दण्ड दिया जाएगा।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि भारत में ऐसे पशु-पक्षियों की मात्रा पर्याप्त थी तथापि जैव-विविधता को ध्यान में रखते हुए मौर्य शासकों द्वारा विदेश नीति के तहत विदेशों से पशु पक्षियों का आयात किया गया था।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा मौर्य कालीन शासन प्रणाली में **कृषि-नीति के तहत प्रमुख अधिकारी ¼कृषिनिदेशक½ के रूप में 'सीताध्यक्ष'** की नियुक्ति की गयी थी। यह न केवल साम्राज्य की कृषि उन्नति पर ध्यान देता था अपितु राज्य की सीता भूमि पर खेती भी करवाता था। राज्य के नियमानुसार सीताध्यक्ष के लिए यह आवश्यक था कि वह कृषि विद्या में प्रवीण होने के साथ-साथ वनस्पति के आयुर्वेद का भी ज्ञाता हो। अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण में कहा गया है कि सीताध्यक्ष कृषिशास्त्र, शुल्बशास्त्र और वृक्ष-विज्ञान की पूरी जानकारी हासिल करे और इन समस्त विद्याओं के विशेषज्ञों को अपना सहायक बनाकर यथासमय अन्न, फूल, फल, शाक, कंद, मूल, सन, जूट और कपास आदि के बीजों का संग्रह करे।[3] कृषि के तहत आने वाले खेतों की सीमाएं सावधानीपूर्वक निश्चित की जानी चाहिए।[4] यद्यपि इसका उद्देश्य रोमिला थापर ने उचित 'कर' आकलन एवं संग्रहण को माना है तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके मूल में तकनीकी एवं पर्यावरणीय कारण भी रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सीमाएं भूमि की गुणवत्ता के आधार पर निश्चित की जाती थी जिससे भूमि की स्थिति की जानकारी प्राप्त की जा सके। यह भी कारण हो सकता है कि किस भूमि में कितनी मात्रा में किस प्रकार के उर्वरक की आवश्यकता है? एवं कितने पानी की आवश्यकता है? इसकी जानकारी किए बगैर किसी प्रकार का क्रिया-कलाप ठीक नहीं है, ऐसा उनका मानना रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें मृदा परीक्षण की पूर्ण जानकारी थी जैसा कि अर्थशास्त्र में कृषि कार्य हेतु जल वितरण के सम्बन्ध में कहा भी गया है कि वर्षा-जल को मापने के लिए बनाए हुए एक हाथ मुँह वाले कुण्ड में यदि सोलह द्रोण पानी भर जाय तो समझना चाहिये कि रेतीली जमीन फसल बोने के योग्य हो गई है। इसी प्रकार वर्षा वाले प्रदेशों के लिए चौबीस द्रोण पानी, दक्षिणी प्रदेशों के लिए साढ़े तेरह द्रोण पानी, पश्चिमी प्रदेशों के लिए अधिक से अधिक और हिमालय प्रदेशों तथा नहरी प्रांतों के लिए समय-समय का

---

1. वही, पृष्ठ 102-103।
2. वही, पृष्ठ 103।
3. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-40, अध्याय-24, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 195।
4. थापर, रोमिला, (प्रदीप कान्त चौधरी अनु0), मौर्य साम्राज्य का पुनरावलोकन, ग्रन्थशिल्पी, दिल्ली (2007) पृष्ठ 18।

पानी, फसल बोने के लिए उचित है।[1] पश्चिमी प्रदेशों के लिए अधिक से अधिक पानी का निर्देश इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि उस समय भी पश्चिमी प्रदेश शुष्क क्षेत्र की श्रेणी में आता था इस बात को मौर्य कालीन शासक भली-भाँति जानते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि 1500 ई0पू0 के आसपास हड़प्पा सभ्यता का पतन हुआ जिसका कारण जलवायु परिवर्तन एवं नदियों का सूखना था, जैसा कि घोष ने कहा है कि भूमि की शुष्कता का विस्तार सभ्यता के अन्त के लिए महत्वपूर्ण कारण रहा।[2] ज्ञातव्य है कि सिन्धु क्षेत्र अफगानिस्तान एवं बलूचिस्तान तक विस्तृत था जो कालान्तर में मौर्य साम्राज्य का पश्चिमोत्तर भाग बना।

सन्तुलित एवं संरक्षित पर्यावरण ही अच्छी फसल उत्पादन का महत्वपूर्ण कारक होता है क्योंकि फसलें अनुकूल मौसम के अधीन ही पुष्पित, पल्लवित एवं संवर्द्धित होती हैं तथा अनुकूल एवं सन्तुलित मौसम स्वच्छ पर्यावरण पर निर्भर होता है। अतः पर्यावरण, मौसम एवं फसल परस्पराश्रित होती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही कौटिल्य एवं मौर्य शासकों द्वारा कृषि सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित की गयी थीं जो मूलतः पर्यावरण संरक्षण में सहायक थीं। इसीलिए मौर्य काल में तीन अलग-अलग फसलों के मौसमों का उल्लेख किया गया है। यथा-पानी/वर्षा कालीन फसलें-चावल (शालि अथवा ब्रीहि), कोदों (कोद्रव), तिल, मिर्च और जाफरान (प्रियांगु) शीतकालीन फसलें एवं ग्रीष्मकालीन फसलें।[3] इससे यह विदित होता है कि मौर्यकालीन शासक मौसम एवं पर्यावरण के प्रत्येक पहलू से भली-भाँति परिचित थे और मौसम के अनुसार ही मौर्यकालीन कृषि नीतियाँ निर्धारित की जाती थी। अर्थशास्त्र में निर्देश दिया गया है कि ऋतुओं को ध्यान में रखते हुए पानी की सुविधा को देखकर ही खेतों में बीज बोना चाहिए। नदी के कछारों एवं किनारों की जमीन पेठा, कद्दू, ककड़ी और तरबूज आदि बोने के लिए उपयुक्त है।[4] साग-सब्जी बोने के लिए कुओं के आस-पास की जमीन उपयुक्त होती है, जई आदि बोने के लिए झील तथा तालाबों के किनारे की गीली जमीन उपयुक्त होती है, धनियाँ, जीरा खस, नेत्रवाला तथा कचालू आदि बोने के लिए ऐसे खेत होने चाहिए जिनके बीच में तालाब बने हों, सूखी और गीली जमीन में जिन-जिन फसलों की उपज अच्छी हो उनको समझ कर बोना चाहिए।[5] इसी प्रकार कटे या घावयुक्त पौधों एवं बीजों के लिए निर्देश देते हुए कहा गया

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-40, अध्याय-24, पूर्वोद्धृत,।
2. थपलियाल, किरण कुमार एवं शुक्ल, संकटा प्रसाद, सिन्धु सभ्यता, उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (1985), पृष्ठ 260।
3. मुखर्जी, राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1990) पृष्ठ 131।
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-40, अध्याय-24, पूर्वोद्धृत,। *फेनाघातो वल्लीफलानाम् ..... पिण्डालुकादीनाम्।* पृष्ठ 197।
5. पूर्वोद्धृत, *यस्थास्वं भूमिषु.....स्थापयेत्।* पृष्ठ 198।

है कि बोए जाने वाले गन्ने के कटे हुए भागों पर शहद, घी के साथ गोबर मिलाकर लगा देना चाहिए; सूरन, सकरकन्द आदि कन्दफलों के कटे हुए स्थानों पर गोबर-शहद का लेप अथवा घी का लेप लगाकर ही बोना चाहिए; कपास आदि के बीजों को गोबर आदि से लपेट कर बोना चाहिए तथा आम, कटहल आदि के बीज को किसी गड्ढे में डालकर कुछ गर्मी दी जाने के बाद उन्हें गाय की हड्डी और गोबर के साथ मिलाकर रखा जाना चाहिए।[1] ऐसे तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उस समय मिट्टी की गुणवत्ता, पानी की सुविधा एवं मौसम की स्थिति एवं परिस्थिति ही फसलों की बुवाई के निर्धारक तत्त्व थे जिसमें कृषि विशेषज्ञों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी जिसके सहयोग के लिए निश्चित ही कोई पर्यावरण विशेषज्ञ अथवा मौसम विज्ञानी राज्य द्वारा नियुक्त किया गया होगा। अतः मौर्य काल में कृषि विकास की अवस्था के महत्त्वपूर्ण सोपान का पता चलता है जिसमें कौटिल्य की भूमि व्यवस्था, सेचन प्रक्रिया, बीज निर्माण एवं संरक्षण विधि तथा कृषि कर्म के तौर-तरीकों के साथ-साथ उसमें प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों एवं उपकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी नीतियों से इतर नहीं माना जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य शासक इस प्रकार की कृषिनीति लागू करके सामान्य जन को यह सन्देश देना चाहते थे कि जिस प्रकार भरण-पोषण एवं जीवित रहने के लिए कृषि कार्य जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है, उसी प्रकार समुचित एवं सन्तुलित कृषि कार्य सम्बन्धी क्रिया-कलाप द्वारा पर्यावरण संरक्षण भी जीवन का महत्वपूर्ण पहलू है जिसे मानव जीवन के प्रत्येक दिन के क्रिया-कलापों से अलग करके नहीं देखना चाहिए।

मौर्यकालीन **जल-प्रबन्धन/संरक्षण सम्बन्धी नीति** जिसे प्राचीन धर्मग्रन्थों में पंच तत्त्वों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक के रूप में स्वीकार किया गया है, के बारे में अत्यन्त रोचक तथ्य जहाँ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त होते हैं, वहीं मौर्यकालीन शासकों एवं जन-सामान्य द्वारा उसे कार्य रूप में परिणत भी किया गया है। रोमिला थापर[2] का मानना है कि राज्य द्वारा कृषि की गहनता में वृद्धि के लिए सिंचाई या तथाकथित जलव्यवस्था तन्त्र (हाइड्रोलिक मशीनरी) का विकास अपेक्षित था। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र प्रान्त में सुदर्शन झील नामक एक विशाल सिंचाई परियोजना अपने राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा आरम्भ करवायी जिसे कालान्तर में अशोक के राज्यपाल तुषाष्प ने पूरा करवाया।[3] अर्थशास्त्र में नदी, तालाब, कुओं और झरनों आदि से जल प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। राज्य द्वारा इस प्रकार की विशाल

---

1. पूर्वोद्धृत, *मधुधृतसूकरवसाभिः .....अस्थिबीजानां शाकृदालेपः।* पृष्ठ 198।
2. मौर्य साम्राज्य का पुनरावलोकन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 20।
3. सरकार, डी0सी0, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, कोलकाता (1965) पृष्ठ 175।

जल परियोजना का निर्माण इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि सम्राट जल के संरक्षण हेतु अत्यन्त संवेदनशील था। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकालीन जन इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि जल ही जीवन है। प्रत्येक पहलू का वह मूल तत्त्व है, जिस पर जीव-जगत् का समस्त क्रिया-कलाप आश्रित है यथा- कृषि, पशुपालन, फसल, पेड़-पौधे एवं वनस्पतियाँ इत्यादि। इसीलिए मिट्टी की समरसता बनाए रखने हेतु मौर्य काल में चार प्रकार के सिंचाई के कृत्रिम साधनों का उल्लेख प्राप्त होता है अर्थात् हाथ द्वारा सिंचाई, बर्तन में भरकर कन्धे पर लादकर ले जाए गए पानी द्वारा सिंचाई, नदी, स्रोतों, झीलों अथवा कुओं से पानी लाकर सिंचाई और नलों द्वारा सिंचाई आदि।[1] सिंचाई परियोजनाओं एवं नहरों के निर्माण के लिए स्थानीय प्रयास संगठित किये जाते थे और इनकी देखभाल व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से स्थानीय स्तर पर की जाती थी।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि न सिर्फ राज्य अपितु जन-सामान्य भी प्राकृतिक सन्तुलन के प्रति अत्यन्त संवेदनशील था। मेगस्थनीज का मानना था कि मौर्यकाल में दो-फसली खेती जल की उत्तम व्यवस्था और उपलब्धता तथा भूमि की उर्वरता के कारण सम्भव हो पाती थी।[3] किन्तु समकालीन ग्रन्थों में दो-फसली ही नहीं अपितु बहु-फसली खेती का उल्लेख बारम्बार आया है जिसका मूल कारण पर्यावरण संरक्षण एवं सन्तुलन को माना जाना चाहिए। ध्यातव्य है कि जहाँ एक तरफ बहु-फसली खेती उत्पादन प्रणाली को नियंत्रित करते हैं वहीं दूसरी तरफ मिट्टी की गुणवत्ता में वृद्धि करके मिट्टी के आवश्यक तत्वों में सन्तुलन पैदा करते हैं जिसमें पानी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मौर्य शासक ने न सिर्फ पानी की समुचित उपलब्धता के लिए झीलों, नहरों, तालाबों, कुँओं आदि का निर्माण करवाया अपितु जल संरक्षण हेतु अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति भी की। जिससे पानी का अनायास क्षरण न हो और राज्य के समस्त नागरिकों को सरलता से पानी उपलब्ध हो सके। मेगस्थनीज ने लिखा है कि अधिकारियों का एक विशेष दल नहरों के जलद्वार (सुलिस) पर नियंत्रण रखता था और किसानों के पानी की आपूर्ति को संचालित करता था।[4] मौर्यकालीन एवं उत्तर-मौर्यकालीन अभिलेख यह साक्ष्य प्रदान करते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, रुद्रदामन एवं गुप्तसम्राट स्कन्दगुप्त ने अपने-अपने शासन काल में गिरिनार प्रान्त में स्थित सुदर्शन झील का निर्माण एवं जीर्णोद्धार करवाया जिससे सिंचाई व्यवस्था उत्तम हुई। शुक्रनीतिसार में भी जल के महत्व को बताते हुए कहा गया है कि ''हीन राष्ट्र में जैसे-जैसे जल की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वह राष्ट्र समृद्धशाली होता है, अतः राजा को चाहिए कि वह कूप, तड़ाग एवं नदियों पर बाँध आदि का निर्माण

1. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 131।
2. वहीं, पृष्ठ 131।
3. वहीं, पृष्ठ 131।
4. वहीं, पृष्ठ 131।

कराएं क्योंकि यह कृषि कार्य करने हेतु मिट्टी की समरसता बनाए रखने के लिए परम आवश्यक है।[1]'' राधाकुमुद मुखर्जी[2] का मत है कि सिंचाई विभाग के अधिकारियों के प्रमुख कार्य नदियों की देखरेख, नालों का प्रबन्धन, नालियों का निर्माण, टूटी हुई नालियों की मरम्मत के साथ ही उन नालों एवं नाकों का संरक्षण करना था जिनसे पानी नहरों एवं रजवाहों से होकर सिंचित होने योग्य भूमि में पहुँचता था।

मौर्यकालीन **वन प्रबन्धन नीति के तहत 'कुप्याध्यक्ष'** नामक अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी जो 'वनपाल' एवं 'द्रव्यपाल' नामक अधिकारियों की सहायता से जंगलों की देख-भाल करता था। जंगलों से प्राप्त होने वाले द्रव्यों को अर्थशास्त्र में 'कुप्य'[3] कहा गया है। कुप्य पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, साल, खैर, शिरीष, देवदार, कत्था, राल, अन्य जंगली पेड़-पौधे एवं झाड़ियाँ और वन-औषधि आदि से है जो पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण सन्तुलन के महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। ज्ञातव्य है कि वन एक अमूल्य प्राकृतिक सम्पदा है जिसे भोजन शृंखला की आधारभूत इकाई के रूप में स्वीकार किया जाता है। पारिस्थितिकी एवं ईकोतन्त्र के सन्तुलन में वनों की भूमिका को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। प्राचीन भारतीय धर्म-ग्रन्थों में वन-देवियों की संकल्पना तथा समस्त मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष की अवधारणा वनों के प्रति पूज्य भाव एवं वनों की उपादेयता के परिचायक हैं। आचार्य कौटिल्य का मानना था कि वन केवल वृक्षों का विस्तृत समूह ही नहीं है अपितु वनस्पति जगत्, वन्य-प्राणी, वन्य-द्रव्य, वनभूमि एवं इनसे प्राप्त होने वाली विपुल सम्पदा की सम्मिलित संज्ञा है।[4] अर्थशास्त्र में कहा गया है कि फूल, फल, केला, सुपारी, अन्न के खेत, अदरक और हल्दी के खेत आदि को 'सेतु' कहा जाता है।[5] इसी प्रकार गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि जानवरों को 'व्रज' कहा गया है क्योंकि ये अपने गोष्ठ (व्रज) में रहते हैं।[6] विचारणीय है कि इन समस्त प्राकृतिक सम्पदाओं का सम्बन्ध वन एवं भूमि से है जो पारिस्थितिकी तन्त्र के महत्वपूर्ण घटक हैं। इनकी सुरक्षा हेतु किये गये व्यय का विधान भी अर्थशास्त्र में दिया गया है, जिसका पालन मौर्यशासकों एवं जनसामान्य द्वारा कड़ाई से किया जाता था। व्यय के बारे में अर्थशास्त्र में कहा गया है कि व्रज (उपयोगी पशु), सेतु (फल-फूल, अन्न आदि), हरिण, पक्षी आदि की सुरक्षा

---

1. राव, राजवन्त एवं उपाधयाय, ओम जी, भारत में कृषि एवं कृष्टाक समुदाय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली (2010), पृष्ठ 257।
2. मुखर्जी, राधाकुमुद, प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1990), पृष्ठ 63।
3. विद्यालंकार, सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, श्री सदन नई दिल्ली (2005), पृष्ठ 185।
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-22, अधयाय-6, पूर्वो)त,, *पशुमृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम्।* पृष्ठ 100।
5. वहीं, *पुष्फलवाटषण्डकेदारमूलवापाः सेतुः।* पृष्ठ 100।
6. वहीं, *गोमहिषमजातिकं खरोष्ट्रमज्वाज्वतराश्च व्रजः।* पृष्ठ 100।

में किया गया व्यय; देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन आदि धार्मिक कृत्यों (जिससे पर्यावरण शुद्ध होता है) पर किया गया व्यय, हिंसक जंगली जानवरों की सुरक्षा पर किया गया व्यय और स्थान, लकड़ी, घास आदि के जंगलों की सुरक्षा के लिए किया गया व्यय आदि ये सभी व्यय की श्रेणी में आते हैं।[1] अर्थशास्त्र के माध्यम से समाहर्त्ता (कलेक्टर जनरल) को यह निर्देश दिया गया है कि वह सेतु, वन, व्रज आदि की सुरक्षा सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण करे और अपने अधीनस्थ अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा उनके संरक्षण, संवर्द्धन आदि की व्यवस्था कराए जैसा कि मौर्यशासकों द्वारा अपनायी गयी नीतियों एवं कार्यो से भी परिलक्षित होता है जिसमें समाहर्त्ता द्वारा इन कार्यो के निर्वहण का साक्ष्य प्राप्त होता है।

अर्थशास्त्र के अनुरूप मौर्य शासकों का मानना था कि जैव-अस्तित्व वनों पर निर्भर है अतः वन संरक्षण आवश्यक है। वन मानव जीवन का आधार भी है और उनके आवासों का संरक्षक भी। अर्थशास्त्र में वनों के अनेक प्रकार बताए गये हैं जिनमें प्रमुखतः सारदारु वर्ग, वेणु वर्ग, वल्ली वर्ग, वल्क वर्ग, रज्जु वर्ग, पत्र वर्ग, पुष्प वर्ग, औषधि वर्ग, विष वर्ग, प्राणि वर्ग, लौह वर्ग एवं भाण्ड वर्ग आदि हैं।[2] आचार्य कौटिल्य द्वारा निर्देशित मौर्यशासकों का मानना था कि अमूल्य वन सम्पदा के निरन्तर प्राप्ति के लिए वनों के क्षरण को रोकना आवश्यक है। इसके लिए राज्य द्वारा निर्देश दिया गया कि पुराने वनों को नष्ट होने से बचाया जाय एवं नये वनों का रोपण भी किया जाय। इसीलिए मौर्य शासकों द्वारा वन प्रबन्धन की नीति को अपनाते हुए उसके कार्यान्वयन के लिए विभागीय वनाधिकारियों की नियुक्ति की गयी। जिनका प्रमुख कार्य वन संरक्षण के साथ-साथ खाली जमीन पर नये वृक्षों का रोपण करके अनुर्वर जमीन को उर्वर बनाकर उसके सर्वोत्तम उपयोग द्वारा भूमि की गुणवत्ता को पुनःस्थापित करना था। ज्ञातव्य है कि वृक्ष एवं झाड़ी विहीन ऊषर एवं बंजर जमीन का कटाव भी तीव्र गति से होता है। इस बात से तत्कालीन लोग भली-भाँति परिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य शासकों की इस नीति में यह उद्देश्य निहित था कि वन को संरक्षित करने से उसमें निवास करने वाले समस्त जीव-जन्तुओं एवं पशु-पक्षियों को जहाँ एक तरु आश्रय स्थल प्राप्त होगा वहीं दूसरी तरफ वे स्वतः ही संरक्षित भी हो जायेंगे और पारिस्थितिकी सन्तुलन निरन्तर बना रहेगा।

गुप्तचर व्यवस्था : मौर्य शासकों द्वारा जहाँ एक तरफ वनों के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु अधिकारियों की नियुक्ति की गयी वहीं दूसरी तरफ इस बात का भी ध्यान रखा गया कि किसी भी अधिकारी एवं कर्मचारी द्वारा अपने कार्यो के सम्पादन में लापरवाही न बरती जाय। इसकी जानकारी के लिए राज्य द्वारा गुप्तचरों की नियुक्ति की गयी जिन्हें

---

1. वहीं, *देवपितृपूजादानार्थ.....व्ययशरीरम्।* पृष्ठ 100।
2. घोष, इला, संस्कृत साहित्य एवं पर्यावरण (पर्यावरण सहस्रस्रोतस्विनी) कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वन प्रबन्धन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली (2011), पृष्ठ 204।

'गूढ़पुरुष'[1] कहा जाता था जिसे मौर्य शासन व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। ये दो भागों में विभाजित थे **संस्था** एवं **संचार,** जो सीधे सम्राट के नियंत्रण में होते थे। इनका कार्य अधिकारियों कर्मचारियों के साथ ही उन व्यक्तियों पर भी निगाह रखना होता था जो किसी भी प्रकार से राज्य की कृत्रिम एवं प्राकृतिक सम्पदा को हानि पहुँचायें। अशोक का मानना था कि राज्य संचालन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है अतः वह जो कुछ भी कर रहा है वह लोक कल्याण और लोक सुख के लिए कर रहा है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति प्रदत्त समस्त जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों से राज्य समृद्ध रहे। लोक सुख एवं लोक कल्याण उसके लिए सर्वोपरि है। उसका प्रयास है कि उसकी जनता परलोक में भी स्वर्ग सुख प्राप्त कर सकें। अतः कहा जा सकता है कि इन खुफिया अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भी पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण सन्तुलन में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

मौर्य शासकों द्वारा पर्यावरण संरक्षण हेतु ऐसी नीतिया बनायी गयी थीं जिसके तहत जंगलों या ऋषियों के आश्रमों में रहने वाले जीव-जन्तुओं यथा- मृग, गैंडा, भैंसा, मोर तथा मछलियों को मारना या पकड़ना निषिद्ध कर दिया गया था। इस कार्य हेतु सम्राट द्वारा 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी जिसे यह सख्त निर्देश दिया गया था कि यदि कोई व्यक्ति किसी भी ऐसे जीव-जन्तु को पकड़े, मारे या क्षति पहुँचाए तो सूनाध्यक्ष का यह परम कर्त्तव्य है कि उस व्यक्ति को उत्तम साहस दण्ड दिलवाएं। किन्तु यही अपराध यदि किसी राज-परिवार के व्यक्ति द्वारा जाने या अनजाने में किया जाय तो उसे भी मध्यम साहस दण्ड देना चाहिए।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यशासक अपनी इस नीति द्वारा जनसामान्य तक यह सन्देश देना चाहते थे कि पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण असन्तुलित करने वाले किसी भी अपराधी को क्षमा नहीं किया जा सकता है, चाहे वह राज-परिवार का ही क्यों न हो। ज्ञातव्य है कि सम्राट अशोक ने अपने राजकीय दैनिक पाकशाला में भी जीव-जन्तुओं एवं पशु-पक्षियों की हत्या को निषिद्ध कर दिया था। सम्राट का सख्त निर्देश था कि आरक्षित जंगलों से इतर यदि कोई व्यक्ति किसी अनारक्षित जंगल से भी किसी पशु-पक्षी या मृग आदि को पकड़े तो उसे भी उससे बलपूर्वक छीन कर सरकारी जंगलों में छोड़ देना चाहिए।[3] मौर्य शासक न सिर्फ जंगलों के जीव-जन्तुओं के संरक्षण तक सीमित थे अपितु वे समुद्र, तालाब, झील, नदी एवं नहरों में विचरण करने वाले जीव-जन्तुओं को भी संरक्षित करने का निर्देश जारी करते थे, जिससे इकोसिस्टम के सन्तुलन की अवधारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। आचार्य कौटिल्य के अनुसार ''समुद्र में पैदा होने वाले, हाथी, घोड़े, पुरुष, बैल, गधा आदि की आकृति वाले मत्स्य, सारस, आदि

1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, पूर्वोद्धृत, प्रकरण-7, अध्याय 11। पृष्ठ 32-33।
2. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-42, अध्याय-26, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 205।
3. वहीं, *पक्षिमृगाणां जीवत्षड्भागमभयवनेषु प्रमुञ्चेत्।* पृष्ठ 205।

जलचर प्राणी, तालाबों, झीलों, नदियों एवं नहरों में पैदा होने वाली छोटी-बड़ी मछलियाँ, क्रौंच, टिटहरी, जलकौवा, हंस, चक्रवाक, जीवजीवक, भृङ्गराज, चकोर, मत्तकोकिल, मोर, तोता, मदन मैना और बुलबुल, तीतर, बटेर तथा मुर्गा आदि क्रीड़ायोग्य पक्षियों को रक्षित एवं संरक्षित किया जाय।'' इनको किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।[1] ये तथ्य इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि मौर्य शासकों द्वारा सृजित ऐसे विभागों एवं उसके विभागाध्यक्षों की नियुक्ति का मूल उद्देश्य निश्चित रूप से प्रकृति, पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण को सन्तुलित करना था। यद्यपि इसके आर्थिक पक्ष को नकारा नहीं जा सकता है जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि सूनाध्यक्ष जो बूचड़खाने का अध्यक्ष होता है तथा जिसके नियंत्रण में पशु-पक्षियों की हत्या करने का कार्य निहित हो, उसे जीव-जन्तुओं को संरक्षित करने का कार्य राज्य द्वारा सौंपा जाना किसी विशिष्ट उद्देश्य की ओर संकेत करता है। इस नीति को मौर्यकालीन विशिष्ट पर्यावरण सरंक्षण नीति के रूप में देखे जाने की आवश्यकता है।

अर्थशास्त्र में **पशुपालन विभाग के अधिकारी को 'गो·ध्यक्ष'** कहा गया है। कौटिल्य का मानना था कि गायों को पालने वाले (गोपालक), भैसों को पालने वाले (पिण्डारक), गाय, भैंस को दूहने वाले (दोहक), दही को मथने वाले (मंथक), हिंसक पशुओं से गाय, भैंस की रक्षा करने वाले (लुब्धक), ये पाँच-पाँच व्यक्ति मिलकर सौ-सौ गाय, भैंसों का पालन करें।[2] इसी प्रकार इस बात का भी कठोर निर्देश दिया गया है कि इस कार्य के बदले इन्हें नकद वेतन दिया जाय किन्तु दूध, दहीं आदि में इनका कोई भी हिस्सा नहीं होना चाहिए अन्यथा दूध के हिस्से के लालच में ये उन पशुओं के बच्चों को मार देंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य द्वारा दूध देने वाले मादा पशुओं यथा गाय, भैंस आदि की एक अलग श्रेणी बनायी गयी थी क्योंकि इनके माध्यम से ही पशुओं के जन्म-दर में वृद्धि सम्भव थी। अर्थात् क्षरण के साथ सृजन अथवा उत्पत्ति पर आचार्य ने विशेष बल दिया है क्योंकि इसी प्रक्रिया द्वारा ही प्राकृतिक सन्तुलन सम्भव था। प्राचीन वैदिक कालीन **धार्मिक ग्रन्थों में गाय को महत्वपूर्ण पशु के साथ ही पवित्र पशु के रूप में भी स्वीकार** किया गया है जिसके पंचगव्य (दूध, दही, घी, गोबर व गोमूत्र) को पर्यावरण शुद्धिकरण का महत्वपूर्ण स्त्रोत माना गया है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गाय की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध करते हुए कहा है कि दलदल में फँसी, गढ्ढे में गिरी, बीमार, बूढ़ी, पानी तथा आहार के अभाव में नष्ट, वृक्ष तले दबी, चट्टान या शिलाओं से जख्मी, बिजली गिर जाने से नष्ट, हिंसक जानवरों से आक्रांत, साँप या जंगली आग से नष्ट आदि

---

1. वहीं, *सामुद्रहस्त्यश्वपूरुषवृशगर्दभाकृतयो मत्स्याः .....पूर्वः साहस दण्डः।* पृष्ठ 205।
2. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-45, अध्याय-29, पूर्वोद्धृत, *गोपालकपिण्डार ..... वेतनोपग्राहिकम।* पृष्ठ 216।

गायों की असावधानी के कारण मृत्यु या क्षति हो तो उस हानि को वह स्वयं पूरा करे।[1] इसी प्रकार एक अन्य उद्धरण में कहा गया है कि यदि कोई ग्वाला गाय को मारे, या किसी से मरवावे; उसकी चोरी करे, या करवावे; तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए।[2] इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विभाग के अध्यक्ष को यह आदेश दिया गया है कि उसे इन सभी बातों की पूरी जानकारी रखना अनिवार्य है। गाय के साथ ही अन्य पशुओं के देखभाल और संरक्षण के बारे में निर्देशित करते हुए कहा गया है कि पशुओं को पानी पिलाने एवं नहलाने के लिए ऐसे स्थान से उतारना चाहिए, जहाँ चौरस घाट बने हों और दलदल एवं हिंसक जलचर जन्तु दोनों न हों;[3] गोपालकों को सख्त निर्देश था कि पूरी सावधानी से उनकी रक्षा करते रहें। इसी प्रकार गोपालक के कर्तव्यों का ध्यान दिलाते हुए कहा गया है कि वे चोर, व्याघ्र, सांप आदि से आक्रांत और बीमारी तथा बुढ़ापे से मरे हुए पशुओं की सूचना अध्यक्ष को दें, अन्यथा मृत पशु के नुकसान का दायित्व उन पर समझा जायेगा।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकाल में अर्थशास्त्र के नियमानुसार पशुधन संरक्षण पर अत्यधिक ध्यानाकर्षण था। क्योंकि उनके संरक्षण एवं संवर्द्धन का सीधा सम्बन्ध जीव संरक्षण से था। इसीलिए अर्थशास्त्र में कहा गया है कि ग्वालों को चाहिए कि वे सावन, भादों, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष महीनों में गाय व भैंस जैसे दुधारू पशुओं को दो समय दुहें। माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख ज्येष्ठ और आषाढ़ में केवल सायंकाल में ही दुहें।[5] किन्तु माघ से आषाढ़ तक इन छः महीनों में गाय, भैंस को दोनों समय दुहने वाले व्यक्ति का अंगूठा काट देना चाहिए।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य द्वारा इसका निर्धारण मौसम, तापमान, वायुदाब, शुष्क एवं सरस हवा के अनुसार होता था जिससे गाय आदि दुधारू पशुओं के स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव न पड़े।

भवन निर्माण प्रणाली के लिए भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विधि-विधान का उल्लेख किया गया है। मकान मानव जीवन का वह महत्वपूर्ण पहलू है जिसके निर्माण में जल, वायु एवं प्रकाश का विशेष महत्व है। आचार्य कौटिल्य नें इसके वास्तुशास्त्र पर विशेष बल दिया है, जिसका सीधा सम्बन्ध वातावरण की शुद्धता से है। उनका मानना था कि दस दिन के लिए बनाये जाने वाले सूतिकागृह को छोड़कर, बाकी सब मकानों में पाखाना, पाइप, कुआँ, पाकशाला और भोजनशाला अवश्य बनवाने चाहिए। इस नियम का उल्लंघन करने वाले को पूर्व साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।[7] इसी प्रकार मकान के जल निकासी प्रणाली के बारे में कहा गया है कि प्रत्येक मकान पर सवा फुट का गहरा, प्लेन तथा साफ-सुथरा पतनाला पानी के बहने के लिए दीवार के साथ-साथ अथवा दीवार

1. वहीं, *पंकविषमव्याधिजरातो ..... प्रमादादभ्यावहेयुः* । पृष्ठ-218,
2. वहीं, *स्वयं हंता घातयिता ..... च वधय*। पृष्ठ-218।
3. वहीं, *समव्यूढ़तीर्थ .....पालयेयुज्च*। पृष्ठ-219।
4. वहीं, *स्तेनव्याल ..... रूपमूल्यं भजेरन्*। पृष्ठ-219।
5. वहीं, *वर्षाशरे ..... दोग्धुरङ्गुष्ठच्छेदो दण्डः।* पृष्ठ-219।
6. वहीं, *दोहनकाल ..... दण्डः।* पृष्ठ-219।
7. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण-64, अध्याय-8, पूर्वोद्धृत, *अवस्करं भ्रममुदपानं ..... पूर्व साहस दण्डः* । पृष्ठ-286।

से अलग बनवाया जाय। जो व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करेगा वह 50 (पचास) पण दण्ड का भागीदार होगा।[1] घर के सामने के प्रबन्धन के बारे में कहा गया है कि घर के बाहर एक तरफ चार खम्भों से सज्जित एक यज्ञशाला बनवाई जाय, जिसमें एक पद गहरा पानी बाहर निकलने की नाली हो, यज्ञशाला के दूसरी ओर आटा पीसने की चक्की हो और अनाज काटने के लिए ओखली बनवायी जाय। ऐसा प्रबन्ध न करने वाले को चौबीस पण दण्ड दिया जाय।[2]

सर्वलोक कल्याणकारी राष्ट्र का जो स्वरूप कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अर्थशास्त्र के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है–"**प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में उसका हित है। राजा का अपना प्रिय (स्वार्थ) कुछ नहीं है, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है।**"[3] यहाँ प्रजा के सुख का तात्पर्य तत्कालीन पारिस्थितिकीय सन्तुलन से है जिसमें उस भौगोलिक क्षेत्र का सम्पूर्ण वातावरण एवं पर्यावरण की समृद्धि समाहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र रूपी संविधान का राज्य के लिए निर्देश था जिसका पालन करना सम्राट के लिए अनिवार्य था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता भारत में प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है जिसे विश्व के अन्य देश वर्तमान समय में समझ पाये हैं। जबकि उस समय भी विदेशी यात्रियों द्वारा इस महाद्वीप का भ्रमण करके के यहाँ की व्यवस्था का गुणगान किया गया था। साथ ही भारत की प्राकृतिक एवं भौगोलिक समृद्धता का भी विवरण प्रस्तुत किया गया था, जिसे यहाँ के तत्कालीन लोगों की सूझ–बूझ एवं तकनीकी विकास का परिणाम माना जा सकता है कि उस समय भी लोगों द्वारा धारणीय सन्तुलित विकास का मार्ग अपनाया गया था, जिसके रासायनिक दुष्प्रभाव न्यूनतम थे क्योंकि प्रकृति प्रदत्त उत्पादों का समुचित सदुपयोग न्यूनतम प्रदूषण उत्पत्ति का कारक होता है जिसका निदान सम्भव होता है। जैसा कि मौर्यकालीन स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला से भी स्पष्ट होता है।

विश्व पटल पर उत्पन्न वर्तमान समय में प्रकृति एवं पर्यावरण असन्तुल जैसी समस्या के समाधान हेतु भारतीय उपमहाद्वीप में उत्पन्न प्राचीन वैदिककालीन एवं मौर्यकालीन प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी व्यवस्था एवं नीतियों के पुनरावलोकन की आवश्कता है। क्योंकि वायु समस्त तत्वों का वाहक है जिसे रोका नहीं जा सकता है, किन्तु यदि रासायनिक तत्त्वों के प्रयोग में कमी करके जल, भूमि, मृदा, वृक्ष, वनस्पति, पेड़–पौधे एवं इन पर आश्रित पशु–पक्षी एवं जीव–जन्तुओं को संरक्षित कर लिया जाय तो वायु का स्वतः ही शुद्धिकरण हो जायेगा जिसके विधि–विधान का उल्लेख प्राचीनकालीन ग्रन्थों में किया गया है।

---

1. वहीं, *त्रिपदीप्रतिक्रान्त ..... चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः।* पृष्ठ–287।
2. वहीं, *एकपदीप्रतिक्रान्तमरत्निं वा ..... चर्तुविशतिपणो दण्डः।* पृष्ठ–287।
3. गैरोला, वाचस्पति, कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2006। *प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।*

वैदिक वास्तुकला की अवधारणा

डॉ. हनुमान मिश्र

वैदिक वाङ्मय, पुराण, महाकाव्य, बृहत्संहिता एवं मानसार आदि विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में वास्तु-विद्या के अनेक आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। अतः यह निर्विवाद है कि इस विद्या के मूल प्रवर्तकों का जन्म इस देश में अत्यन्त प्राचीनकाल में हुआ था। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक विद्या का अपना अपना अलग जन्मदाता है। विभिन्न दर्शनों के संस्थापक एवं प्रवर्तकों को हम जानते हैं। विभिन्न धार्मिक, नीति-सम्बद्ध एवं आर्थिक तथा राजनैतिक परम्पराओं के प्रवर्तकों को भी हम जानते हैं। इसी क्रम में वास्तुविद्या के मूल प्रवर्त्तकों में हमें दो नाम विशेष रूप से मिलते हैं। वे हैं विश्वकर्मा तथा मय। विश्वकर्मा की कल्पना देवताओं के स्थपति के रूप में सनातन काल से इस देश में चली आयी है। अतः देवभूमि भारत के उत्तरापथ भूभाग पर विश्वकर्मा का अवतार हुआ- ऐसे बहुत संकेत प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। अतः इस भूभाग से सम्बन्ध रखने वाली वास्तुकला तथा उस कला के विभिन्न ग्रन्थों में विश्वकर्मा को वास्तुविद्या का प्रथम प्रवर्तक एवं आचार्य माना गया है।

दैवी संस्कृति के साथ - साथ सनातन से इस देश में आसुरी संस्कृति का सम. ानान्तर रूप में निर्देश किया गया है। यही नहीं संस्कृति के भौतिक रूप में असुरों ने देवों की अपेक्षा विशेष उन्नति की थी-यह हमारे पुरातन ग्रन्थों से स्पष्ट है। ये असुर कौन थे ? विद्वानों ने एतद्देशीय अनार्य जाति के प्रति ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो असुर आदि शब्दों का प्रयोग पाया है उनसे इस देश के आर्येतर निवासियों का बोध माना है। वास्तव में जिसको हम आसुरी सभ्यता कहते हैं वह भी इसी देश के मूल निवासियों की सभ्यता है। इस सभ्यता की वास्तु कला में अत्यन्त प्राचीन नाम जो आर्ष ग्रन्थों में मिलता है वह है मय। मय असुर था। अतः आसुरी वास्तु - विद्या के मूल प्रर्वतक के रूप में इसे माना गया है और इस प्रकार भारतीय वास्तु-विद्या की यह दूसरी परम्परा मयमतम् के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि जिस प्रकार भारतीय आर्य सभ्यता में आर्येतर एतद्देशीय तथा विदेशीय बहुसंख्यक घटक पद-पद पर प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वास्तुविद्या के सिद्धान्तों में भी कालान्तर पाकर पारस्परिक सम्मिश्रण हुआ। एक परम्परा की विद्या में दूसरी परम्परा के आचार्यों के मतों का सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ और पुनः इस महादेश के एक कोने से दूसरे कोने तक स्थापत्य कौशल का जो प्राञ्जल रूप देखने

को मिलता है, उनमे देश भेद होते हुए भी सम्मिश्रण की इस आधार भू रेखा के सर्वत्र समान रूप में दर्शन होते हैं। दक्षिण की द्राविड़-शैली और उत्तर की नागर-शैली दोनों शैलियों के अपने - अपने सुन्दर निदर्शन होते हुए भी एक दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव भी कम प्रत्यक्ष नही है।

सर्वप्रथम वैदिक वास्तु-विद्या के दर्शन करने चाहिए। एतदर्थ ऋग्वेद-कालीन वास्तु विद्या के कुछ तथ्यों का आभास पूर्व ही किया जा चुका है। उस समय वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों का भी प्रचार था जो प्रायः लोग नहीं मानते हैं। ऋग्वेद के काल में गृह निर्माण के अवसर पर जो प्रतिष्ठा-संस्कार या समारोह किया जाता था, जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, वे सब आज भी होते हैं, अतः आगे के प्रत्येक वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में जिस वास्तु पूजा को वास्तु निर्माण का आवश्यक अंग माना गया है, वह ऋग्वेद काल में भी था, ऐसा ऋग्वेद के मन्त्रों को देखने से पता लगता हैं। ऋग्वेद में असुर सम्बन्धित सामग्री के परिशीलन से नग्नजित् तथा त्वष्ट्रा (जो आगे चलकर द्राविड वास्तुविद्या के आचार्य माने गये हैं) आदि आचार्यों के संकेत भी मिलते हैं। संक्षेप में वास्तु पूजा, वास्तु-भूमिचयन, स्तम्भपूजा द्वार पूजा आदि वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक सिद्धान्त ऋग्वेद काल में प्रचलित थे, जिससे तत्कालीन वास्तु-विद्या सिद्ध है।

अथर्ववेद में तो वास्तु विद्या एवं कला का और भी अधिक विकास पाया जाता है। गृह निर्माण के सम्बन्ध में विशेष सामग्री द्रष्टव्य है। अथर्ववेद के शाला-सूक्त में 'द्विपक्षा', 'चतुष्पक्षा', 'षटपक्षा', 'अष्टपक्षा' तथा 'दशपक्षा' शालाओं का वर्णन है[1] और ये कक्षा-भवन आगे के शाल-भवन के ही सदृश है। इसके अतिरिक्त और बहुत से वास्तु विवरण (स्तम्भ आदि पर) इस वेद में मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में वास्तु-विद्या के बहुत संकेत मिलते हैं। 'शिल्प' शब्द की प्राप्ति एवं उसका प्रयोग प्रस्तर कला (मूर्तिकला) तथा संगीत कला में किया गया है। ऋग्वेद-कालीन द्राविड वास्तु-विद्या के आचार्य नग्नजित् का उल्लेख ऊपर किया गया है और वह शतपथ ब्राह्मण[2] में पुष्ट होता है, जहाँ पर नग्नजित् के वास्तु-सिद्धान्तो का खण्डन मिलता है। साथ ही साथ उसे नारद का शिष्य बताया गया है। यह नारद आगे द्राविड वास्तु-विद्या का आचार्य माना गया है। शतपथ ब्राह्मण मे एक और महत्वपूर्ण उल्लेख है जिससे श्मशान विरचन सम्बन्धी आर्य एवं आसुर (अनार्य) परम्पराओं पर संकेत है। सूत्रकालीन वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक स्वरूप का विकास सूत्रकाल में पहले ही कहा जा चुका है। इस काल में भारतीय वास्तु-विद्या का प्रारम्भ होता है, यह स्वरूप प्रायः स्थिर हो चला था। गृह्यसूत्रों को देखने से यह निष्कर्ष पुष्ट होता है । वास्तु - कर्म, वास्तु - मंगल, वास्तु-होम, वास्तु-परीक्षा, भूमि-चयन (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भेद से) द्वार एवं स्तम्भ नियम, वृक्षारोपण, दारु - आहरण, पद-विन्यास, वास्तु विद्या तथा ज्योतिष, वास्तु- फल आदि वास्तु-विद्या के सिद्धान्त, आश्वलायन, गोभिल,

1. अथर्ववेद शालासूक्त 9, 3, 21
2. शतपथब्राह्मण 8.1.4.10

खादिर, शांखायन, पारस्कर तथा हिरण्याक्ष के गृह्यसूत्रों में पद-पद पर प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। शुल्व-सूत्रों का (जो कल्प में ही परिगणित किये जाते हैं) वेदि-निर्माण बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं रोचक है। बड़े -बड़े यज्ञों में आवश्यक वेदियों की निर्माण व्यवस्था में बड़ा ही समय एवं संभार अपेक्षित होता था। वेदि-निर्माण के वास्तुशास्त्रीय ये सिद्धान्त आगे प्रासाद-निर्माण के आधारभूत सिद्धान्त हुए।

वास्तु कार्य में इंद्र-ध्वज-उत्थापन परम्परा का क्या मर्म है? संभवतः स्थपति कुल भी राजन्य क्षत्रियों के समान इन्द्र को अपना इष्ट देवता मानते थे। इसके अतिरिक्त इन्द्रध्वज-जैसा ऊपर संकेत है - एक महायंत्र के रूप में निर्मित किया जाता था, कहने को ध्वजा है वास्तव में धारागृह अथवा दोलागृह के समान एक वास्तु कृति समझनी चाहिये। इसके विभिन्न अंगों के परिशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है। कुष्य (प्रासाद अथवा मण्डप के गर्भगृह के समान) पीठ, भ्रम मूलपाद, मल्ल, इन्द्रमाता कुमारिकायें, लटक, सूची आदि प्रधान अंगों तथा मृगाली आदि रचना विन्छितियों से यह एक आगाराकृति प्रतीत होती है। यंत्र निर्माण स्थापत्य का एक परम कौशल है जो तक्षक का विशिष्ट क्षेत्र है। इन विवरण से तत्कालीन तक्षक कला की अत्यन्त प्रोन्नतावस्था की सूचना मिलती है।

यज्ञवेदी अब स्थापत्य के दूसरे अंग जिस पर विवेचन करने का ऊपर संकेत किया गया है अर्थात् यज्ञवेदी, यजमानशाला एवं कोटिहोम का विधान तथा उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना ही निर्देश आवश्यक है कि भारतीय वास्तुकला का जन्म यज्ञशाला के ही क्रोड से हुआ है। यज्ञवेदियों के अति लघुकलेवर से विशाल मन्दिरों का जन्म हुआ है। वैदिक चिति प्रासाद वास्तु की पूर्वज है ऐसा सभी वास्तु-विशारदों ने माना है। अतः स्थपति के लिये यज्ञशाला एवं उसमे सम्बन्धित अन्य शालायें एवं यज्ञोपयोगी वेदी आदि के निर्माण का ज्ञान आवश्यक ही है। समराङ्गण सूत्राधार[1] में वेदी लक्षण पर जो विचार किया गया है उससे सुतरां सिद्ध है कि यज्ञ वेदियों की ही पृष्ठभूमि पर प्रासादों की निर्माण कल्पना की गयी है। पुरातन वेदियों का सम्बन्ध विशेषकर विभिन्न यज्ञों से था। पूजा-वास्तु की वे प्रथम उन्नायिका थी। कालान्तर में किसी भी शुभ अथवा धार्मिक कार्य में वेदी रचना एक अनिवार्य अंग हो गया ।

अथर्ववेद में सम्पूर्ण प्रकृति-चक्र को यज्ञकर्म मानते हुए पृथिवी को वेदी के रूप में कल्पित किया गया है। दिन को अग्नि, वर्षा को घृत, पृथिवी को वेदी बनाकर अग्नि ने पर्वतों को उत्पन्न किया ऐसा वर्णन किया गया है[2], पार्थिव अग्नि को गार्हपत्याग्नि, सूर्याग्नि को आहवनीय तथा पृथिवी की वैश्वानर अग्नि को दक्षिणाग्नि मानकर चंद्र व सोम को हवि बनाकर दर्श एवं पौर्णमास को ये यज्ञ सम्पन्न किया जाता है।

वस्तुतः वेदी को पृथिवी स्वरूप मानने पर उसकी महत्ता स्पष्ट होती है। ऋग्वेद के

1. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय 47

2. अथर्ववेद 13.01.53

पुरुष सूक्त में वर्णित मानसिक यज्ञ ही सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। विभिन्न प्रकृतिस्थ तत्त्वों को आहुति रूप मानकर यज्ञ द्वारा अपने अहम् कर्तृत्वाभिमान का त्यागकर उस परम ब्रह्म की प्राप्ति ही इस प्रक्रिया का उद्देश्य है। वेदी पृथिवी का ही एक हिस्सा है, जिसे सुविधानुसार किंचित् ऊँचा बना दिया जाता है। अतः उसे पृथिवी रूप मानना उचित है। जिस प्रकार पृथिवी सभी को आधार प्रदान करती है वैसे ही वेदी यज्ञ को सुदृढ आधार प्रदान करती है। जिससे यजमान परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।[1]

भारतीय साहित्य में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। उसमें वास्तु या स्थापत्य संबंधी अनेक उल्लेख मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्व भारतीयों को गृहनिर्माण का सर्वाधिक ज्ञान था। चारों वेदों तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जो स्थापत्य व वास्तु के विविध अंगों पर प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में गृह-विन्यास का जो रूप उपलब्ध है उसकी परम्परा भारत में निरन्तर जारी रही। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि गृहनिर्माण कला सादगी एवं रूचि पूर्ण थी। लोगों का जीवन सादा था इसीलिए निवास गृहों में आडम्बर आवश्यक न समझा जाता था । सौन्दर्यबोध वैदिक आर्यों में विद्यमान था। उसका ज्ञान ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य से होता है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर ''वास्तोस्पति''[2] नामक देवता का उल्लेख मिलता है। गृहनिर्माण से पूर्व इस देवता का आवाहन किया जाता था। जिसमें सेवाल को बाँधकर उस स्थान को शुद्ध किया जाता था। इनके प्रयोग करने से गृह स्वामी को अग्नि का तेज प्राप्त होता है तथा वहाँ का वातावरण शान्त रहता है। पृथ्वी की रक्षा वास्तु के द्वारा होती है। देवता जहाँ यजन करते हैं वह देवत्व वेदी है। यज्ञ ही भुवन की नाभि है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।।[3]

हिमस्यत्त्वा। जरायुणाग्ने परिव्ययामसि।
पावकोऽअस्म्मब्भ्य ँ शिवो भव।।[4]

उपज्मन्नुपवेतसेवतरनदीष्ष्वा।
अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकिताभिरागहि सेमन्नो
यज्ञम्पावकवर्ण्ण ँ शिवङ्कृधि।।[5]

एक स्थान पर वास्तोस्पति तथा इन्द्र को तथा अन्यत्र वास्तोस्पति तथा त्वष्ट्रा को एक ही माना गया है। परवर्ती वास्तु-साहित्य में त्वष्ट्रा को एक कुशल कारीगर माना गया है।[6]

1. पृथिवी वेदि ऐतरेयब्राह्मण, 5.28, एतावती वै पृथिवी तावती वेदिः तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.2.9.12 .
2. ऋग्वेद- 07 मण्डल 54, 55 सूक्त, 08/17/14
3. शु. य. 23.62
4. शु. य. 17.5
5. तत्रैव 17.6
6. ऋग्वेद 08/17/14

मंदिरों में देवस्थापनविधान के समय भी वास्तुकला की बहुधा चर्चा आयी है। जैसे कि सर्वप्रथम देवताओं की प्रतिष्ठा विधि में तिथि नक्षत्रादि में प्रतिष्ठा करवानी चाहिये।[1]

सर्वप्रथम अपनी वैदिक शाखा में कहे गये विधान के अनुसार या प्रणव मंत्र (ऊँकार)-का उच्चारण करके पांच या उससे - अधिक ऋत्विजों के साथ मध्य स्थान में स्थित आचार्य का वरण करें। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य और मुद्रिका वस्त्र-गन्ध-माल्य एवं अनुलेपनीय द्रव्यों से उनका पूजन करें। गुरू को चाहिये कि वे मंत्रन्यासपूर्वक प्रतिष्ठा कर्म का शुभारम्भ करें।[2]

मंदिर के अग्रभाग में दस अथवा बारह हाथ का एक वर्गाकार सोलह खम्भों वाला मण्डप तैयार करके उसमें (पूर्वादि चारों दिशाओं और ईशानादि चार विदिशाओं में एक-एक ध्वजा-इस तरह) कुल आठ ध्वजों को प्रतिष्ठित करना चाहिये । तदन्तर मण्डप के मध्यभाग में चार हाथ परिमाण की एक वेदी का निर्माण कराये। उस वेदी के ऊपरी भाग में नदियों के संगम स्थल से लायी गयी बालु बिछायें। उसमें प्रधान कुण्ड का निर्माण करवाकर उसमे पूर्व दिशा में वर्गाकार, दक्षिण में धनुषाकर, पश्चिम में वर्गाकार और उत्तर में पद्माकार इस प्रकार पाँच कुण्डों का निर्माण करवाना चाहिये। अथवा सभी कुण्ड चतुर्भुज रखे जा सकते हैं।[3] कुण्ड निर्माण के पश्चात् समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए आचार्य, शान्ति कर्म के लिए विहित विधि से हवन करें। कुछ लोग मण्डप के ईशान कोण की भूमि को गाय के गोबर या स्वच्छ मिट्टी से लीपकर उसमें होम करते हैं।[4]

मण्डप में लगे तोरणों के समीप ही पूर्वादि दिशाओं में चार द्वारों का निर्माण करवाना चाहिये। मण्डप के तोरणस्तम्भ न्यग्रोध (वट) उदुम्बर (गुलर) अश्वत्थ (पीपल) विल्व, पालाश, खदिर (खैर) आदि के काष्ठ से निर्मित होन चाहये। प्रत्येक तोरणस्तम्भ का परिमाप पांच हाथ होने चाहिये और प्रत्येक स्तम्भ को वस्त्र पुष्पादि से अलंकृत करना चाहिये तथा उसके निचले भाग को एक हाथ नापकर पृथ्वी में गाड़ देना चाहिये। शेष चार परिमाप का भाग ऊपर रखें। इसी प्रकार उन्हें मण्डप के चारों ओर की दिशाओं में स्थापित करवाना चाहिये।[5]

मण्डप के पूर्वी द्वार पर मृगेन्द्र, दक्षिणी द्वार पर हयराज, पश्चिमी द्वार पर गोपति तथा उत्तरी द्वार पर देव शार्दूल का न्यास करें। पहले **''अग्निमीले''** इस मंत्र से पूर्व द्वार की दिशा में मृगेन्द्र का न्यास करें। तदन्तर **'ईषेत्वति** च' इस मंत्र से दक्षिण द्वार की दिशा में हयराज का **'अग्न आयाहि'** इस मंत्र से पश्चिम द्वार की दिशा में गोपति का और **'शं नो देवी'** मंत्र से उत्तर द्वार की दिशा में देवशार्दूल का न्यास करना चाहिये।[6] मण्डप

1. गरुणपुराण 48/01
2. तत्रैव श्लो. 2-4
3. गरुणपुराण 48/6-7
4. तत्रैव श्लो. 08
5. तत्रैव श्लो. 08-10
6. तत्रैव श्लो.13-17

की पूर्व दिशा में मेघवर्ण के समान श्याम, अग्निकोण में धूम्रवर्ण, दक्षिण दिशा में कृष्णवर्ण, नैर्ऋत्यकोण में धूसरवर्ण, पश्चिम दिशा में पाण्डुरवर्ण, वायु कोण में पीतवर्ण, उत्तर दिशा में रक्तवर्ण ईशानकोण में शुक्लवर्ण तथा मण्डप के मध्यभाग में अनेक वर्णवाली पताका को स्थापित करें।[1] **'इन्द्रविद्येति'** इस मंत्र से पूर्व दिशा में इन्द्र, **'संसुप्ति'** इस मंत्र से अग्निकोण में अग्नि, **'यमोनाग'**, इस मंत्र से दक्षिण दिशा में यम **'रक्षोहणावेति'**, मंत्र से नैर्ऋत्य में निर्ऋति, **इमं वरुणेति** इस मन्त्र से पश्चिम में वरुण तथा **ऊँ वातेति** मंत्र से वायव्य में वायुदेव का अभिषेक करके उत्तर में **ऊँ आप्यायस्वेति** 'मन्त्र से कुबेर की पूजा करें।' **'ऊँ विष्णुर्लोकेति'** मंत्र से विष्णु का पूजन करना चाहिए।[2] प्रत्येक तोरण के समीप दो-दो कलश स्थापित करने के पश्चात् वस्त्र तथा उपवस्त्र से आच्छादित, चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से अलंकृत, पुष्प, वितान एवं अन्यान्य पूजा-उपचारों से सुशोभित दिक्पालों की पूजा करनी चाहिए।[3] **ऊँ त्रातारमिन्द्र**, मंत्र से इन्द्र **ऊँ अग्नि मूर्धा** 'मन्त्र से अग्नि' **ऊँ अस्मिन्वृक्ष** 'मन्त्र से[4] निर्ऋति **किं चे दधातु** मंत्र से वरुण' **ऊँ आचत्वा** 'मंत्र से कुबेर', **'ऊँ इमा रुद्रेति'** मंत्र से रुद्र आदि दिक्पालों की पूजा करके विद्वान आचार्य को चाहिये कि वह वायव्य कोण में होमद्रव्य एवं अन्य पूजा में प्रयुक्त वस्तुओं को स्थापित करें।[5]

1. तत्रैव श्लो. 17-18
2. तत्रैव श्लो. 16-20
3. तत्रैव श्लो. 21
4. तत्रैव श्लो.16-20
5. गरूणपुराण 48/22-23

पुराणों में प्रासाद के प्रकार एवं लक्षण

डॉ. आशुतोष कुमार झा

वास्तु का अर्थ भवन या 'आवास' है। यह शब्द 'वस्' धातु के साथ तुण् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। जिसका अर्थ देवनिवास या गृहनिर्माण में उपयुक्त भूखण्ड, भवन योग्य जमीन का टुकड़ा, आवास व निवास भूमि है। सामान्यरूप में प्राणियों के रहने योग्य स्थान जहाँ उनकी मूलभूत एवं आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति संभव हो सके, उसे वास्तु कहते है। वास से सम्बन्धित सभी विषय वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत समाहित हैं। वास्तुशास्त्र के अठारह उपदेशक विख्यात हैं -

''भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।
ब्रह्मकुमारी नन्दीशः शौनको गर्ग एव च
वासुदेवोऽनिरूद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः॥''[1]

सभी उपदेशकों ने वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित विषयों की विस्तृत व्याख्या की है। वास्तु के जितने भी विषय हैं ,उनमें से देवता का वास सबसे प्रमुख है। देवमन्दिर के निर्माण और उसमें देवता को स्थापित करने के सारे विधान पुराणों में विस्तृत रूप से उल्लिखित हैं-

''देवागारं करोमीति मनसा यस्तु चिन्तयेत्।
तस्य कायगतं पापं तदह्ना हि प्रणश्यति।
कृते तु किं पुनस्तस्य प्रासादे विधिनैव तु।
अष्टेष्टकासमायुक्तं यः कुर्याद् देवतालयम्॥''[2]

मैं देव मन्दिर बनवाऊँगा जो ऐसा मन से भी चिन्तन करता है उसका शारीरिक पाप उसी दिन नष्ट हो जाता है तो जो विधान से मन्दिर का निर्माण करवा देता है उसके बारे में कहना ही क्या? अर्थात् जो अष्ट इष्टका से युक्त मन्दिर बनवा देता है उसके

---

1 मत्स्यपुराण अध्याय 115 श्लोक 2-3½

2 अग्निपुराण अध्याय 41 श्लोक 33-34

पुण्य फ़ल का तो कोई वर्णन ही नहीं कर सकता है। अग्निपुराण के इस वचन से पता चलता है कि मन्दिर बनवाना कितना पुण्य का काम है। देवमन्दिर बनवाने के लिये प्रासाद किस प्रकार का हो, प्रासाद के क्या क्या लक्षण हैं? इसके बारे में पुराणों में विस्तृत रूप से बताया गया है।

प्रासाद के प्रकार–

वैराज, पुष्पक, कैलास, मालिका (माणिक) तथा त्रिविष्टक ये पाँच प्रकार के विशेष प्रासाद कहे गये हैं–

''प्रासादानां च वक्ष्यामि मानं योनिं च मानतः।
वैराजः पुष्पकाख्यश्च कैलासो मालिकाह्वयः।
त्रिविष्टपं च पञ्चैते प्रासादः सर्वयोनयः।''[1]

वैराज नाम का प्रासाद सब प्रकार से चौकोर और समतल होता है। द्वितीय प्रकार का पुष्पक प्रासाद आयताकार होता है। तृतीय प्रकार का कैलास नामक प्रासाद वृत्ताकार, चौथा मालिका नामक प्रासाद वृत्तायत और पाँचवाँ त्रिविष्टप नामक प्रासाद अष्टकोणाकार होता है। लक्षणों और स्वरूपों की भिन्नता के कारण प्रासाद अनेक प्रकार के होते हैं। इन प्रासादों से ही अन्य प्रकार के प्रासादों का स्वरूप निर्मित होता है। मेरु, मन्दर, विमान, भद्रक, सर्वतोभद्र, रुचक, नन्दन, नन्दिवर्धन और श्रीवत्स ये नौ प्रकार के चौकोर वैराज नामक प्रासाद निर्माण की कला से ही उत्पन्न होते हैं। वलभी, गृहराज, शालागृह, मन्दिर, विमान, ब्रह्ममन्दिर, भवन, उतम्भ और शिविकावेश्म ये नौ प्रासाद पुष्पक नामक प्रासाद. कला से उत्पन्न होते हैं। वलय, दुन्दुभि, पद्म, महापद्म, मुकुली, उष्णीषी, शंख, कलश, गुहावृक्ष तथा अन्य वृत्ताकार प्रासाद कैलास प्रासाद से उत्पन्न होते हैं। गज, वृषभ, हंस, गरुड, सिंह, सम्मुख, भूमुख, भूधर, श्रीजय, तथा पृथ्वीधर इन प्रासादों का उद्भव मालिका नामक वृत्तायत प्रासाद से होता है। वज्र, चक्र, मुष्टिकवध्नु, वक्रस्वस्तिक, खड्ग, गदा, श्रीवृक्ष, विजय तथा स्वेत इनका उद्भव त्रिविष्टप नामक प्रासाद से होता है। इसके अतिरिक्त त्रिकोण, पद्माकार, अर्धचन्द्राकार, चतुष्कोण तथा षोडशकोणीय प्रकार से भी मण्डप के संस्थान का निर्माण किया जा सकता है।[2]

निर्माणपद्धति, आकार और परिमाण के वैभिन्य के कारण प्रासाद भिन्न–भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से कुछ प्रासादों का आधार होता है किन्तु कुछ आधार से रहित होते हैं। वे प्रासाद अपने छन्दक अर्थात् छत निर्माण के भेद से भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। रचना पद्धति तथा नाम के भेद से परस्पर सांकर्य के कारण भी भिन्न–भिन्न प्रकार के

---

1 गरूडपुराण आचारकाण्ड अध्याय 47 श्लोक 21

2. तत्रैव श्लोक 22–32

प्रासाद हो जाते हैं। देवताओं की विशेषता के कारण बहुत प्रकार के प्रासाद बताये गये हैं। यद्यपि स्वयंभू (स्वतः प्रादुर्भूत देवमूर्ति) देवताओं के लिये निर्मित होने वाले प्रासाद के निमित्त कोई नियम नहीं है तथापि देवों के लिये उक्त मान के अनुसार ही प्रासादों का निर्माण करवाना चाहिए।

''देवतानां विशेषाय प्रासादा बहवः स्मृताः।
प्रासादे नियमो नास्ति देवतानां स्वयम्भुवाम्।।''[1]

देवमन्दिर के लिये गृहीत की गयी भूमि का संशोधन कर दस हाथ या पाँच हाथ के प्रमाण से सफ़ेद बैल से तीन दिन जुतवाकर उसमें मूँग, उड़द, धान, तिल, श्यामा (ककुनी), मसूर, और मटर ये सात प्रकार के धान्य वपन करना चाहिए। यदि उसमें तीन, पाँच या सात रातों में अंकुरित हो जाते हैं तो तीन रातवाली भूमि उत्तम, पाँच रातवाली मध्यम तथा सात रातवाली कनिष्ठ कहे गये हैं।

''वाहयेत्त्रिदिनं विप्राः पंचव्रीहीश्च वापयेत्।
देवपक्षे सप्तगुण आरामकरणे गुणः।
मुद्गमाषौ धान्यतिलाः श्यामाकश्चेति पञ्चमः।
मसूरश्च कलायश्च सप्तव्रीहीगणः स्मृतः।।''[2]

भविष्य पुराण के इस वचनानुसार जैसी भूमि ब्राह्मणादि के आवास के लिये उपयुक्त कही गयी है, वैसी ही भूमि उनके देवालयों के लिये भी कही गयी है।

''भूमयो ब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तुकर्मणि।
ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि।।''[3]

प्रासादों के लक्षण-

भूमि संशोधन करने के उपरान्त चौकोर भूभाग को सोलह भागों में विभक्त करके इनमें से (अग्नि) बीच के भागों को आय सहित गर्भ (मन्दिर के भीतरी भाग की रिक्त भूमि) निश्चित करें तथा शेष बारह भागों को दीवार उठाने के लिए नियत करें। जहाँ प्रत्येक भाग चार पद परिमाप का हो। साथ ही चारों दिशाओं में कुल बारह द्वार बनवाना चाहिए। प्रासाद की ऊँचाई के परिमाण को अर्थात् पृथ्वीतल पर प्रासाद का बनाया गया ऊँचा जो धरातल है, उसको प्रासादिक जंघा कहते है। भवन की यह जंघा मानव जंघा की अपेक्षा

---

1 गरुडपुराण आचार काण्ड अध्याय 47 श्लोक 42

2 भविष्यपुराण मध्यम पर्व प्रथम भाग पूर्त्तनिर्णय अध्याय-10 श्लोक 4-5

3 भविष्यपुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय-130 श्लोक 16

ढाई गुना अधिक होनी चाहिए। उसके ऊपर निर्मित होनेवाले गर्भभाग के विस्तार परिमाप को शुक्रांधि कहते है। गर्भभाग को पुनः तीन अथवा पाँच भागों में विभक्त करना चाहिए और शुक्रांगि के द्वार की ऊँचाई शिखर भाग की आधी करनी चाहिए। चार शिखर बना कर उसके तीसरे भाग पर वेदिबन्धन करें। उसके चतुर्थ भाग पर पुनः प्रासाद के कण्ठ भाग का निर्माण करना चाहिए।[1] अथवा भवन का निर्माण करने के लिये भूमिखण्ड को समान सोलह भागों में विभक्त करके उस सोलहवें भाग के चतुर्थभाग के मध्य में गर्भगृह का निर्माण करवाना चाहिए।

''अथ वापि समं वास्तुं कृत्वा षोडशभागिकम्।
तस्य मध्ये चतुर्भागमादौ गर्भं तु कारयेत्॥''[2]

बारह भागों में से चार भाग की जितनी लम्बाई है उतनी ही ऊँचाई प्रासाद के दीवारों की होनी चाहिए। दीवारों की ऊँचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई रखें। शिखर के चौथे भाग की ऊँचाई के अनुसार मन्दिर की परिक्रमा की ऊँचाई रखें। देवप्रासाद में चारों दिशाओं में निर्गम द्वार रखना चाहिए । गर्भगृह की चतुर्दिक् भित्तियों में प्रत्येक भित्ति का पाँच भाग करके उसके मध्य के पाँचवें भाग में द्वार लगाना चाहिए। इसी प्रकार गर्भगृह के प्रत्येक द्वार का मान निर्धारित करना चाहिए। मन्दिर के सामने के भूभाग का विस्तार भी शिखर की उँचाई के बराबर करना चाहिए। जरूरत के अनुसार उसका विस्तार दुगुना भी किया जा सकता है। मन्दिर के आगे सभामण्डप विस्तार में मन्दिर के गर्भसूत्र से दूना होना चाहिए। मन्दिर के पाद स्तम्भ आदि भित्ति के बराबर ही बनायें जाए अथवा मन्दिर के गर्भ का जो मान हो वही उसके मुखमण्डप (सभामण्डप या जगमोहन) का भी होना चाहिए। इसके बाद इक्यासी पदों (स्थानों) से युक्त वास्तुमण्डप का आरम्भ करना चाहिए। अग्र द्वार पर शुकों का, निर्गत द्वार पर देवताओं का और चारों ओर की दीवारों पर बत्तीस अन्तगों का पूजन होना चाहिए।[3]

प्रतिमा के मान से बनाये जानेवाले प्रासादों के लक्षण-

जितनी प्रतिमा हो उसके अनुसार ही सुन्दर पिण्डी बनाये। पिण्डी के आधे मान से गर्भ का निर्माण करें और गर्भ के मान के अनुसार ही भित्तियाँ उठाये।

''प्रतिमायाः प्रमाणेन कर्तव्या पिण्डिका शुभा।
गर्भस्तु पिण्डिकार्धेन गर्भमानास्तु भित्तयः॥''[4]

---

1 गरूडपुराण- आचार काण्ड अध्याय 47/3-5

2 गरूडपुराण- आचार काण्ड अध्याय 47 श्लोक 06

3 अग्नि पुराण अध्याय 42 श्लोक 1-7

4 तत्रैव 42/10

भीतों के लम्बाई के अनुसार ही उनकी उँचाई रखे। भीत की ऊँचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई बनाये। शिखर की ऊँचाई की चौथाई के बराबर परिक्रमा का निर्माण करायें और इसी प्रमाण का मुखमण्डप भी होना चाहिए। गर्भ के अष्टमांश से रथकों का निर्गम बनाना चाहिए अथवा रथकों का निर्गम परिधि के तृतीयांश से भी बनाया जा सकता है अथवा उनके भी तृतीय भाग के माप का उन रथों के निकलने के मार्ग (द्वार) का निर्माण करावें। तीन रथों पर हमेशा तीन वामों की स्थापना करें। शिखर के लिये चार सूत्रों का निपातन करें। शुकनासा के ऊपर से सूत को तिरछा गिराकर शिखर के आधे भाग में सिंह की प्रतिमा का निर्माण करावे शुकनासा पर सूत को स्थिर करके उसे मध्य सन्धि तक ले जाय। इसी प्रकार दूसरे पार्श्व में भी सूत्रपात करे। शुकनासा के ऊपर वेदी हो और वेदी के ऊपर आमलसार नामक कण्ठ सहित कलश का निर्माण कराना चाहिए। सिंह के ऊपर स्कन्ध का भंग नहीं होना चाहिए और न ही उसे विकराल बनाना चाहिए। वेदी के मान से ऊपर ही कलश की कल्पना करनी चाहिए। मन्दिर के द्वार की जितनी चौडाई हो, उससे दुगुनी उसकी ऊँचाई रखनी चाहिए। द्वार को बहुत ही सुन्दर और शोभायमान बनाना चाहिए। द्वार के ऊपरी भाग में सुन्दर मंगलमय वस्तुओं के साथ गूलर की दो शाखाएँ खुदवाना चाहिए। द्वार के चतुर्थांश में चण्ड, प्रचण्ड, विष्वक्सेन और वत्सदण्ड इन चार द्वारपालों की मूर्तियों का निर्माण करना चाहिए। लक्ष्मी को दिग्गज कलश के द्वारा नहला रहे हों, उसके हाथ में कमल हो और वह सुन्दर रूपवाली हो। मन्दिर के परकोटे की ऊँचाई उसके चतुर्थांश के बराबर हो। प्रासाद की ऊँचाई गोपुर की ऊँचाई तुल्य होती है। पाँच हाथ ऊँचे देवता की पीठिका एक हाथ ऊँची होती है। प्रासाद रचना आठ, बारह आदि सम संख्यावाले स्तम्भों द्वारा करनी चाहिए। इस प्रकार प्रासादों के प्रकार और लक्षण के अनुसार देवप्रासाद का निर्माण करवाना शुभ कहा गया है।[1]

1 अग्नि पुराण अध्याय 42/13-20

भूगोल एवं पर्यावरण के आलोक में भारतीय वास्तुशास्त्र

डॉ. शुभम् शर्मा

वास्तुकार मय ने चार प्रकार की वस्तुओं (वास्तुओं) की भूमि को सबका आधार होने के कारण प्रधान वास्तु कहा है –

भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि॥[1]

प्राय: समस्त वास्तुशास्त्रज्ञों ने आवास आदि के साथ नगर और ग्रामों की चर्चा भी स्वकीय ग्रन्थों में की है। इससे और आगे बढ़ भोज तो देश को भी वास्तु कहते हैं। तद्यथा –

देश: पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत्च्छ्रेयस्करं मतम्॥
वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चय:।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते॥[2]

भोज अन्य वास्तुशास्त्रज्ञों के समान भूमि परीक्षण की विधियाँ ही नहीं बताते, अपितु भूगोल तथा पर्यावरण के आधार पर भूमि के भेदों और उनके लक्षणों को पहले बताते हैं। ऐसा नहीं है कि भूमि के उक्त लक्षण भोज ने उद्घाटित किये। पुरातनवास्तुग्रन्थों में उक्त भूमिलक्षणों की चर्चा है किन्तु दकार्गल, प्रासाद हेतु देवानुकूल भूमि आदि प्रसङ्गविशेष में। राजा भोज विद्याव्यसनी और कलाप्रेमी शासक थे। स्वयं अनेक वास्तुसंरचनाओं के निर्माण कराने के कारण भोज की दृष्टि व्यावहारिक थी, अतएव भूमि के उक्त लक्षणों की चर्चा की गयी। सर्वप्रथम भौगोलिक आधार पर भूमि को तीन देशों जाङ्गल, अनूप और साधारण में वर्गीकृत किया गया है। जल की अल्पता, मरु, छोटे और कँटीले पादपों, रूखी गर्म प्रचण्ड वायु से युक्त और काली मिट्टी से युक्त देश जाङ्गल कहलाता है। निचला, जल की अधिकता वाला, चिकनी मिट्टी वाला, नदियों से युक्त, हिम से युक्त और विशाल वृक्षों से हरा – भरा क्षेत्र अनूप कहलाता है। दोनों के मिश्र लक्षणों वाला,

---

1 मयमत 2/2

2 समराङ्गणसूत्रधार 1/4,5

अधिक शीत और ऊष्णता से रहित देश साधारण कहा जाता है। तद्यथा –

देशः स्याज्जाङ्गलानूपसाधारणतया त्रिधा।
त्रिविधस्याप्यथैतस्य यथावल्लक्ष्म कथ्यते॥
दूराम्बुरिरिणप्रायो ह्रस्वकण्टकिपादपः।
रूक्षोष्णचण्डपवनः कृष्णमृत् तेषु जाङ्गलः॥
निम्नो भूरिजलः स्निग्धो बहुमत्स्यामिषो हिमः।
स्यादनूपः सरित्प्रायः स्निग्धोच्छ्रितबहुद्रुमः॥
यः पुनर्नातिशीतोष्णः स्याद् देशद्वयलक्षणः।
स साधारण इत्युक्तो देशो देशविशारदैः॥[1]

आधुनिक भूगोल में भी शीत, ऊष्ण और शीतोष्ण प्राकृतिक क्षेत्रों का उल्लेख है।[2] यदि वर्तमान भारत में इन देशों को जानने का प्रयास करें तो गुजरात और राजस्थान के मरुप्रदेश जाङ्गल, हिमालय और उत्तर भारतीय मैदान अनूप तथा मध्यभारत और दक्षिण के पठारी भाग को साधारण कह सकते हैं।

चाहे शास्त्रीय वास्तु की चर्चा हो अथवा पारम्परिक, सभी में भौगोलिक और प्राकृतिक परिस्थितियों के आधार पर शैलियों का विकास होना स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उत्तराखण्ड में हिमपात अधिक होता है अतः वहाँ मात्र प्रस्तरफलकों से पारम्परिक घरों को ढँक दिया जाता है। ऊपर पक्की छाव की आवश्यकता ही नहीं वहाँ। ये प्रस्तरफलक भी ढलाई लिये होते हैं जिससे बर्फ को हटाना सरल होता है और धूप में बर्फ सरलता से पिघल कर बह भी सकता है। पूर्वोत्तर भारत में वर्षा के आधिक्य से बाँस आदि के सघन वन विद्यमान हैं, अतः अन्य काष्ठ के साथ बाँस का अधिक प्रयोग करके वहाँ के पारम्परिक घर बनते हैं। ढलानयुक्त भूमि और निरन्तर वर्षा के कारण वे काष्ठगृह मञ्चाकृति (मचाननुमा) के होते हैं ताकि घर के नीचे से पानी बहकर निकलता रहे। राजस्थान और कच्छ में गोलाकार कुटियों की परम्परा वहाँ की रेतीली आँधियों की देन लगती है। गोलीय तल पर वायु का प्रवाह घूमकर निकलता रहता है जिससे घर को क्षति की सम्भावना न्यून हो जाती है। हिमाचलप्रदेश में प्रस्तरभित्तियों में बीच – बीच में काष्ठपट्टिकाओं का साँचानुमा प्रयोग एक ओर वहाँ चीड़ और देवदार के प्राचुर्य के कारण है तो वहीं भूकम्परोधिता हेतु भी। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि प्लेटविवर्तन के कारण हिमालयक्षेत्र में भूकम्पीयता अधिक है। यहाँ सन् 1905 में हुए विनाशकारी भूकम्प में काँगड़ा और धर्मशाला परिक्षेत्र में अत्यधिक जनहानि हुई थी।[3] प्रस्तरखण्डों को काष्ठपट्टिकाओं के मध्य संयोजित करने से बन्धकता

---

1 समराङ्गणसूत्रधार 8/2–5

2 डॉ यू बी सिंह – संसाधन भूगोल पृ. 79–80

3 The Imperial Gazetteer of India VI p. 98

बढ़ती है जो कि भूकम्प से सुरक्षा देती है।[1] केरलप्रान्त में इरुपु जैसे दृढ़ काष्ठ वाले वृक्षों के सघन वन अनेक नदियाँ और अनूप झीलें होने से जहाँ घरों में काष्ठ का प्रचुर प्रयोग किया जाता है तो वहीं लम्बी सर्पाकार नौकाओं के भी यहाँ दर्शन हो जाते हैं। गङ्गा के चौड़े पाट और गहराई के कारण रामायणकाल से ही नौका के प्रयोग के प्रमाण हैं।[2] तो दो तीन कोठरियों वाले बजरे की चर्चा भूतनाथ उपन्यास में प्रमुखता से की जाती है।[3] निश्चय ही समुद्री लवणाक्त जलवायु से देवालय के संरक्षण हेतु उसके प्राङ्गण के चतुर्दिक बृहत् प्राकारों के निर्माण की योजना द्रविड वास्तु की प्रमुख पहचान बन गयी। उड़ीसा के देवालय यद्यपि नागर शैली के हैं तथापि यहाँ समुद्रतट होने के कारण प्राकारों की निर्मिति हुई। सच्चिदानन्द सहाय ने लवणाक्त जलवायु के कारण जगन्नाथ मन्दिर के एक अंश के जर्जर होकर ध्वस्त हो जाने की चर्चा की है जो प्राकार की उपयोगिता को पुष्ट करता है क्योंकि प्राकार के न रहते मन्दिर को और भी हानि सम्भव थी।[4]

भोज के अनुसार पुर हेतु प्रशस्त भूमि के लक्षण हैं– चिकनापन, दृढ़ता, उर्वरता, वृक्षों, उद्यानों, सदानीरा नदियों और विविध जलाशयों की उपस्थिति। तद्यथा –

स्निग्धाः सारभृतः शुद्धाः प्रदक्षिणजलाशयाः।
बहूदकास्तरुच्छन्ना निबिडाः प्रागुदक्प्लवाः॥
दूर्वासस्यौषधीमुञ्जकुरुन्दकुशवल्कलैः।
परितः परिणद्धाश्च स्वादुस्वच्छस्थिरोदकाः॥
वास्तुयज्ञामरस्थानाद्यारामोद्यानसंभृताः।
तटाकवापीस्थानैश्च याः समन्तादलङ्कृताः॥
या वाहनानां सुखदा मिथुनानां रतिप्रदाः।
पुरार्थं ताः प्रशस्यन्ते भूमयो जनितश्रियः॥[5]

भारत के प्रमुख प्राचीन नगर ऐसे ही स्थलों पर बसे हैं। चाहे गङ्गातट के वाराणसी, हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र हों, यमुनातट के मथुरा, इन्द्रप्रस्थ हों अथवा भौमजल से परिपूर्ण उज्जयिनी हो, सभी में अधिकांश नियमों का ध्यान रखा गया है।

भूमिपरीक्षण और नींव के विषय में मुहूर्तमार्तण्ड की उक्ति है –

---

1 विजय खन्ना – भूकम्प : क्या? क्यों? कैसे? पृ. 87

2 ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता। रामायण 2/52/81

3 देवकीनन्दन/ दुर्गाप्रसाद खत्री – भूतनाथ 16/6

4 मन्दिर स्थापत्य का इतिहास पृ. 27,37,211

5 समराङ्गणसूत्रधार 8/40–43

श्वभ्रं हस्तमितं खनेदिह जलं पूर्णं निशास्ये न्यसे -
त्प्रातर्दृष्टजलं स्थलं सदजलं मध्यं त्वसत्स्फाटितम्।
ज्ञात्वैवं निखनेद्गृहादिकभुवं नत्वा जलान्तस्तरो
यावद्वा पुरुषस्ततः कपिशिरस्तुल्याश्मभिः पूरयेत्॥[1]

अर्थात् एक हस्त प्रमाण गड्ढे में रात्रि में जल भरकर प्रातः अवलोकन करें। यदि जल शेष है तो भूमि उत्तम, जल नहीं बचा तो मध्यम और यदि भूमि में दरार पड़ गयीं तो भूमि अधम है। यह लक्षण वास्तव में काली मिट्टी का है जो आधुनिक अभियान्त्रिकी में भी कृषि हेतु श्रेष्ठ किन्तु भवनादि हेतु अयोग्य कही गयी है। तद्यथा -

FOUNDATIONS OF BLACK COTTON SOIL

This is a clayey or loose type of soil and it considerably swells and shrinks by variation in moisture contents. The cracks formed in a black cotton soil. As far as agriculture is concerned, this isAn excellent type of soil. But from the structural view point this is a very bad soil. Hence, extreme care should be taken when the foundations are to rest on this soil. The precautions to be taken to grant safety to the foundations on the black cotton soil are as follows.

The black cotton soil should be completely removed, if possible and convenient.

If the depth of black cotton soil is about one metre, the soil should be completely removed and then the work of excavating foundation trenches should be carried outor under-reamed piles may be provided. If it is not feasible to remove the so completely, any one of the two methods described below should be adopted.[2]

मुहूर्तमार्तण्ड में नींव के विषय में कथन है कि गृह की योजना से कुछ अधिक भूमि जल मिलने तक, भूमि का अन्तः स्तर आने तक अथवा एक पुरुषप्रमाण तक खनन कर कपिशिरतुल्य (गोल) पत्थरों से पूर देनी चाहिए। रङ्गवाला ने भी लगभग इसी प्रकार की चर्चा की है। वास्तव में भूमिपरीक्षण की भारतीय विधियाँ भूमि की दृढता और ऑक्सीजन की स्थिति को ही ज्ञात करती हैं।

भौगोलिक वास्तुनियमों का पालन न करने से अनेक प्रकार की हानि भी देखने में आती है। यथा निचली विषम और भङ्गुर भूमि अप्रशस्त कही गयी है -

रूक्षा प्ररोहिणी निम्ना भङ्गुरा सुषिरोषरा। .... विषमोन्नता॥[3]

1 मुहूर्तमार्तण्ड 6/4
2 S C. Rangwala & Building Construction p. 83, 84
3 समराङ्गणसूत्रधार 8/54

मुम्बई के विषय में सर्वज्ञात तथ्य है कि सात द्वीपों के बीच के समुद्र को पाटकर इस नगरी का विस्तार किया गया था। तथापि इसकी समुद्रतल से कोई विशेष ऊँचाई नहीं। सन् 2005 में बाढ़ का एक बड़ा कारण था समुद्री ज्वार के कारण जल का निकास न होना।

हिमालय पर्वत एक भङ्गुर पहाड़ है। विशेषकर उत्तराखण्ड क्षेत्र में भूस्खलन प्रायः होते ही रहते हैं। केदारनाथ त्रासदी के पश्चात् मृणाल पांडेजी ने लेख में कहा कि वे जब 1995 में केदारनाथ गई थीं, तब यह मानकर चला जाता था कि अन्तिम 14 किलोमीटर की यात्रा पैदल ही कर उसी दिन रात बिताने को वापस गौरीकुण्ड आना होगा, कारण एक वृद्धा ने यह बताया कि केदारनाथ पार्वती के कारण पर्वतीयजनों के दामाद हैं। नितान्त नास्तिक भी मानेंगे कि हिमालयीन क्षेत्र की नाजुक प्राकृतिक संरचना को देखते हुए श्रद्धालुओं के लिए कम से कम प्रवास का केन्द्र बनाने वाला ऐसा उत्तम विधान किसी बहुत सयाने दिमाग ने तैयार किया होगा। किन्तु विभीषिका के पूर्व भारी-भरकम होटल, पर्यटन गृह बना दिये गये थे।[1] उस त्रासदी में गौरीकुण्ड में ठहरे यात्री सुरक्षित रहे जबकि केदारनाथ और रामबाड़ा में अधिकांश जन कालकवलित हो गये थे।

भोज का निर्देश है कि पूर्वकाल में जहाँ कभी नदी रही हो वहाँ न बसें क्योंकि धारा पुनः लौटकर आ सकती है। तद्यथा -

सरित्पूर्ववहा यस्यां पुरार्थं तामपि त्यजेत्।
बहुनापि यत्स्तत्र कालेनायाति सा पुनः॥ [2]

बिहार की कोसी नदी भी एक पूर्ववर्ती नदी है[3] यह अनेक बार अपना मार्ग बदल चुकी है। सन् 2008 में पूर्वी तटबन्ध तोड़ यह अपने पुराने मार्ग पर बह निकली और सैंकड़ों जनों को बहा ले गयी।

विश्वकर्मप्रकाश में गृहवेधनिर्णयाध्याय में कहा गया है कि पर्वत से निकला हुआ पत्थर यदि भित्ति के सम्मुख हो तो उसे दन्तवेध कहते हैं, वह शोक और रोग को देता है। जो घर पर्वत की भूमि के ऊपर हो अथवा जो घर पर्वत के नीचे भाग में हो वह शुभ नहीं होता। तद्यथा -

पर्वतान्निसृतं चाश्मदन्तावद्भित्तिसम्मुखम्॥
तद्दन्तवेधमित्याहुः शोकं रोगं करोति तत्।
अधित्यकासु यद्गेहं यद्गेहं पर्वतादधः॥[4]

---

1 दैनिक भास्कर 26/06/2013

2 समराङ्गणसूत्रधार 8/58

3 माजिद हुसैन - भारत का भूगोल पृ. 3.17

4 विश्वकर्मप्रकाश 13/30,31

सन् 2014 में जुलाई मास में महाराष्ट्र में पुणे के निकट मालिन गाँव[1] तथा सितम्बर मास में जम्मूकश्मीर के ऊधमपुर जिले का सदल गाँव[2] जो कि पहाड़ों के निकट थे। अचानक हुए भूस्खलन में मलबे में दबकर पूर्णतः नष्ट हो गये।

इस प्रकार और भी अनेक तथ्यों से ज्ञात होता है कि भारतीय वास्तुशास्त्र में भौगोलिक और पर्यावरणीय दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यदि उनमें कहे नियमों का पालन किया जाता है तो अनेक दुर्घटनाओं में हानि को सीमित किया जा सकता है।

1 जागरण 31/07/2014

2 जागरण 12/09/2014

बृहत्संहिता में वास्तुविद्या

डॉ. धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

'वास्तु' शब्द का अर्थ है-निवास करना। जिस भूमि पर मनुष्य निवास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा जाता है। वास्तुशास्त्र में गृहनिर्माण सम्बन्धी विविध नियमों का प्रतिपादन किया गया है। वास्तु शब्द 'वस्' धातु से बना है। यह 'वस्' धातु किसी एक स्थान में वास करने का द्योतक है। उणादि सूत्र 'वसेस्तुन्' से इसमें तुन् प्रत्यय लगाया गया है। वास्तु का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- 'वसन्त्यस्मिन्निति वास्तुः'। अर्थात् वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं, उसे वास्तु कहते है। यह मानव आदि के निवास-स्थान का परिचायक है। तत्त्ववेत्ता तपःपूत ऋषि-मुनि-महात्माओं ने विश्वकल्याण की भावना से भावित होकर अनेक शास्त्रों का आविर्भाव किया, जिनमें वास्तुशास्त्र अन्यतम है। भारतीय चिन्तन में सभी विद्याएं अध्यात्ममूला हैं। वास्तुशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। वास्तु मण्डल एवं वास्तुपुरुष की परिकल्पना ने इस शास्त्र को धार्मिक एवं दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया। भवन का निर्माण भोगवाद से हटकर ईश्वरीय प्रसाद बन गया। वास्तुशास्त्र एक विज्ञानपूर्ण विद्या है, जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्ट है। वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत मूलरूप से भवन निर्माण, कार्यस्थल, मन्दिर, तालाब, बगीचा और अन्य भवनों का समावेशन किया जाता है।

वास्तुशास्त्र ज्ञान एवं विज्ञान की वह शाश्वत विद्या है जो मानव को सुख, शान्ति व समृद्धि प्रदान करने के साथ-साथ जीवात्मा को चारों पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करती है। वास्तु का मूलभूत सिद्धान्त है कि प्रकृति के स्थूल व सूक्ष्म प्रभावों को मानवमात्र के अनुकूल उपयोग में लेना। कोई भी निर्माण कार्य इस प्रकार हो कि प्रकृति के स्थूल व सूक्ष्म प्रभाव, उसको करने वाले के दैहिक, भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति में सहायक बनें अर्थात् जो भी निर्माण कार्य हो वह पञ्चतत्त्वों के अनुकूल हो जिससे मानवमात्र की सहज ही विचार शक्ति एवं कार्य शक्ति संतुलित रूप से कार्य करे।[1]

अमरकोष के अनुसार-**'गृहरचनावच्छिन्नभूमे'** अर्थात् गृह-रचना के योग्य अविच्छिन्न भूमि को वास्तु कहते हैं। मत्स्य पुराण को उद्धृत करते हुए हलायुध कोश में कहा गया है-

---

1. वास्तुशास्त्रसार-पृ0 1

वास्तु संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्।
ईशानकोणादारभ्य ह्येकाशीतिपदे त्यजेत्।।[1]

अर्थात् संक्षेप में वास्तु ईशान आदि कोण से प्रारम्भ होकर भवन-निर्माण की वह कला है, जो घर को विघ्न-बाधाओं एवं प्राकृतिक उत्पातों से बचाती है।

वास्तुशास्त्र की महत्ता

वास्तुशास्त्र की महत्ता जीवनोपयोगी विषय के रूप में है। व्यक्ति जिस स्थान पर निवास करता है, वह सर्वप्रकारेण उपयोगी और निरापद सिद्ध हो, इसीलिए हमारे महापुरुषों ने वास्तुविद्या का विकास किया। ऋषियों-मुनियों का कथन है कि स्त्री, पुत्र आदि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, प्राणियों के सुख का स्थान और सर्दी, वायु, गर्मी आदि कष्टों से रक्षा-सुरक्षा करने वाला गृह ही है। विधिपूर्वक गृहनिर्माणकर्ता को बावड़ी, देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है। इसीलिए विश्वकर्मा आदि देवशिल्पियों ने सर्वप्रथम गृहनिर्माण का निर्देश प्रदान किया है-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।[2]

वास्तुसारसङ्ग्रह में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सुख, धनधान्य, ऐश्वर्य, सन्तति सहित निरन्तर सुख के लिए गृह का सुलक्षण होना आवश्यक है-

सुखं धनानि ऋद्धिश्च सन्ततिः सर्वदा नृणाम्।
प्रियाण्येषान्तु संसिद्ध्यै सर्वं स्याच्छुभलक्षणम्।।[3]

मनुष्य की सुख-सुविधा हेतु देश-पुर-ग्राम निवास और आसन ये सभी समानरूप से अपेक्षित हैं अर्थात् सबकी अनुकूलता होने पर शुभ और प्रतिकूल होने पर अशान्ति का वातावरण बना रहता है।[4]

गृह की आवश्यकता पर बल देते हुए बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है कि दूसरे के घर में रहकर किये गये श्रौत-स्मार्त आदि समस्त शुभ कार्य अपने लिए निष्फल हो जाते हैं क्योंकि उनका फल भूस्वामी को प्राप्त होता है-

परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[5]

---

1. हलायुधकोशः, पृ0 606
2. बृहद्वास्तुमाला-1/4
3. वास्तुसारसङ्ग्रहः-1/1
4. तत्रैव-1/2
5. बृहद्वास्तुमाला-1/7

वास्तव में दूसरे के गृह में निवास स्वतन्त्रता एवं स्वाभिमान की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य है। इसकी निन्दा चाणक्य के शब्दों में इस प्रकार है–**'परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति'**।

वास्तुविद्या के विकास की परम्परा

वास्तुविद्या के विकास की सुसमृद्ध परम्परा रही है। मत्स्य महापुराण में वास्तु शास्त्र के आचार्यों की चर्चा की गई है। भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, भगवान् शंकर, इन्द्र, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश्वर, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति–ये अठारह वास्तुशास्त्र के उपदेष्टा माने गए हैं।[1]

इन्हीं आचार्यों की परम्परा में वराहमिहिर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वराहमिहिर की मान्यता है कि वास्तु ज्ञान ब्रह्माजी के पास से मुनि परम्परा में विकसित हुआ। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ बृहत्संहिता में वास्तु के सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना की गई है।

वास्तुज्ञान की उत्पत्ति

वास्तुज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वराहमिहिर का कथन है कि प्राचीन काल में अपने शरीर से पृथिवी और आकाश को ढाँकने वाला कोई अपरिचित उत्पन्न हुआ। उसको सहसा देवताओं ने पकड़कर नीचे मुख करके पृथिवी पर स्थापित कर किया। उस समय जो देवता जिस अंग को पकड़े थे उन्होंने उस अंग में अपना स्थान बना लिया, उस देवमय अपरिचित व्यक्ति को ब्रह्मा जी ने वास्तु पुरुष के नाम से कल्पित किया।[2]

भवन निर्माण के लिए निर्माण स्थल का चयन एवं उनका शुभाशुभ विवेचन

भवन निर्माण का आरम्भ निर्माण स्थल के चयन के साथ होता है। ऐसी भूमि का चयन अपेक्षित होता है जहाँ भवन निर्माण कर सुख और शान्ति का अनुभव हो। इसके लिए किस प्रकार की भूमि उपयुक्त होती है? इसका विवेचन बृहत्संहिता में प्राप्त होता है। प्रशस्त औषधी वाली, द्रुम अर्थात् याज्ञिक वृक्ष वाली, लताओं से युक्त, मधुर मिट्टी वाली, सुगन्धि वाली, निर्मल, समान और छिद्र रहित भूमि प्रशस्त भूमि होती है। ऐसी भूमि मार्ग में गमन से उत्पन्न श्रम को हटाने की इच्छा से वहाँ पर थोड़ी देर के लिए बैठे मनुष्य को भी लक्ष्मी देती है तो जिनके घर के लिए रहती है, उनकी क्या बात, अर्थात् उनको लक्ष्मी अवश्य देती है।[3] संग्रह शिरोमणि में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है।[4]

---

1. मत्स्य महापुराण–252/2–4
2. बृहत्संहिता–53/2–3
3. तत्रैव–53/88
4. संग्रहशिरोमणि–20/18

इसके साथ ही कहा गया है कि मन, नेत्र जिस भूमि पर प्रसन्न हो जाए, उस भूमि पर गृह बनाना शुभ होता है, उसे सर्वसम्मत निःशल्य कहना चाहिए। निशःल्य भूमि गृहनिर्माण के लिए सर्वसम्मत शुभ है–

मनसश्चक्षुषो यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैर्निश्शल्यं सर्वसम्मतम्।।[1]

वास्तुमञ्जरी में कहा गया है कि एकवर्णा भूमि, सुगन्धवाली, छः रसों वाली, बीजों को अंकुरित करने के सामर्थ्यवाली, भूमिगत जलयुक्त और जहाँ मूषक–बिलाव निर्वैर भाव से रहते हों, वह भूमि ग्रहण करने की दृष्टि से विचारणीय होती है।[2]

गृह के समीप मन्त्री का घर हो धननाश, धूर्त का गृह हो तो पुत्रनाश, देवता का गृह हो तो चित्त में खेद, चौराहा हो तो अकीर्ति और चैत्य (प्रधान) वृक्ष हो तो ग्रहों का भय होता है। दीमक से युत या पोली भूमि गृह के समीप हो तो गृहस्वामी के ऊपर आपत्ति आती है। गृह के समीप गड्ढा हो तो प्यास का रोग और कछुए के समान आकृति वाली भूमि गृह के समीप हो तो धन का नाश होता है।[3]

वास्तुमञ्जरी में भी कहा गया है कि गृहादि के लिए वह भूमि नेष्ट होती है जो कि वल्मीक या दीमक वाली हो, निम्न या झुकी हुई हो, शल्यवाली हो, कटी–फटी या ऊसर हो। विवर्ण, रूक्षवर्ण, भूसायुक्त, तैलीय या दुर्गन्ध देने वाली भूमि भी नेष्ट होती है। ऊँची घाटियाँ, पर्वतीय, विषम, हमेशा गर्म या ठंडी रहने वाली भूमि नेष्ट होती है।[4]

बृहद्दैवज्ञरञ्जन में स्पष्ट किया गया है कि फटी हुई भूमि, जिसके भीतर हड्डियाँ हों, दीमक से युक्त तथा ऊँची–नीची भूमि को दूर से ही त्याग देना चाहिए क्योंकि वह कर्ता की आयु और धनहरण करने वाली होती है। फटी हुई भूमि में रहने पर मरण, ऊषर में धननाश, हड्डी युक्त में नित्य कलह और विषम में निवास से शत्रु वृद्धि होती है।[5]

उत्तर की तरफ ढालू वाली भूमि में ब्राह्मणों को, पूर्व की ओर ढालू में क्षत्रियों को, दक्षिण की ओर ढालू भूमि में वैश्यों को और पश्चिम की ओर ढालू भूमि में शूद्रों को शुभ होता है।[6] बृहद्दैवज्ञरञ्जन में इस सम्बन्ध में सामान्य विवेचन प्राप्त होता है। इसके अनुसार पूर्व दिशा में भूमि का ढाल होने पर लक्ष्मी की प्राप्ति, अग्निकोण में दाह, दक्षिण में मृत्यु, नैर्ऋत्य में धनहानि, पश्चिम में पुत्रनाश, वायव्य में विदेशवास, उत्तर में धनलाभ और ईशानकोण में होने पर विद्या की प्राप्ति होती है। मध्य में ढाल होने पर शुभ नहीं

1. तत्रैव–20/22
2. वास्तुमञ्जरी–1/6
3. बृहत्संहिता–53/89–90
4. वास्तुमञ्जरी–1/4–5
5. बृहद्दैवज्ञरञ्जन–86/40–41
6. बृहत्संहिता–53/91

होता है।[1]

विधानवश भूमि का शुभाशुभ विवेचित करते हुए बृहत्संहिता में कहा गया है कि गृहकर्ता के हाथ से गृह मध्य में एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा गड्ढा खोदवाकर उससे उस गड्ढे को भरवाना चाहिए। यदि गड्ढा भरने में मिट्टी कम हो जाए तो अशुभ, ठीक-ठीक हो जाए तो सम और गड्ढा भरकर मिट्टी ज्यादा हो जाए तो शुभ होता है-

गृहमध्ये हस्तमिदं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्।
यद्यूनमनिष्टं तत्समे समं धन्यमधिकं यत्।।[2]

मत्स्य पुराण[3] में भी इस ओर संकेत किया गया है। वास्तुमञ्जरी ने भी इसका संकेत किया है।[4]

शुभाशुभ का विचार की अन्य विधि का वर्णन करते हुए आगे कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकार से गड्ढा खोदकर उसमें जल भर देना चाहिए। तत्पश्चात् वहाँ से सौ पद जाकर पुनः लौटना चाहिए। इतने समय में गड्ढे का जल ज्यों का त्यों बना रहे तो शुभ होता है। वहाँ की धूलि से एक आढक प्रमाण टोकरी को भर फिर उस धूलि को तौलना चाहिए। यदि वह धूलि चौंसठ पल तुल्य हो तो वह भूमि शुभ होती है-

श्वभ्रमथवाम्बुपूर्णं पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम्।
तद्धन्यं यच्च भवेत्पलान्यपामाढकं चतुःषष्टिः।।[5]

मृत्पात्र स्थित दीपक के द्वारा भूमि के शुभाशुभ का विवेचन करते हुए कहा गया है कि चार बत्ती वाला दीपक जलाकर मिट्टी के कच्चे बर्तन में डालना चाहिए। उनमें उत्तर आदि क्रम से ब्राह्मण आदि वर्णों की कल्पना करनी चाहिए। फिर उस बर्तन को गड्ढे में डालना चाहिए। जिस दिशा की बत्ती देर तक जलती रहे उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि शुभ होती है-

आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रस्थे दीपवर्तिरभ्यधिकम्।
ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य।।[6]

मत्स्य पुराण[7] में भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए एक अतिरिक्त बात यह

1. बृहद्दैवज्ञरञ्जन-86/35-36
2. बृहत्संहिता-53/92
3. मत्स्य महापुराण-253/16-17
4. वास्तुमञ्जरी-1/7-8
5. बृहत्संहिता-53/93
6. तत्रैव-53/94
7. मत्स्य पुराण-253/14-16

कही गई है कि यदि बत्तियों की लौ चारों दिशाओं में जलती रहें तो भूमि सभी वर्णों के लिए शुभदायिनी है।

ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए क्रम से सफेद, लाल, पीली और काली भूमि शुभ होती है। ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए क्रम से घृतगन्धा, रक्तगन्धा, अन्नगन्धा और मद्यगन्धा भूमि शुभ होती है। ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए क्रम से कुशों से युत, मुञ्जों से युत, दूबों से युत, कासों से युत भूमि शुभ होती है। ब्राह्मणादि को क्रम से मीठी, कषैली, खट्टी और कड़वी मिट्टी वाली भूमि शुभ होती है–

सितरक्तपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमिः।
गन्धश्च भवति यस्यां घृतरुधिरान्नाद्यमद्यसमः॥
कुशयुक्ता शरबहुला दूर्वाकाशावृता क्रमेण मही।
ह्यनुवर्णं वृद्धिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च॥[1]

मत्स्य पुराण[2] में इसी बात की ओर संकेत किया गया है और यह स्पष्ट निर्देश है कि भूमि की भलीभाँति परीक्षा करके गृह का निर्माण करना चाहिए। अग्निपुराण[3] में भी इसी प्रकार का विवरण प्राप्त होता है।

भूमि परीक्षण की अन्य विधि का भी वर्णन बृहत्संहिता में बतलाया गया है। इसके अनुसार सायंकाल ब्राह्मण आदि वर्ण तुल्य वर्ण वाले पुष्पों (सफेद, लाल, पीले और काले पुष्पों) को लेकर गड्ढे में डाल दे, दूसरे दिन प्रातःकाल उन पुष्पों को निकाल कर देखे, जिस वर्ण का फूल कुम्हलाया न हो उसके लिए वह भूमि शुद्ध होती है।[4]

यदि वास्तु भूमि पूर्व या उत्तर की ओर ऊँची हो तो पुत्र और धन का नाश, दुर्गन्धयुक्त हो तो पुत्र का नाश, टेढी हो तो बन्धुओं का नाश और दिग्भ्रम (दिशाओं के ज्ञान से रहित) हो तो स्त्रियों के गर्भ का अभाव होता है। घर की वृद्धि चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह वास्तुभूमि को चारो तरफ समान रूप से बढ़ावे। यदि वास्तु भूमि को बढ़ाना हो तो उत्तर या पूर्व की तरफ बढ़ावे क्योंकि उस तरफ बढ़ाने के अल्पदोष हैं और सहन करने लायक हैं। जिसको इन दोषों को सहन करने की शक्ति नहीं हो उनको यह नहीं बढ़ाना चाहिए–

प्रागुत्तरोन्नते धनसुतक्षयः सुतवधश्च दुर्गन्धे।
वक्रे बन्धुविनाशो न सन्ति गर्भाश्च दिङ्मूढे॥
इच्छेद्यदि गृहवृद्धिं ततः समन्ताद्विवर्धयेत्तुल्यम्।

---

1. बृहत्संहिता–53/96–97
2. मत्स्य पुराण–253/11
3. अग्निपुराण–274/1
4. बृहत्संहिता–53/95

एकोद्देशे दोषः प्रागथवाऽप्युत्तरे कुर्यात्॥[1]

यदि वास्तु भूमि पूर्व की ओर बढ़ी हो तो मित्रों से द्वेष, दक्षिण तरफ बढ़ी हो तो मृत्यु का भय, पश्चिम तरफ बढ़ी हो तो धन का नाश और उत्तर तरफ बढ़ी हो तो मन में संताप होता है–

प्राग्भवति मित्रवैरं मृत्युभयं दक्षिणेन यदि वृद्धिः।
अर्थविनाशः पश्चादुदग्विवृद्धिर्मनस्तापः॥[2]

बृहद्दैवज्ञरञ्जन में विभिन्न विशिष्ट भूमियों की चर्चा प्राप्त होती है। उसका यहाँ उल्लेख करना समीचीन है। जो भूमि दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य, और वायव्यकोण में ऊँची होती है उसे गजपृष्ठ कहते हैं। इस आकृति की भूमि पर घर बनाकर रहने पर सदा लक्ष्मीजी घर में रहती हैं अर्थात् धन परिपूर्णता और आयु की वृद्धि होती है। जिस भूमि का मध्य भाग ऊँचा और चारों भाग नीचा होता है उसे कूर्मपूष्ठ भूमि कहते हैं। इसमें निवास करना चाहिए। इस भूमि में घर बनाकर रहने पर प्रतिदिन उत्साह की वृद्धि, सुख एवं विशेष धन, धान्य की प्राप्ति होती है। जिस भूमि का पूर्व, अग्निकोण, व ईशानकोण ऊँचा व पश्चिम भाग नीचा होता है, उसे दैत्यपृष्ठभूमि कहते हैं। दैत्यपृष्ठ भूमि में निवास करने पर घर में लक्ष्मी नहीं आती और धन, पुत्र, पशु का निःसन्देह विनाश होता है। जिस भूमि का पूर्व पश्चिम भाग लम्बा और दक्षिण व उत्तर हिस्सा ऊँचा होता है वह नागपृष्ठभूमि होती है। नागपृष्ठ भूमि में निवास होने पर अवश्य ही मरण, स्त्री हानि, पुत्र हानि और पद-पद पर शत्रु की वृद्धि होती है। आयतक्षेत्राकृति में निवास करने से सर्वसिद्धि, चतुरस्त्र में धन की आमद, गोलाकृति में बुद्धि की वृद्धि, भद्रासन में कल्याण, चक्राकृति में दरिद्रता, विषम भूमि में शोक, त्रिकोणाकार में राजकीय भय, गाड़ी की आकार वाली में धन का नाश, दण्डाकार में पशु का क्षय, सूपाकार में गोधन का क्षय, कूर्माकार में बन्धन पीड़ा, धनुषाकार में बड़ा भय, कुम्भाकार में कुष्ठरोग, पवन में नेत्र व धन का नाश और मुरज में बान्धवों का क्षय होता है।[3]

गृहारम्भ का विधान

गृहपति को चाहिए कि वह ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसित भूमि को पहले हल से जोतवाकर उसमें बीज बोवे, बाद में उस बीज के पक जाने पर एक रात के लिए उसमें गायों को बैठावे, बाद में दैवज्ञ के बताये हुए मुहूर्त में वहाँ जाकर अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ, दधि, अक्षत, सुगन्ध, पुष्प और धूपों से क्षेत्रपति, स्थपति (कारीगर) और ब्राह्मणों की पूजा करके यदि गृहपति ब्राह्मण हो तो शिर, क्षत्रिय हो तो छाती, वैश्य हो तो उरु और शूद्र

1. तत्रैव-53/115-116
2. तत्रैव-53/117
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जन-86/44-54

हो तो पाँव स्पर्श करके गृहारम्भ की रेखा खींचनी चाहिए। यदि अंगूठा, मध्यमा, प्रदेशिनी, सोना, चाँदी, मोती, दही, फल, फूल या अक्षत से गृहारम्भ की रेखा बनावे तो गृहपति को शुभ होता है। यदि उक्त रेखा शस्त्र से करे तो शस्त्र से गृहस्वामी की मृत्यु, लोहे से करे तो बन्धन, भस्म से करे तो अग्निभय, तृण से करे तो चौरभय और काष्ठ से करे तो राजभय होता है। टेढ़ी, पाँव से लिखी हुई या रूप रहित रेखा शत्रुभय और कष्ट करती है। चमड़ा, कोयला, हड्डी या दाँत से की हुई रेखा गृहपति के लिए अशुभ होती है। वाम क्रम से लिखी हुई रेखा शत्रुता और प्रदक्षिण क्रम से लिखी हुई रेखा सम्पत्ति करती है। गृहारम्भ काल में कठोर वचन बोलना, थूकना और छींकना अशुभ है–

कृष्टां प्ररूढबीजां गोऽप्युपितां ब्राह्मणैः प्रशस्तां च।
गत्वा महीं गृहपतिः काले सांवत्सरोद्दिष्टे॥
भक्ष्यैर्नाकारैर्दध्यक्षतसुरभिकुसुमधूपैश्च।
दैवतपूजां कृत्वा स्थपतीनभ्यर्च्य विप्रांश्च॥
विप्रः स्पृष्ट्वा शीर्षं वक्षश्च क्षत्रियो विशश्चोरू।
शूद्रः पादौ स्पृष्ट्वा कुर्याद्रेखां गृहारम्भे॥
अङ्गुष्ठेन कुर्यान्मध्याङ्गुल्याऽथवा प्रदेशिन्या।
कनकमणिरजतमुक्तादधिफलकुसुमाक्षतैश्च शुभम्॥
शस्त्रेण शस्त्रमृत्युर्बन्धो लोहेन भस्मनाग्निभयम्।
तस्करभयं तृणेन च काष्ठोल्लिखिता च राजभयम्।
वक्रा पादालिखिता शत्रुभयक्लेशदा विरूपा च।
चर्माङ्गारास्थिकृता दन्तेन च कर्तुरशिवाय॥
वैरमपसव्यलिखिता प्रदक्षिणं सम्पदो विनिर्देश्याः।
वाचः परुषा निष्ठीवितं क्षुतं चाशुभं कथितम्॥[1]

बृहत्संहिता में दैवज्ञ द्वारा बताए गए मुहूर्त में गृहारम्भ करने की बात कही गई है, लेकिन मुहूर्त की चर्चा नहीं की गई है। अतः यहाँ पर मत्स्य पुराण में दिए गए गृहारम्भ मुहूर्त का उल्लेख किया जा रहा है। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य चैत्रमास में घर बनाता है, वह व्याधि, वैशाख में घर बनाने वाला धेनु और रत्न तथा ज्येष्ठ में मृत्यु को प्राप्त करता है। आषाढ में नौकर, रत्न और पशुसमूह की और श्रावण में नौकरों की प्राप्ति तथा भाद्रपद में हानि होती है। आश्विन में घर बनाने से पत्नी का नाश होता है। कार्तिक मास में धन–धान्यादि की तथा मार्गशीर्ष में श्रेष्ठ भोज्य पदार्थों की प्राप्ति होती है। पौष में चोरों का भय और माघ मास में अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, किन्तु अग्नि का भय बना रहता है। फाल्गुन में सुवर्ण तथा अनेक पुत्रों की प्राप्ति होती है। गृहारम्भ में अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, स्वाती, हस्त और अनुराधा–ये नक्षत्र प्रशस्त

1. बृहत्संहिता–53/98–104

कहे गये हैं। रविवार और मंगल को छोड़कर शेष सभी दिन शुभदायक हैं। व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड, विष्कम्भ, गण्ड, परिघ और वज्र-इन योगों में गृहारम्भ नहीं करना चाहिए। श्वेत, मैत्र, माहेन्द्र, गान्धर्व, अभिजित, रौहिण, वैराज और सावित्र-इन मुहूर्तों में गृहारम्भ करना चाहिए। चन्द्रमा और सूर्य के बल के साथ-ही-साथ शुभ लग्न का भी निरीक्षण करना चाहिए।[1]

शल्यज्ञान और उसका प्रभाव

शल्य शब्द का अर्थ किसी भी प्राणी, जिसमें गाय, घोड़ा, कुत्ता, हिरण आदि सम्मिलित हैं, की हड्डी से है। इन हड्डियों के भवन की भूमि में रहने पर उस भूमि को शल्ययुक्त माना जाता है। भस्म, वस्त्र, खप्पर, जली हुई लकड़ी, कोयला आदि भी शल्य की श्रेणी में ही परिगणित हैं। इस सम्बन्ध में बृहत्संहिता में चर्चा प्राप्त होती है। कहा गया है कि हवनकाल या प्रश्नकाल में गृह का स्वामी जिस अंग को खुजलावे वास्तु नर के उस अंग स्थान में शल्य कहना चाहिए। अथवा जिस देवता की आहुति देने के समय अशुभ निमित्त (छींक, रोना, चिल्लाना या अशुभ शब्द स्रवण) हो या अग्नि में विकार (विस्फुलिंग, शब्द के साथ दुर्गन्ध) उत्पन्न हो तो उस देवता के स्थान में शल्य कहना चाहिए-

कण्डूयते यदङ्गं गृहभर्त्तुर्यत्र वाऽमराहुत्याम्।
अशुभं भवेन्निमितं विकृतेर्वाग्नेः सशल्यं तत्॥[2]

आगे कहा गया है कि काष्ठ का शल्य हो तो धनहानि, हड्डी का शल्य हो तो पशुओं को पीड़ा और रोगभय, लोहे का शल्य हो तो शस्त्र का भय, कपाल या केश का शल्य हो तो मृत्यु, कोयले का शल्य हो तो चोर भय और भस्म का शल्य हो तो सदा अग्निभय होता है। सोना और चाँदी को छोड़कर कोई शल्य वास्तु पुरुष के मर्म स्थान में स्थित हो तो अत्यन्त अशुभ होता है। यदि धान्यों की भूसी मर्म स्थान या किसी अन्य स्थान में स्थित हो तो धन के आगमन को रोकता है। नागदन्त मर्म स्थान में हो तो दोष पैदा करने वाला होता है।[3]

शकुन देखने के दीप्त दिशा की तरफ मुख करके हाथी, घोड़ा, कुत्ता आदि जीव बोले तो जिस स्थान पर गृहस्वामी स्थित है, उसके नीचे उन जीवों के उसी अंग की हड्डी होनी चाहिए जिस अंग को गृहपति स्पर्श कर रहा हो-

शकुनसमयेऽथवाऽन्ये हस्त्यश्वश्वादयोऽनुवाशन्ते।
तत्प्रभवमस्थि तस्मिंस्तदंगसम्भूतमेवेति॥[4]

---

1. मत्स्यपुराण-253/1-10
2. बृहत्संहिता-53/59
3. तत्रैव-53/60-62
4. तत्रैव-53/107

अग्निपुराण में शल्यशोधन की चर्चा प्राप्त होती है। हड्डी और कोयले आदि से दूषित भूमि का खोदने, वहाँ गौवों को ठहराने अथवा बारम्बार जोतने आदि के द्वारा अच्छी तरह शोधन करना करना चाहिए। नगर, ग्राम, दुर्ग, गृह और प्रासाद के निर्माण कराने के लिए उक्त प्रकार से शोधन आवश्यक है।[1]

बृहद्वास्तुमाला में भूमि खोदने पर मिलने वाली चीजों एवं उनके फलाफल का विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है। भूमि खोदने पर यदि वहाँ पत्थर मिल जाए तो धन एवं आयु की वृद्धि होती है, यदि ईंट मिल जाए तो धनागम, कपाल, हड्डी, कोयला, केश आदि से रोग-पीड़ा होती है। यदि गड्ढे में पत्थर मिले तो सुवर्ण लाभ, ईंट से समृद्धि, द्रव्य से सुख और ताम्रादि धातु से सब प्रकार की वृद्धि होती है। भूमि खोदने पर चींटी, अजगर निकले तो उस भूमि पर निवास नहीं करना चाहिए। भूसा, हड्डी, वस्त्र, भस्म, अण्डे, साँप निकले तो गृहकर्ता की मृत्यु समझनी चाहिए। कौड़ी निकले तो दुःख और झगड़ा होता है, रुई विशेष दुःख देती है, जली हुई लकड़ी निकले तो रोगकारक होती है, खप्पर से कलह, लोहे से गृहपति की मृत्यु होती है। अतः गृहनिर्माण के पूर्व इन सबका भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए।[2]

शिलान्यास और उसके प्रकार

शिलान्यास और उसके प्रकारों की विवेचना भी बृहत्संहिता में प्राप्त होती है। इसके अनुसार पहले उत्तर पूर्व के कोण (ईशान कोण) में पूजा करके शिलान्यास करना चाहिए, बाद में प्रदक्षिण क्रम से शेष शिलाओं का न्यास करना चाहिए। इसी क्रम में से स्तम्भों का उत्थापन करना चाहिए। छत्र, माला, वस्त्र, धूप और चन्दन से विभूषित करके स्तम्भ को खड़ा करना चाहिए। इसी तरह द्वार को भी खड़ा करना चाहिए-

उत्तरपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत्प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः॥
छत्रस्त्रगम्बरयुतः कृतधूपविलेपनः समुत्थाप्यः।
स्तम्भस्तथैव कार्यो द्वारोच्छ्रायः प्रयत्नेन॥[3]

विशेष-बृहत्संहिता की कुछ प्रतियों में **'उत्तरपूर्वे कोणे'** के स्थान पर **'दक्षिणपूर्वे कोणे'** ऐसा पाठ है। इसके अनुसार दक्षिणपूर्वकोण अर्थात् आग्नेय में प्रथम शिला रखनी चाहिए।

स्तम्भ का मध्य भाग समान चार कोण वाला हो तो रुचक, आठ कोण वाला हो तो वज्र, सोलह कोण वाला हो तो द्विवज्र, बत्तीस कोण वाला हो तो प्रलीनक और वर्तुलाकार हो

1. अग्निपुराण-92/9-10
2. बृहद्वास्तुमाला, पृ0 26-27
3. बृहत्संहिता-53/112-113

तो वृत्त स्तम्भ कहलाता है। ये पाँच स्तम्भ शुभ और शेष अशुभ फल देने वाले होते हैं–

समचतुरस्त्रो रुचको वज्रोऽष्टास्त्रिर्द्विवज्रको द्विगुणः।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः।।[1]

गरुड पुराण में कहा गया है वास्तुमण्डल के ईशानकोण में वास्तुदेवता का मस्तक होता है। नैर्ऋत्यकोण में उनके दोनों पाद तथा अग्नि और वायु कोण में दोनों हाथ होते हैं। आवास अर्थात् भवन, गृह आदि, नगर, ग्राम, व्यापारिक पथ, प्रासाद, उद्यान, दुर्ग, देवालय तथा मठ आदि के निर्माण में वास्तु देवता की स्थापनापूर्वक पूजा करनी चाहिए–

ईशाने च शिरः पादौ नैर्ऋत्येऽग्न्यनिले करौ।
आवासवासवेश्मादौ पुरे ग्रामे वणिक्पथे।
प्रासादारामदुर्गेषु देवालयेषु मठेषु च।।[2]

चतुःशालाएं

बृहत्संहिता[3] में सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक एवं रुचक चतुःशालाओं का विवेचन किया गया है। मत्स्यपुराण में इसे अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार जो चतुःशाल चारों ओर भवन, द्वार तथा बरामदों से युक्त हो, उसे सर्वतोभद्र कहा जाता है। वह देव–मन्दिर तथा राजभवन के लिए मङ्गलकारक होता है। वह चतुःशाल यदि पश्चिम द्वार से हीन हो तो नन्द्यावर्त, दक्षिणद्वार से हीन हो तो वर्धमान, पूर्वद्वार से रहित हो तो स्वस्तिक, उत्तरद्वार से हीन हो तो रुचक कहा जाता है–

चतुःशालं चतुर्द्वारैररलिन्दैः सर्वतोमुखम्।।
नाम्ना तत् सर्वतोभद्रं शुभं देवनृपालये।
पश्चिमद्वारहीनं च नन्द्यावर्तं प्रचक्षते।।
दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्।
पूर्वद्वारविहीनं तत् स्वस्तिकं नाम विश्रुतम्।।
रुचकं चोत्तरद्वारविहीनं तत् स्वस्तिकं नाम विश्रुतम्।।[4]

बृहत्संहिता में इन पाँच चतुःशालाओं का फल बताते हुए कहा गया है कि नन्द्यावर्त और वर्धमान संज्ञक वास्तु सबके लिए श्रेष्ठ है। स्वस्तिक और रुचक संज्ञक वास्तु मध्यम है। शेष सर्वतोभद्र संज्ञक वास्तु राजा आदि (राजमन्त्री, राजाश्रित पुरुष और देवता) के लिए शुभ है, अन्य के लिए नहीं–

---

1. तत्रैव–53/28
2. गरुडपुराण–46/2–3
3. बृहत्संहिता– 53/31–35
4. मत्स्यपुराण–254/1–4

श्रेष्ठं नन्द्यावर्तं सर्वेषां वर्धमानसञ्ज्ञं च।
स्वस्तिकरुचके मध्ये शेषं शुभदं नृपादीनाम्।।[1]

त्रिशालाएं

त्रिशाल भवनों की चर्चा भी बृहत्संहिता में प्राप्त होती है। जिसके उत्तर तरफ भीत (दीवाल) न हो और शेष तीन दिशाओं में हो उसको हिरण्य नामक त्रिशाल वास्तु कहते हैं, यह वास्तु प्रशस्त है। जिसके पूर्व तरफ भीत न हो और शेष तीन दिशाओं में हो उसको सुक्षेत्र नामक त्रिशाल वास्तु कहते हैं, यह वास्तु धन, पुत्र आदि की वृद्धि करती है। जिसके दक्षिण तरफ भीत न हो और शेष तीन दिशाओं में हो उसको चुल्ली नामक त्रिशाल वास्तु कहते हैं, यह वास्तु धननाश करती है। जिसके पश्चिम तरफ भीत न हो और शेष तीन दिशाओं में हो उसको पक्षघ्न नामक त्रिशाल वास्तु कहते हैं, यह वास्तु पुत्रनाश और वैर देता है–

उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम्।
प्राक्शालया वियुक्तं सुक्षेत्रं वृद्धिदं वास्तु।।
याम्याहीनं चुल्ली त्रिशालाकं वित्तनाशकरमेतत्।
पक्षघ्नपरया वर्जितं सुतध्वंसवैरकरम्।।[2]

मत्स्यपुराण[3] में इसका विवेचन प्राप्त होता है।

द्विशालाएं

द्विशाल वास्तुओं का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिसके पश्चिम और दक्षिण में शाला हो उसको सिद्धार्थ, जिसके पश्चिम और उत्तर में हो उसको यमसूर्य, जिसके उत्तर और पूर्व में हो उसको दण्ड, जिसके पूर्व और दक्षिण में हो उसको वात, जिसके पूर्व और पश्चिम में हो उसको गृहचुल्ली और जिसके दक्षिण और उत्तर में हो उसको काचसंज्ञक वास्तु कहते हैं। सिद्धार्थ वास्तु में धन की प्राप्ति, यमसूर्य में गृहस्वामी की मृत्यु, दण्ड में दण्ड से मृत्यु, वात में सदा कलह, गृहचुल्ली में धन का नाश और काचसंज्ञक वास्तु में बन्धुओं से विरोध होता है–

सिद्धार्थमपरयाम्ये यमसूर्यं पश्चिमोत्तरे शाले।
दण्डाख्यमुदक्पूर्वे वाताख्यं प्राग्युता याम्या।।
पूर्वापरे तु शाले गृहचुल्ली दक्षिणोत्तरे काचम्।
सिद्धार्थेऽर्थावाप्तिर्यमसूर्ये गृहपतेर्मृत्युः।।

---

1. बृहत्संहिता–53/36
2. तत्रैव–53/37–38
3. मत्स्यपुराण–254/5–7

दण्डवधो दण्डाख्ये कलहोद्वेगः सदैव वाताख्ये।
वित्तविनाशश्चुल्ल्यां ज्ञातिविरोधः स्मृतः काचे॥[1]

मत्स्यपुराण[2] में भी इसका विवेचन प्राप्त होता है।

वास्तुपुरुष के विभाग

बृहत्संहिता की मान्यता है कि वास्तुपुरुष के 81 या 64 भाग हैं। इनको विभिन्न देवताओं के आधिपत्य के अनुसार इन भागों में बाँटा गया है।[3] वस्तुतः इसका वैज्ञानिक महत्त्व भी है क्योंकि विभिन्न स्थानों के स्वामी के आधार पर तत्स्थान में पूजागृह, शयनकक्ष आदि बनवाने से सुख की प्राप्ति होगी तथा वास्तुपुरुष का जो भाग पीड़ायुक्त होगा, गृहस्वामी के भी उसी भाग में व्याधि या पीड़ा होगी। मत्स्य पुराण में भी इसका संकेत किया गया है। यहाँ चौंसठ पदों वाले वास्तु को श्रेष्ठ बतलाया गया है।[4]

यदि वास्तुपुरुष दक्षिणभुजाहीन हो तो धन नाश और स्त्रीकृत दोष होता है। वामभुजाहीन हो तो धन-धान्यों का नाश, शिरहीन हो तो, धन, आरोग्य आदि सब गुणों का नाश तथा चरणहीन हो तो स्त्री दोष, पुत्र की मृत्यु और दासत्व होता है। यदि वास्तु पुरुष के सब अङ्ग पूर्ण हो तो उस स्थान में निवास करने वाले मनुष्य को मान और धन से युत सुख मिलता है-

दक्षिणभुजेन हीने वास्तुनरेऽर्थक्षयोऽङ्गनादोषाः।
वामेऽर्थधान्यहानिः शिरसि गुणैर्हीयते सर्वैः॥
स्त्रीदोषाः सुतमरणं प्रेष्यत्वं चापि चरणवैकल्ये।
अविकलपुरुषे वसतां मानार्थयुतानि सौख्यानि॥[5]

सुख को चाहने वाले गृह स्वामी घर के मध्य में स्थित ब्रह्मा जी की यत्नपूर्वक रक्षा करे। उनके ऊपर उच्छिष्ट आदि अपवित्र वस्तु को रखने से गृह स्वामी को पीड़ा होती है-

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद्गृही गृहान्तःस्थम्।
उच्छिष्टाद्युपघाताद्गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन्॥[6]

वास्तु का जो सबसे संवेदनशील स्थान है, वह मर्म स्थान कहलाता है। बुद्धिमान पुरुषों को चाहिए कि उन मर्मस्थानों को पीड़ित नहीं करे। बृहत्संहिता में कहा गया है

1. बृहत्संहिता-53/39-41
2. मत्स्यपुराण-254/8-14
3. बृहत्संहिता-53/42-56)
4. मत्स्य पुराण-253/21-51
5. बृहत्संहिता-53/67-68
6. तत्रैव-53/66

कि यदि मर्म स्थान अपवित्र भाण्ड आदि वस्तु, कील, खम्भा आदि (पाषाण आदि) से पीड़ित हो तो तत्तुल्य अंग में गृहस्वामी को पीड़ा होती है अर्थात् पीड़ित मर्म स्थान वास्तु नर के जिस अंग पर पड़े तत्तुल्य अंग में गृहस्वामी को पीड़ा होती है–

तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यैः पीडितानि शल्यैश्च।
गृहभर्त्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति॥[1]

वासगृह का निर्माण

ब्राह्मण आदि को वर्ण क्रम से उत्तर आदि दिशा में वासगृह बनाना चाहिए। जैसे ब्राह्मण उत्तर में, क्षत्रिय पूर्व, वैश्य दक्षिण में और शूद्र पश्चिम में निवासस्थान बनावे। गृह इस तरह बनाना चाहिए जिससे कि आंगन में प्रवेश करते समय वे गृह दक्षिण तरफ पड़े। जैसे पूर्व मुख वाले गृह के आंगन का द्वार उत्तर में, दक्षिण मुख वाले गृह के आंगन का द्वार पूर्व में, पश्चिम मुख वाले गृह के आंगन का द्वार दक्षिण में और उत्तर मुख वाले गृह के आंगन का द्वार पश्चिम में बनाना चाहिए–

वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुदग्दिगाद्यानि।
विशतां च यथा भवनं भवन्ति तान्येव दक्षिणतः॥[2]

ईशान कोण में देवगृह, अग्निकोण में पाकगृह, नैर्ऋत्य कोण में गृह सामग्री गृह और वायव्य कोण में धन–धान्य स्थापन गृह बनाना चाहिए–

ऐशान्यां देवगृहं महानसं चापि कार्यमाग्नेय्याम्।
नैर्ऋत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थधान्यानि मारुत्याम्॥[3]

गरुडपुराण में कहा गया है कि वास्तु देवों की पूजा करके भवन निर्माण का कार्य आरम्भ करना चाहिए। वास्तुभवन के सम्मुखभाग में देवालय, अग्निकोण में पाकशाला, पूर्वदिशा में यज्ञ–मण्डप, ईशान कोण में प्रस्तर से बनी पट्टिकाओं के द्वारा घिरा हुआ सुगन्धित पदार्थों तथा पुष्पों को रखने का स्थान, उत्तर दिशा में भाण्डारागार, वायुकोण में गोशाला, पश्चिम दिशा में खिड़की तथा जलाशय, नैर्ऋत्य कोण में समिधा, कुश, ईंधन तथा अस्त्र–शस्त्र का कक्ष, दक्षिण दिशा में सुन्दर शय्या, आसन, पादुका, जल, अग्नि, दीप और सज्जन भृत्यों से युक्त अतिथि गृह का निर्माण करना चाहिए।[4]

बृहद्वास्तुमाला में भी इस विषय में विवेचन प्राप्त होता है। इसके अनुसार पूर्व दिशा में लक्ष्मी का गृह, आग्नेय कोण में रसोईघर, दक्षिण में शयनगृह, नैर्ऋत्यकोण में शस्त्रागार,

1. तत्रैव–53/58
2. तत्रैव–53/70
3. तत्रैव–53/118
4. गरुडपुराण–46/12–16

पश्चिम में पाकशाला, वायव्यकोण में धनागार, उत्तर में द्रव्यस्थान, ईशानकोण में देवतागृह, पूर्व और अग्निकोण के बीच में दही मथने का गृह, दक्षिण और आग्नेयकोण में घी रखने का स्थान, दक्षिण एवं नैर्ऋत्य कोण के बीच में शौचालय, नैर्ऋत्य कोण और पश्चिम के बीच में स्वाध्यायगृह, पश्चिम और वायव्यकोण के बीच में कोपभवन, वायव्यकोण और उत्तर के बीच में रतिगृह, उत्तर और ईशानकोण के बीच में औषधगृह, ईशानकोण और पूर्व के बीच में समस्त वस्तुओं का संग्रह गृह-इस प्रकार 16 गृहों का विधान है।[1]

मनुष्य को चाहिए कि वास्तु मण्डल के मध्य में ही सदा गृह का निर्माण करे। उसके पृष्ठभाग में न करे। इसी प्रकार वास्तुमण्डल के वामपार्श्व में भी गृहनिर्माण करना उचित नहीं होता है क्योंकि वामपार्श्व में भी गृहनिर्माण करना उचित नहीं होता है, क्योंकि वामपार्श्व में वास्तुदेव सोये रहते हैं। अतः इसमें गृह-निर्माण नहीं करना चाहिए।[2]

वास्तुमण्डलवर्ती देवताओं के स्थापन, पूजन, अर्घ्यदान तथा बलिदान आदि की विधि और शिलान्यास का बहुत ही विस्तृत विवेचन अग्निपुराण में मिलता है।[3] वास्तुपूजा विधि भी अग्निपुराण में विवेचित है।[4]

वास्तु स्थान से पूर्व आदि दिशाओं में यदि जल स्थित हो तो क्रम से पुत्रनाश, अग्निभय, शत्रुभय, स्त्रियों में कलह, स्त्रियों में दुःशीलता, निर्धनता, धन की वृद्धि और पुत्रों की वृद्धि होती है।[5]

बृहत्संहिता में राजाओं, सेनापतियों, मन्त्रियों, युवराजों, भृत्यों, सामन्तों, प्रधान राजपुरुषों, अधिकारियों, राज-ज्यौतिषियों आदि के गृहों के परिमाण के सम्बन्ध में भी विवेचन प्राप्त होता है।[6]

गृहनिर्माण में वृक्षों एवं उनके काष्ठ का प्रयोग

पक्षियों के घोसले वाले, टूटे हुए, देवालय के समीप स्थित, श्मशान में स्थित, दूध वाले, वच, बहेड़ा, नीम, अरलू इन सबों को छोड़कर शेष वृक्षों को ही घर बनाने के लिए काटना चाहिए-

खगनिलयभग्नसंशुष्कदग्धदेवालयश्मशानस्थान्।
क्षीरतरुधवविभीतकनिम्बारणिवर्जितान् छिन्द्यात्।।[7]

---

1. बृहद्वास्तुमाला-शल्याधिकार/150-155
2. गरुड पुराण-49/28
3. अग्निपुराण-40/1-40, 41/1-37
4. तत्रैव-93/1-42
5. बृहत्संहिता-53/119
6. तत्रैव-53/4-10
7. तत्रैव-53/120

वृक्ष के काटने की विधि भी बृहत्संहिता में बताई गई है। कहा गया है कि खीर, लड्डू, भात, दही, उल्लोपिका आदि भक्ष्य वस्तु, पुष्प आदि सुगन्धित द्रव्यों से वृक्षों की पूजा करनी चाहिए। रात में देवता, पितर, पिशाच, राक्षस, नाग, सुरगण, गणेश, आदि की पूजा करके वृक्ष को स्पर्श करके मन्त्रविशेष का पाठ करना चाहिए।[1] मन्त्रविशेष का उल्लेख आगे किया जा रहा है–

नमस्ते वृक्ष पूजेयं विधिवत् सम्प्रगृह्यताम्।।
यानीह भूतानि वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम्।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यद्य नमोऽस्तु तेभ्यः।।[2]

अर्थात् हे वृक्ष! अपको नमस्कार करता हूँ, विधिपूर्वक इस पूजा को ग्रहण करें तथा इस वृक्ष पर जो प्राणीगण निवास करते हैं वे सब विधिपूर्वक इस पूजा को ग्रहण करके कहीं अन्यत्र निवासस्थान कल्पित करें, आज वे सब क्षमा करें, उनको नमस्कार करता हूँ।

प्रातःकाल जल से वृक्ष को सींचकर शहद और घृत से चुपड़े हुए कुठार से पहले ईशानकोण में काटकर शेष प्रदक्षिण क्रम से काटना चाहिए। यदि काटा हुआ वृक्ष पूरब, ईशान कोण या उत्तर दिशा में गिरे तो वृद्धि करने वाला होता है। अग्निकोण आदि पाँच दिशाओं में क्रम से अग्निदाह, रोग, रोग, रोग और घोड़े का नाश होता है अर्थात् अग्निकोण में अग्निदाह, दक्षिण में रोग, नैर्ऋत्यकोण में रोग, पश्चिम में रोग और वायव्य कोण में घोड़े का नाश होता है–

वृक्षं प्रभाते सलिलेन सिक्त्वा पूर्वोत्तरस्यां दिशि सन्निकृत्य।
मध्वाज्योदग्धेन कुठारकेण प्रदक्षिणं शेषमतो निहन्यात्।।
पूर्वेण पूर्वोत्तरतोऽथवोदक्पतेद्यदा वृद्धिकरस्तदा स्यात्।
आग्नेयकोणात्क्रमशोऽग्निदाहरुग्रोगरोगास्तुरगक्षयश्च।।[3]

वृक्ष के शल्य से शुभाशुभ का विवेचन भी बृहत्संहिता में किया गया है। कहा गया है कि यदि वृक्ष का कटित प्रदेश विकार रहित हो तो उसकी लकड़ी गृह के लिए शुभ होती है। यदि उसमें (कटित प्रदेश में) पीत वर्ण का मण्डल दिखाई दे तो वृक्ष के मध्य में गोधा, मञ्जीठ की तरह लाल रंग का मंडल दिखाई दे तो मेढक, नील रंग का मण्डल दिखाई दे तो सर्प, लाल रंग का मण्डल दिखाई दे तो गिरगिट, मूँग के समान वर्ण का मण्डल दे तो पत्थर, पीला मण्डल दिखाई दे तो चूहे और खड्ग के सदृश मण्डल दिखाई दे तो जल का निवास मानना चाहिए–

छेदो यद्यविकारी ततः शुभं दारु तद्गृहौपयिकम्।
पीते तु मण्डले निर्दिशेत्तरोर्मध्यगां गोधाम्।।

1. तत्रैव–59/8–9
2. तत्रैव–59/10–11
3. तत्रैव–59/12–13

मञ्जिष्ठाभे भेको नीले सर्पस्तथाऽरुणे सरटः।
मुद्गाभेऽश्मा कपिले तु मूषकोम्भश्च खड्गाभे।।[1]

बृहद्वास्तुमाला में ग्राह्याग्राह्य काष्ठों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। श्रीपर्णी, रोहिणी, शाक, सर्ज, सरल, पतंग, लोध्र, शाल, ताल, अर्जुन, शिंशपा, चन्दन, अशोक, बदरी, मधूक, कदम्ब–इनके काष्ठ गृहनिर्माण के लिए शुभ होते हैं।[2] नारद के मत में पाकर, गूलर, आम, नीम, सेहुड़, बहेड़ा, जले हुए काष्ठ, काँटे वाले वृक्ष, बरगद, पीपल, कैथ, अगस्त, सहजन, ताड़, और इमली–इन वृक्षों का काष्ठ गृहनिर्माण में निन्दनीय हैं।

बृहद्दैवज्ञरञ्जन में बताया गया है कि कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि, रेवती, रोहिणी नक्षत्र में जब गुरु लग्न में हो तो घर के लिए वृक्षों का काटना शुभ होता है। लग्नस्थ शुक्र व केन्द्रस्थ स्थिर राशि में गुरु के रहने पर तृणादि से घर के ऊपर आच्छादन करना शुभ माना जाता है।[3] इसी का संकेत बृहद्वास्तुमाला में भी प्राप्त होता है।[4]

मत्स्यपुराण में गृहनिर्माण अर्थात् वास्तुकार्य में ग्राह्य काष्ठ का विस्तृत उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि धनिष्ठा आदि पाँच नक्षत्रों और इसके बाद भद्रा आदि को छोड़कर ज्योतिषी द्वारा बताए गए शुभ दिन में बुद्धिमान् पुरुष काष्ठ लाने के लिए वन को प्रस्थान करे। सर्वप्रथम ग्रहण किए जाने वाले वृक्ष की बलिपूजा करनी चाहिए। पूर्व और उत्तर दिशा की ओर गिरने वाले वृक्ष का काष्ठ घर में नहीं लगाना चाहिए। जो वृक्ष पक्षियों द्वारा अधिष्ठित तथा वायु और अग्नि से पीड़ित हो, हाथी से तोड़ा हुआ हो, बिजली गिरने से जल गया हो, जिसका आधा भाग सूख गया हो या कुछ अंश टूट–फूट गया हो, अश्वत्थ, समाधि या देवमन्दिर से निकले वृक्ष, नदी के संगम पर स्थित वृक्षों को अथवा जो श्मशानभूमि, तालाब आदि जलाशयों पर उगा हुआ हो, ऐसे वृक्षों को विपुल लक्ष्मी की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। इसी तरह काँटेदार वृक्ष, कदम्ब, निम्ब, बहेड़ा, ढेरा और आम के वृक्षों को गृहकर्म में नहीं लेना चाहिए। असना, अशोक, महुआ, सर्ज और साखू के काष्ठ मंगलप्रद हैं। चन्दन, कटहल, देवदारु तथा दारुव्दी के काष्ठ धनप्रद कहे गए हैं। एक, दो या तीन प्रकार के काष्ठों से बनाया हुआ भवन शुभ होता है क्योंकि अनेक प्रकार के काष्ठों से बनाया गया भवन अनेक भयों को देने वाला होता है। धनदायक शीशम, श्रीपर्णी तथा तिन्दुकी के काष्ठ को अकेले ही लगाना चाहिए, क्योंकि ये अन्य काष्ठ के साथ सम्मिलित कर देने से कभी मंगलकारी नहीं होते। इसी प्रकार धव, कटहल, चीड़, अर्जुन और पद्म वृक्ष भी अन्य काष्ठों के साथ सम्मिलित होने पर गृहकार्य के लिए शुभदायक नहीं होते। वृक्ष काटते समय विचक्षण पुरुष को यदि पीले

---

1. तत्रैव–53/122–123
2. बृहद्वास्तुमाला–शल्याधिकार/130–131
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जन–86/415–416
4. बृहद्वास्तुमाला–शल्याधिकार/141

वर्ण का चिह्न मिले तो भावी गृह में गोह का, मंजीठ रंग का मिलने पर मेढक का, नीला रंग का मिलने पर सर्प का, अरुण रंग से गिरगिट का, मोती के समान श्वेत चिह्न से शुक का, कपिल वर्ण से चूहे का और तलवार की भाँति चिह्न मिलने पर जल का भय जानना चाहिए। इस प्रकार के गर्भ वाले वृक्ष को वास्तुकर्म में त्याग देना चाहिए। पहले से कटे हुए वृक्ष को शुभदायी निमित्त शकुनों के साथ ग्रहण किया जा सकता है।[1]

अन्य गृह में प्रयुक्त काष्ठ को दूसरे घर में नहीं लगाना चाहिए। नए घर में नयी लकड़ी का तथा पुराने घर में पुरानी लकड़ी का प्रयोग उचित होता है। पुराने घर में नयी लकड़ी का प्रयोग हो सकता है किन्तु नये घर में पुरानी लकड़ी का प्रयोग उचित नहीं होता है।[2] बृहद्दैवज्ञरञ्जन में कहा गया है कि दूसरे मकान के पुराने काष्ठादि का प्रयोग नवीन मकान में करने से गृहस्वामी को मरण होता है।[3] इसी तथ्य का प्रतिपादन बृहद्वास्तुमाला में भी किया गया है।[3]

गृहद्वार

यदि मार्ग, वृक्ष, दूसरे घर का कोना, कूप, खम्भा या भ्रम (जल निकलने की मोरी) से गृह द्वार विद्ध होता है अर्थात् ये सब द्वार के सम्मुख हो तो अशुभ है। पर गृह द्वार की जितनी ऊँचाई हो उससे द्विगुणित भूमि को छोड़कर आगे वेध करते हुए भी इन मार्गादि का रहना दोषद नहीं है–

मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद्द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय॥[4]

यदि गृह द्वार मार्ग से वेधित हो तो गृहस्वामी की मृत्यु, वृक्ष से वेधित हो तो बालकों में दोष, पंक से वेधित हो तो शोक, मोरी से वेधित हो तो व्यर्थ खर्च, कूप से वेधित हो तो मृगी रोग की उत्पत्ति, देवता की प्रतिमा से वेधित हो तो गृह स्वामी का नाश, स्तम्भ से वेधित हो तो स्त्रियों में दोष और ब्रह्मा के सम्मुख हो तो कुल का नाश करता है–

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्त्राविणी प्रोक्तः॥
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे॥[5]

जिस गृह के द्वार का किवाड़ बिना खोले ही खुल जाए उसमें रहने वाले को उन्माद,

1. मत्स्य महापुराण–257/1–15
2. वास्तुसौख्यम्– 123, 125
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जन–86/412
4. बृहत्संहिता–53/76
5. तत्रैव–53/77–78

अपने आप बन्द हो जाए कुल का नाश, निर्धारित परिमाण से अधिक द्वार का परिमाण हो तो राजभय, प्रमाण से अल्प हो तो चोर भय और दुःख होता है। यदि एक घर के द्वार पर दूसरे खण्ड का द्वार पड़े तो शुभ नहीं होता है, जिस द्वार की मोटाई अल्प हो वह भी शुभ नहीं होता है, मृदङ्ग की आकृति वाला अतिविपुल द्वार क्षुधा का भय करता है और कुबड़ा द्वार कुल का नाश करता है। यदि ऊपरी काष्ठ आदि के भार से दबा हुआ द्वार हो तो गृहस्वामी को पीड़ा करता है। भीतर को झुका हुआ द्वार हो तो गृहस्वामी की मृत्यु करता है, बाहर को झुका हुआ द्वार गृहस्वामी को प्रवासी बनाता है और दिग्भ्रान्त (जिस दिशा का द्वार हो उससे भिन्न दिशा को देखता) हो तो गृहस्वामी को चोरों को पीड़ित करता है।[1]

जितने सुन्दरता का सामान लेकर मूल द्वार की रचना की गई हो उतने सामान से अन्य द्वार की रचना नहीं करनी चाहिए तथा कलश, श्रीफल, पत्र, पुष्प आदि से उस मूल द्वार की शोभा बढ़ानी चाहिए–

मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरभिसन्दधीत रूपर्द्ध्या।
घटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मङ्गलैश्चिनुयात्।।[2]

वास्तु और वनस्पतियों का सम्बन्ध

पाकड, वट, गूलर, पीपल ये चार वृक्ष प्रदक्षिण क्रम से दक्षिण आदि दिशाओं में अशुभ और उत्तर आदि दिशाओं में शुभ हैं। जैसे दक्षिण में पाकड, पश्चिम में वट, उत्तर में गूलर और पूर्व में पीपल अशुभ होता है। उत्तर में पाकड, पूर्व में वट, दक्षिण में गूलर और पश्चिम में पीपल शुभ है–

याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ता प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः।।[3]

कांटेदार वृक्ष के गृह–समीप में रहने से शत्रुभय होता है। दूध वाला वृक्ष गृह समीप में रहने से धननाश होता है। फल वाले वृक्ष के गृह समीप में रहने से सन्तति का नाश होता है। इनके काष्ठ भी गृह में लगाने से शुभ नहीं होता है। यदि उपर्युक्त कांटेदार आदि वृक्ष को काटकर उनकी जगह पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, बकुल, कटहल, शमी या शाल रोप दिए जाएं तो उपर्युक्त दोष नहीं लगता है–

---

1. तत्रैव–53/79–81
2. तत्रैव–53/82
3. तत्रैव–53/85

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम्॥
छिन्द्याद्यदि न तरूंस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टकुलपनसान् शमीशालौ॥[1]

बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है कि जो घर के पूर्व-पश्चिम अथवा ईशान कोण में वाटिका, तालाब अथवा कुँआ बनवाता है, वह सदा गायत्री पुरश्चरण करने के समान फल पाता है। वृक्षारोपण से भी लताओं को लगाने का फल अधिक होता है।[2]

बृहद्दैवज्ञरञ्जन में भी कहा गया है कि दुग्धवाले वृक्ष, काँटे वाले वृक्ष और फलवाले वृक्ष मकान के समीप अच्छे नहीं होते हैं। चम्पा, गुलाब, केला, जाती और केतकी के वृक्ष शुभ होते हैं। एक प्रहर दिन के बाद किसी वृक्ष की छाया घर में शुभ नहीं होती है। ब्रह्मा के मन्दिर के बगल में, विष्णु, सूर्य, शिव मन्दिर के सामने, जैन मन्दिर के पीछे और देवी मन्दिर के किसी भाग में घर बनाना शुभ नहीं होता है। दुग्धवाले वृक्ष धननाश करने वाले, काँटे वाले वृक्ष शत्रुभय और फल वाले वृक्ष सन्तान नाशक होते हैं। मकान के समीप पीले पुष्प का वृक्ष शुभ नहीं होता है।[3]

इन्हीं बातों का उल्लेख करते हुए वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित एक ग्रन्थ 'शिल्पदीपक' में कहा गया है कि दुष्ट तथा भूतहे वृक्षों को कभी नहीं काटना चाहिए। इसी तरह बिल्व, शमी, अशोक, बकुल, पुन्नाग और चम्पक को भी काटना वर्जित है। द्राक्षा, तिलक, पिप्पली, दाडिम आदि का रोपण अच्छा माना गया है। इसी तरह आवास के उत्तर में कपित्थ, पूर्व में बरगद, दक्षिण में उदुम्बर तथा पश्चिम दिशा में पीपल का रोपण श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि पीपल, उदुम्बर, वट, प्लक्ष, आम्र, खेरादि को लगाने से अथवा इनके आश्रित गृह जहाँ इनकी छाया पड़ती हो वहाँ पर वृद्धि नहीं होती है।[4]

प्रवेशकालिक गृह का स्वरूप-

बृहत्संहिता के अनुसार बहुत पुष्पों से विभूषित, तोरण से अलंकृत, जलपूर्ण कलशों से शोभित, धूप, गन्ध, पुष्प आदि से पूजित, देवताओं से युत और ब्राह्मणों के द्वारा की गई वेद ध्वनियों से युत गृह में प्रवेश करना चाहिए-

भूरिपुष्पविकरं सतोरणं तोयपूर्णकलशोपशोभितम्।
धूपगन्धबलिपूजितामरं ब्राह्मणध्वनियुतं विशेद् गृहम्॥[5]

---

1. तत्रैव-53/86-87
2. बृहद्वास्तुमाला-पृ0 128
3. बृहद्दैवज्ञरञ्जन-87/2-3
4. शिल्पदीपक-1/46-49
5. बृहत्संहिता-53/125

यहाँ पर भी बृहत्संहिता में मुहूर्त का संकेत नहीं किया गया है। अतः यहाँ पर संग्रहशिरोमणि में निर्देशित मुहूर्त की चर्चा की जा रही है। नूतन गृह में प्रवेश उत्तरायण में गृहारम्भ प्रतिपादित मास-नक्षत्र-तिथि-दिन में शुभ है, किन्तु तृणगृह में सर्वदा प्रवेश उचित है।[1] चित्रा, तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशिरा, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, शतभिषा इनमें प्रवेश से आयुष्य, धन, आरोग्य, सुपुत्र, पौत्र व यश की प्राप्ति होती है।[2] ध्रुव व मैत्र संज्ञक नक्षत्रों में नूतन गृह में प्रवेश शुभ है।[3] कृत्तिका नक्षत्र, रवि, भौम दिन में प्रवेश से अग्नि से गृह भस्म हो जाता है, किन्तु चन्द्रमा का दिन वृद्धिकारक होता है। बुध, गुरु, शुक्र के दिनों में प्रवेश से लक्ष्मी की प्राप्ति व महान् अर्थ की सिद्धि होती है, शनिवार का प्रवेश स्थायित्व देता है, किन्तु चौरभयकारक होता है।[4] प्रवेश लग्न से 1/4/7/10/5/9/2/11/3 स्थानों में शुभ ग्रह, 3/6/11 स्थानों में पापग्रह व 1/6/8/12 से भिन्न स्थानों के चन्द्रमा में प्रवेश से गृह में लक्ष्मी का निवास होता है।[5]

प्राणी के शरीर मर्यादा के अनुसार गृहादिकों का शास्त्रोक्त विधि से निर्माण करना श्रेयस्कर होता है। न्यूनाधिक निर्माण से हानि होती है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बृहत्संहिता में वास्तुविद्या से सम्बन्धित मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसका आश्रय लेकर गृहनिर्माण की प्रक्रिया को निर्दुष्ट बनाया जा सकता है। अन्य ज्योतीषीय एवं वास्तुसिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों का आश्रय लेकर शोधकार्य को समृद्ध बनाने की चेष्टा की गई है।

---

1. संग्रहशिरोमणि-21/7
2. तत्रैव-21/8
3. तत्रैव-21/10
4. तत्रैव-21/12-13
5. तत्रैव-21/21

वास्तुशास्त्र अध्यापन में 'करके सीखना' विधि का प्रयोग

डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार

प्रत्येक ज्ञान विशेष की प्रकृति अलग होती है जिसके आधार पर ही, शिक्षक अध्यापन विधि का चयन करता है उदाहरण स्वरूप यदि हम भाषा शिक्षण को ही लें तो केवल अध्यापन द्वारा भाषा को सिखाना संभव नही है। इसके लिए विद्यार्थी को भाषा के प्रयोग हेतु अवसर भी उपलब्ध कराने होते हैं जिससे वह उस भाषा विशेष के श्रवण, भाषण, पठन और लेखन में निपुण हो सके यदि शिक्षक, शिक्षण के दौरान प्रभावपूर्ण और उपयुक्त विधि के चयन में सफल नही हो पाता है तो वह विद्यार्थी को, ज्ञान विशेष का अवबोध कराने में भी सक्षम नहीं होगा। अत: यह परमावश्यक है कि शिक्षक, ज्ञान विशेष की प्रकृति के आधार पर अध्यापन विधियों का चयन करे, जिससे विद्यार्थी ज्ञान के सैद्धांतिक पक्ष के साथ- साथ प्रायोगिक पक्ष को भी जान सके। इसी सन्दर्भ में यदि हम बात करें 'करके सीखना' (Learning by Doing) विधि की तो शिक्षा जगत् में प्राय: सभी विषयों के अध्यापन में इस विधि का प्रयोग उपयुक्त माना जाता है किन्तु क्या यह वास्तुशास्त्र जैसे शास्त्रीय विषय के अध्यापन में भी उपादेय है? साथ ही शिक्षक द्वारा इस विधि प्रयोग से पूर्व शिक्षक द्वारा किस प्रकार की तैयारी/तैयारियां अपेक्षित होती हैं? इस शोध आलेख में इन सभी प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया जायेगा।

मुख्यबिंदु- करके सीखना, प्रायोगिक विद्यालय, स्वानुभव.

किसी भी ज्ञान-विज्ञान परम्परा का जितना महत्व भूत और वर्तमान में होता है उससे भी ज्यादा महत्व भविष्य में उसके प्रयोग से होता है क्योंकि यह भविष्य की आवश्यकता ही उसके संरक्षण और संवर्धन में सहायक होती है इसीलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उस ज्ञान विशेष को भावी पीढ़ी में भी सहजता के साथ हस्तांतरित हो, जिससे उस ज्ञान विशेष का न केवल संरक्षण और संवर्धन भली प्रकार से हो, बल्कि उस ज्ञान का प्रवाह भी सरलता के साथ हो सके। इसलिए यह परमावश्यक है कि उस ज्ञान विशेष का हस्तांतरण प्रभावी रूप से हो। अन्यथा उस ज्ञान विशेष का भावी अध्येता उस विषय/ज्ञान/शास्त्र से विमुख हो जाता है जिसका सीधा प्रभाव उसके संरक्षण, संवर्धन और प्रवाह पर पड़ता है। ऐसा प्राय: देखने में आता है कि यदि अध्यापन में रोचकता और प्रभावपूर्णता न हो तो विद्यार्थी उस विषय का या तो चयन नही करता या उस चयन करने के पश्चात् भी उस विषय का अध्ययन करना छोड़ देता है जिससे धीरे-धीरे उस विषय विशेष में निहित ज्ञान लुप्त होने लगता है यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि केवल यह ही कारण नही है किसी विषय/ज्ञान विशेष की लुप्तता का। अत: या अत्यंत आवश्यक

है कि शिक्षक अपने अध्यापन में ज्ञान के हस्तांतरण में विद्यार्थी केन्द्रित शिक्षण विधियों का चयन करे जिससे विद्यार्थी न केवल ज्ञान को प्राप्त करें बल्कि ज्ञान का निर्माण भी करें इसका परिणाम यह होगा कि वह विद्यार्थी ज्ञान विशेष का संरक्षण के साथ-साथ उस ज्ञान का संवर्धन भी करता है। इस प्रकार के शिक्षण उपागम की आवश्यकता प्रत्येक ज्ञान शाखा को है विशेष रूप से पारम्परिक विषयों के अध्यापन में। इस पर बल देते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में संस्तुति दी है ''संस्कृत को केवल संस्कृत पाठशालाओं एवं विश्वविद्यालयों तक सीमित न रखते हुए मुख्य धारा में लाया जाएगा''।[1] इस संदर्भ में यदि चर्चा करें वास्तुशास्त्र जैसे महत्वपूर्ण शास्त्रीय विषय की तो पाएंगे कि अगर हम इस शास्त्र के शिक्षण में विद्यार्थी केन्द्रित विधियों का प्रयोग बहुतायत में करने लगे तो यह विषय और भी तीव्र गति से विद्यार्थियों में लोकप्रिय होगा जिससे इस शास्त्र का न केवल संरक्षण, बल्कि संवर्धन भी सरलता से किया जा सकेगा। 'विद्यार्थी केन्द्रित' विधियों से आशय शिक्षण के उन तरीकों से है जिसमें समस्त शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का निर्माण और क्रियान्वयन विद्यार्थी की रुचि, योग्यता और भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। इन विधियों में 'करके सीखना' विधि सबसे महत्वपूर्ण और उपयोगी विधि है। इस विधि के उपयोग को जानने से पूर्व इस विधि को जानना अति आवश्यक है।

जॉन डीवी जोकि एक अमेरिकन दार्शनिक थे इन्होने सन् 1896 में शिक्षा के सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक प्रयोगात्मक विद्यालय (Laboratory School) की स्थापना की। इस विद्यालय में 04-14 वर्ष के बच्चों को आठ से दश के छोटे-छोटे समूहों में विभाजित किया जाता था तत्पश्चात् इन विद्यार्थियों को नए-नए सिद्धांतों की खोज के लिए अभिप्रेरित किया जाता था साथ ही आलोचना करना, निर्णय लेना, पुरातन सिद्धांतों का नए परिप्रेक्ष्य में उपयोगिता का आकलन करना इत्यादि का शिक्षण दिया जाता था। जॉन डीवी का मानना था की सत्य भी परिवर्तनशील है। इनके अनुसार सत्य वही है जिसको परिवर्तनशील जगत् में कोई उपादेयता हो या उसको प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सके। इनका दृढ विश्वास था की शिक्षा वास्तव में तभी प्रभावी हो सकती है जब बच्चों के पास सीखने के अवसर हो, जो उन्हें पिछले अनुभवों और ज्ञान को वर्तमान ज्ञान से जोड़ने में सक्षम बनाते हों। इसीलिए इन्होने ने 'करके सीखना' विधि की शुरुआत की। जब शिक्षक करके सीखना विधि का उपयोग कर रहा होता है तो वह एक साथ पांच प्रकार की योग्यताओं (अवलोकन, क्रियाशीलता, स्वानुभव, तर्क एवं निर्णय निकालने की योग्यता और परीक्षण योग्यता) का विकास कर रहा होता है। सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इस विधि की यह है कि निर्माण और क्रियान्वयन में विद्यार्थी की रुचि और योग्यता का पूरा ध्यान रखा जाता है। विद्यार्थी की इन रूचियों को भी जॉन डीवी ने चार भागों में बांटा है- वार्तालाप की रुचि, अन्वेषण और परीक्षण की रुचि, रचना की रुचि

1 रा.शि.नीति 2020 पृष्ट सं 90.

एवं कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि। यदि शिक्षक अपनी कक्षा में 'करके सीखना' विधि का प्रयोग करना चाहता है तो सर्वप्रथम विद्यार्थी की इन रूचियों को अपने ध्यान में रखना चाहिए तब ही वह प्रभावी रूप से करके सीखना विधि का प्रयोग अपनी कक्षा में कर सकता है। जॉन डीवी ने अपने इस सिद्धांत के समर्थन में अनेक ग्रन्थ लिखे जिसमे माई पैडॉगोजीकल क्रीड (My Pedagogical Creed), द स्कूल एंड सोसाइटी (The School and society), द चाइल्ड एंड द करीक्यूलम (The Child and Curriculum) इत्यादि। करके सीखना विधि अधिगम के लिए विद्यार्थी की सामाजिक चेतना को भी काफी महत्वपूर्ण मानती है जो विद्यार्थी, सामाजिक रूप से जितना जागृत होगा वह ज्ञान को उतने प्रभावी तरीके से सीखेगा।

करके सीखना विधि क्यों?

किसी भी विषय या शास्त्र के शिक्षण में करके सीखना विधि की आवश्यकता ही क्यों है? विशेष रूप से वास्तुशास्त्र जैसे शास्त्रीय विषय के अध्यापन में। शिक्षण अधिगम प्रक्रिया के आयोजन करते समय प्रत्येक शिक्षक यह चाहता है कि उसका विद्यार्थी पढ़ाये जा रहे विषय न केवल समझे, बल्कि उस विषय के मर्म को आत्मसात् भी कर लें जिससे वह विद्यार्थी अधीत ज्ञान का प्रयोग अपने भावी जीवन में कर सके। उसके इस उद्देश्य की पूर्ति तब ही संभव है जब वह अध्यापन करते समय विद्यार्थियों की रुचि का ध्यान रखे जैसे विद्यार्थी उस विषय के अध्ययन में सक्रिय है कि नहीं? साथ ही जिन उदाहरणों से उसे पढ़ाया जा रहा है क्या वे उसके दैनिक जीवन से जुड़े हैं या नहीं? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर अध्यापक को स्वयं करने चाहिए ताकि वह अपने शिक्षण की योजना में अपेक्षित संशोधन कर सके। 'करके सीखना' विधि बाल मनोविज्ञान के एक आधारभूत सिद्धांत का अनुसरण करती है वह है क्रियाशीलता का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति, किसी ज्ञान को स्वयं करके सीखता है तो वह ज्ञान लम्बे समय तक उसके मस्तिष्क में रहता है क्योंकि इस प्रकार के सीखने में, उसकी ज्यादा से ज्यादा ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ संलग्न होती हैं। क्रिया के द्वारा सीखा गया ज्ञान ज्यादा चिरस्थायी होता है जैसे एक व्यक्ति गाड़ी को चलाना सीखना चाहता है। जब वह गाड़ी चलाना सीख रहा होता है तो इस दौरान उसके चक्षु, श्रवणेन्द्रिय, हस्त, पाद और मस्तिष्क ये सब इन्द्रियां एक साथ व्यक्ति के गाडी चलाना सीखने की प्रक्रिया में संलग्न होती हैं। इस प्रकार अनेक इन्द्रियों के द्वारा सीखने ज्ञान को व्यक्ति सरलता या शीघ्रता से नहीं भूलता है। शिक्षक 'करके सीखना' विधि का प्रयोग भी इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर करता है। इस विधि द्वारा अधीत ज्ञान बालक के मस्तिष्क में लम्बे समय तक स्थायी रहता है। इसके अतिरिक्त यह विधि प्रेरणा सिद्धान्त को भी आधार बनाकर प्रयोग में ली जाती है। यह विधि विद्यार्थी को स्वयं करके सीखने का अवसर देती है अतः प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि और योग्यता

से अधिगम प्राप्त करता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थी को अभिप्रेरित करती है। इस विधि में शिक्षक एक सहयोगी के रूप में, प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी क्षमता के अनुसार सीखने के लिए निर्देशित करता है इस प्रकार की विधि में शिक्षक का उद्देश्य विद्यार्थी को ज्ञान देने की अपेक्षा, निर्माण करने के लिए अभिप्रेरित करना होता है इस विधि में, विद्यार्थी ज्ञान का प्राप्तकर्ता नही, अपितु ज्ञान के निर्माता के रूप में होता है। प्रेरणा बालक को क्रियाशील बनाती है। बालक सदैव अपने अधिगम लक्ष्य को 'करके' पाना चाहता है जो कि उसे प्रेरणात्मक लगता है। इस प्रकार हम देखते है कि कार्य द्वारा लक्ष्य प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थी को अभिप्रेरित करती है। 'करके सीखना' विधि के प्रयोग में, शिक्षक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम विद्यार्थियों के लिए अधिगम लक्ष्य निर्धारित करे फिर उन लक्ष्यों की प्राप्ति स्वयं करने के लिए निर्देशित करे। यहाँ हम वास्तुशास्त्र के एक उदहारण द्वारा 'करके सीखना' विधि को समझने का प्रयास करते हैं जैसे अध्यापक को अपनी कक्षा में विद्यार्थियों को किसी भवन निर्माण का वास्तु समझाना है तो वह इस परिस्थिति में 'करके सीखना' विधि का प्रयोग करते समय, वह सर्वप्रथम विद्यार्थियों को किसी भवन के निर्माण के प्रयोजन को जानने का निर्देश देता है फिर उस भवन में रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता को जानने के लिए निर्देश देता है, तत्पश्चात् उस भवन के मुख्य द्वार की दिशा को जानने को कहता है, फिर पूरे भवन में मुख्य बैठक, शयन कक्ष, स्नानागार, पाकशाला, पूजा स्थल इत्यादि के संभावित स्थान को चिह्नित करने का निर्देश देता है। जब सभी विद्यार्थी संभावित भवन निर्माण का नक्शा बना लें तो फिर उन्हें उस भवन में विभिन्न कक्षों के निर्माण हेतु आदर्श स्थान को बताता है। जब शिक्षक किसी कक्ष के आदर्श स्थान को चिह्नित करके अपने विद्यार्थियों को बता रहा होता है उस दौरान, उसे उन कक्षों के निर्माण हेतु आदर्श स्थान (शिक्षक द्वारा नक्शे पर चिह्नित स्थान) का आधार क्या है? साथ ही यदि उन कक्षों का निर्माण आदर्श स्थान पर यदि नही किया जाता तो क्या-क्या हानियाँ हो सकती है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर अध्यापक द्वारा विद्यार्थियों को दिए जाने चाहिए। करके सीखना विधि के प्रयोग से पूर्व शिक्षक को अपनी पारंपरिक शिक्षण विधियों के दृष्टिकोण को छोड़ना परमावश्यक है। यदि शिक्षक यह नही करता तो वह करके सीखना विधि का प्रयोग भी पारंपरिक तरीके से ही करने लग जायेगा जिससे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में कोई सार्थक सुधार होने की संभावना कम ही होती है। अतः इस विधि के प्रयोग के लिए यह परमावश्यक है कि शिक्षक का दृष्टिकोण विद्यार्थी केन्द्रित होना चाहिए।

करके सीखना विधि के प्रयोग में अध्यापक की भूमिका-

एक रोचक और प्रभावी शिक्षण अधिगम प्रक्रिया के निर्माण में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षक की होती है क्योंकि शिक्षक ही व्यक्ति होता है जो वास्तविक धरातल पर

किसी विधि को प्रयोग में लाता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भी सभी प्रकार के मूलभूत ज्ञान का आधार अध्यापक को ही माना है ''शिक्षा व्यवस्था में किये जा रहे बुनियादी बदलावों के केन्द्र में अवश्य ही शिक्षक ही होना चाहिए''।[1] यह सिद्धान्त, करके सीखना विधि के प्रयोग में भी कार्य करता है। सर्वप्रथम इस विधि के प्रयोग से पूर्व, शिक्षक को अपने नजरिये में व्यापक बदलाव करने की आवश्यकता होती है। इसी विचार पर बल देते हुए 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या प्रारूप' (2005) का माना है कि ''परम्परागत रूप से प्रशिक्षित भाषा-शिक्षक बोलने के प्रशिक्षण को, भाषा के सहभागी और अभिव्यक्तिमूलक कौशल पर देने के बजाय, शुद्धता से जोड़ता है। इसीलिए कक्षा में बोलने को, हमारी व्यवस्था में नकारात्मक मूल्य समझा जाता है और शिक्षक की काफ़ी ऊर्जा बच्चों को शांत कराने या उनके उच्चारण को ठीक करने में चली है।''[2] करके सीखना विधि के प्रयोग में प्रारंभ में शुद्ध सीखने की अपेक्षा स्वयं सीखने पर बल देना चाहिए जब वह सीखने में अपनी रुचि और सक्रियता दिखाए तब शिक्षक धीरे-धीरे उसके सीखने में शुद्धता का समावेश करने का प्रयास करें। इस प्रकार के शिक्षण में शिक्षक की पारंपरिक भूमिका परिवर्तित होकर, मार्गदर्शक और सहयोगी की हो जाती है। जब शिक्षक, कक्षा में अध्यापन कर रहा होता है तो उसकी कक्षा में अलग-अलग योग्यता और रुचि वाले विद्यार्थी होते हैं जिसका ध्यान एक शिक्षक को सदैव रखना चाहिए। कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि, शारीरिक, मानसिक और सांवेगिक योग्यता भिन्न-भिन्न होती है जिसको ध्यान में रखकर ही शिक्षक को शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का नियोजन और क्रियान्वयन करना चाहिए। उदहारण स्वरूप एक अध्यापक की कक्षा में कुछ 'औसत बुद्धि' से कम बुद्धि वाले विद्यार्थी और कुछ विद्यार्थी प्रतिभाशाली होते हैं। इस परिस्थिति में अध्यापक को ऐसी शिक्षण विधि का चयन और क्रियान्वयन करना चाहिए जिसमे कक्षा के सभी विद्यार्थी अपनी सहभागिता प्रदर्शित करें। ऐसा न करने पर कुछ विद्यार्थी तो शिक्षण में सहभाग लेगें किन्तु अधिकतर विद्यार्थी अधिगम प्राप्ति में अपनी रुचि नहीं दिखायेंगे। 'करके सीखना' विद्यार्थी में रचनात्मक योग्यता के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है विशेष रूप से वास्तुशास्त्र जैसे प्रायोगिक विषय के शिक्षण में। एक सफल शिक्षण वही होता है जिसमे विद्यार्थी अपनी रचनाधर्मिता और सृजनशीलता का विकास करें। एक अध्यापक को चाहिए कि वह अपनी कक्षा में ऐसे वातावरण का निर्माण करे जो विद्यार्थी की अपनी रचनाशीलता को प्रदर्शित करने में सहायक हो। जैसे कक्षा में कोई काल्पनिक घटना का वर्णन करें, फिर उस परिस्थिति में विद्यार्थी किस प्रकार अनुक्रिया करेगा इस प्रकार के प्रश्न पूछे। इस दौरान शिक्षक देखेगा कि कक्षा का प्रत्येक विद्यार्थी उस परिस्थिति में अलग-अलग अनुक्रिया देगा, इस अनुक्रिया को देते समय वह अपनी वैयक्तिक रचनाशीलता को भी प्रदर्शित करेगा। किसी विषय

1. रा.शि.नीति 2020 पृष्ट सं.05.
2. राष्ट्रिय पाठ्यचर्या प्रारूप (2005) पृष्ट सं.46.

या ज्ञान का हस्तांतरण करते समय यदि उस नवीन ज्ञान के साथ पुरातन ज्ञान या अनुभव को जोड़ दिया जाये तो वह यह सहजता और सरलता से हस्तांरित हो जाता है। इसलिए शिक्षण के दौरान यह परमावश्यक है कि नवीन ज्ञान का शिक्षण पुराने ज्ञान और अनुभवों से जुड़ा हो जैसे विद्यार्थी को फसल के विषय में शिक्षण करना चाहता है तो वह अपने विद्यार्थियों को निर्देश देगा कि उसके घर या पड़ोस में जो भी फसल या पेड़-पौधे हो उसके विषय में या तो स्वयं जाने या तो अपने से बड़ों से उन पौधे या फसल के विषय में जानकारी प्राप्त करे फिर उस जानकारी को कक्षा में साझा करे। इस प्रकार की शिक्षण योजना में आप पाएंगे की विद्यार्थी शीघ्रता से तो सीखता ही है साथ विद्यार्थी शिक्षण में अपनी रुचि और सक्रियता भी प्रदर्शित करेगा। शिक्षण की प्रभावशीलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस शिक्षण में किस प्रकार की शिक्षण सामग्री और शिक्षण अधिगम संसाधनों का उपयोग किया है? एक अध्यापक शिक्षण अधिगम सामग्री का चयन और उपयोग अध्यापन योजना की प्रकृति और विद्यार्थियों की रुचि एवं योग्यता के आधार पर करता है। जैसे यदि शिक्षक वास्तुशास्त्र में, किसी भवन विशेष के वास्तु के विषय में बता रहा है तो उसके पास उचित ज्यामिति के उपकरण तथा भवन निर्माण का नक्शा होना आवश्यक है और यदि संभव हो तो किसी निर्मित भवन में विद्यार्थियों को ले जाकर ही, वास्तु का ज्ञान कराये ताकि विद्यार्थी उस विषय का ज्ञान वास्तविक वातावरण में सीखे। इसके अतिरिक्त अध्यापक को आवश्यकता अनुरूप दृश्य, श्रव्य और दृश्य-श्रव्य सामग्री की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि विषय का ज्ञान विद्यार्थी उचित प्रकार से कर सकें साथ ही इन शिक्षण अधिगम सामग्री के सञ्चालन में भी अध्यापक निपुण होना आवश्यक है। 'करके सीखना' विधि में शिक्षक का पर्यवेक्षण भी अत्यंत आवश्यक है। इस पर्यवेक्षण में अध्यापक देखता है कि विद्यार्थी क्या सीख रहा है? कैसे सीख रहा है? कितना सीख रहा है? साथ ही उसके अधिगम में क्या क्या बाधाएं है? जिनका निवारण करना आवश्यक है। 'करके सीखना' विधि लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुपालन की प्रबल समर्थक है। इसीलिए जॉन डीवी विद्यालय को समाज का लघु रूप स्वीकार करते हैं उनका मानना है कि विद्यालय ही वह स्थान है जहाँ विद्यार्थी में स्वतंत्रता, समानता और लोकतान्त्रिक मूल्यों का विकास किया जाता है। इसलिए अध्यापक को ऐसी शिक्षण युक्तियों का प्रयोग करना चाहिए, जो विद्यार्थी में लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास में सहायक हो।

निष्कर्ष -

वास्तुशास्त्र एक लोकोपयोगी विषय है क्योंकि इसमें भवन निर्माण में उन बातों का ध्यान रखने की शिक्षा दी जाती है जो मानव के स्वास्थ्य संरक्षण और संवर्धन के लिए परमावश्यक है जैसे पाकशाला का निर्माण किस स्थान पर करना चाहिए? इसकी दिशा क्या होगी? भोजन निर्माण करते समय उठने वाले धुंए का निष्कासन कैसे होगा? इत्यादि

प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया जायेगा अन्यथा की स्थिति में वह धुआं स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। इसलिए ऐसे महत्वपूर्ण विषय के शिक्षण में, विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। इस कार्य में 'करके सीखना' विधि एक सार्थक भूमिका का निर्वहन कर सकती है किन्तु इस विषय प्रयोग से पूर्व अध्यापक को अपने दृष्टिकोण में व्यापक रूप से परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी उसे शिक्षण करते समय, विद्यार्थी को ज्ञान के प्राप्तकर्ता की अपेक्षा, ज्ञान के सृजनकर्ता के रूप में स्वीकार करना होगा अन्यथा की स्थिति में विषय/ ज्ञान का अवबोध कराना अत्यंत कठिन होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. शास्त्री नेमीचन्द्र भारतीय ज्योतिष, 2015, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
2. एन. सी. एफ 2005 (हिंदी रूपांतरण)।
3. राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 (हिंदी रूपांतरण)।
4. सिन्हा जदुनाथ, भारतीय दर्शन संस्करण (2018), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट, दिल्ली।
5. सिंह कर्ण संस्कृत शिक्षण विधि, 2007, एच्.पी.भार्गव बुक हॉउस, आगरा।
6. कुमार ज्ञानेंद्र, हिंदी भाषा शिक्षण, 2018, प्रगतिशील प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. डॉ शुक्ला लक्ष्मी, भारतीय मनोविज्ञान संस्करण, 2009, इस्टर्न बुक डिपो, दिल्ली
8. शर्मा भूषण, शिक्षा समाज और राजनीति, 2017, कौटिल्य प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. **Mangal.S.K. (2018),** Advanced Educational Psychology, PHI Learning Private limited, Delhi.
10. **Baran and Mishra (2016),** Psychology, Pearson Publication, Tamil Nadu, India.

दुर्ग-वास्तु निरूपण

डॉ. राजीव कुमार मिश्र

दुर्गं तु प्रोक्तं राज्ञां विजिगीषताम् – समराङ्गणसूत्रधार(45/38) में भोज ने सदैव विजय की इच्छा रखने वाले राजाओं के लिए दुर्गों के निर्माण का निर्देश किया है। इसी मतानुसार प्राचीन भारतीय नगरों की यह विशेषता रही है कि उनके चारों ओर परिखा, प्राकार आदि की निवेश पद्धति सर्वसाधारण रूप से आवश्यक रही है। न केवल प्राचीन भारत में अपितु पाश्चात्य देशों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी, अतएव यह स्पष्ट है कि पूर्वी तथा पाश्चात्य दोनों ही देशों में आर्य जीवन से सम्बंधित इस प्रकार की दुर्ग-निवेश पद्धति की एक सामान्य पुरातन व्यवस्था थी। प्राचीन साहित्य में प्रायः सर्वत्र प्राप्त नगर वर्णनों में इस उपर्युक्त तथ्य के द्योतक-दुर्ग निवेश के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पुर, नगरदुर्ग और दुर्ग नगर के रूप में सामान्य रूप में प्रचलित एवं सन्निविष्ट होते थे। शब्दकल्पद्रुम में भी इसी तथ्य को निरुपित किया गया है-**पुरं दुर्गमाधिष्ठानं कोट्टोऽस्त्री राजधान्यपि इति**। अर्थात् पुर का अर्थ दुर्ग, अधिष्ठान, कोट्ट तथा राजधानी है।

वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में दुर्ग के निर्माण का बहुत ही पुण्यदायक फल बताया गया है। ऐसा दुर्ग, जो सभी को सुख देने के साथ-साथ शत्रु के भय का नाशक हो, का निर्माण करने से राजा को कुआं, तालाब, मंदिर, बाग आदि के पुण्यों का फल मिलता है, इससे बढकर भी राजा को ऐसे दुर्ग के निर्माण से तीर्थों में स्नान और कन्यादान का पुण्य भी मिलता है। तथा जिस प्रकार पर्वत की गुफा में सिंह किसी शत्रु का नाश करता है, उसी प्रकार सैन्य बलयुक्त शत्रु का दुर्गाधिपति राजा युद्ध में विनाश कर सकता है-

वापीकूपतडागदेवभवनान्यारामयागादिकं तीर्थानामवगाहनं च विधिवत्कन्याप्रदानादिकम्।
सर्वं पुण्यमिदं नृपः स लभते यः कारयेत् पर्वते दुर्गं सर्वजनाय शर्मजननं विश्राममेकं परम्॥
सिंहो वैरी पराभवं प्रकुरुते तिष्ठन् गिरेरगह्वरे दुर्गस्थो नृपतिः प्रभूतकटकं शत्रु जयेत्सङ्गरे।

(वास्तुरत्नावली 4/1-2)

मनुस्मृति में मनु महाराज ने तो कहा कि- जिस प्रकार अपने-अपने दुर्ग में आश्रित मृग, सर्प इत्यादि को इनके शत्रु नहीं मार सकते उसी प्रकार दुर्ग में आश्रित राजा को भी शत्रु नहीं मार सकते। दुर्ग में रहता हुआ एक धनुर्धारी योद्धा बाहर से आने वाले सौ योद्धाओं को युद्ध में व्यस्त कर सकता है और दुर्गों में रहते हुए सौ धनुर्धारी बाहर से

आने वाले दश हजार योद्धाओं को युद्ध में व्यस्त कर सकते हैं, उस कारण से शास्त्र में दुर्गविधान का उपदेश किया जाता है अर्थात् विजयाभिलाषी राजा को शास्त्रोचित दुर्ग निर्माण अवश्य करना चाहिए।

यथा दुर्गाऽश्रितानेतान् नोपहिंसन्ति शत्रवः। तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः। शतं दशसहस्राणि तस्मात् दुर्गं विधीयते॥
(मनुस्मृति 7/73.74)

विष्णुधर्मोत्तर एवं मत्स्यपुराण प्रभृति ग्रंथों में दुर्ग निर्माण और वहाँ संग्रह करने योग्य वस्तुओं का बहुत ही विस्तार पूर्वक वर्णन आया है- सभी बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण रहने पर पुर व नगर एवं वहां के नगरवासी सुरक्षित रहते हैं। राजा को अपने प्रमुख अधिकारियों के साथ दुर्ग-नगर में अति निर्मल, शुभ गुण एवं लक्षणों से युक्त निर्मित किये गए भवन में निवास करना चाहिए। यथा मत्स्यपुराण में वर्णित है-

इत्येवमेतैः सकलैरुपेतैर्द्रवैः पराघ्यैः परिरक्षितः स्यात्। राजा वसेत् तत्र गृहं सुशुभ्रं गुणान्वितं लक्षणसंप्रयुक्तम्॥ (म.पु. 217/80)

मयमतम् में भी इस सन्दर्भ में बहुत ही सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है कि ख्र सब प्रकार से दुर्ग सभी लक्षणों से परिपूर्ण हो, दुर्ग में अक्षय जल का अन्न का तथा शस्त्र-अस्त्र का भण्डार हो। वह दुर्ग चारों ओर से अत्यंत विस्तृत, समुन्नत, सुदृढ़ एवं वहां ठोस परकोटा निर्मित हो। वे सभी दुर्ग प्राकार व मंडलों से युक्त हों और अनेक स्थलों पर रक्षकों द्वारा रक्षित हों - **अक्षयजलान्नशस्त्रं ह्यतिविपुलोत्तुङ्गघनसालम्। सर्वं हि दुर्गजातं सप्राकारं त्वनेकमुखरक्षम्॥** (म.म.10/39)

दुर्ग के प्रकार -

वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में दुर्ग के विभिन्न प्रकारों का वर्णन मिलता है- जैसे मत्स्यपुराण में 6 प्रकार के दुर्गों- धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, नृदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग और पर्वतदुर्ग का वर्णन है, यथा-

धन्वदुर्गं महीदुर्गं नृर्दुर्गं तथैव च॥ वृक्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च पार्थिव। (म.पु. 216/6.7)

अग्निपुराण में उपर्युक्त 6 प्रकार के दुर्गों की चर्चा है-

धनुर्दुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च॥ वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव। (अ.पु. 22/4.5)

समराङ्गणसूत्रधार में भी 6 प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया गया है.

अब्ददुर्गं पङ्कदुर्गं वा वन्दुर्गैरिणे तथा। पार्वतीयं महीदुर्गमिति कल्प्यानि पार्थिवैः॥ (स.सू. 45/39.40)

शिल्परत्न में सात प्रकार के दुर्ग- पर्वत, वन, जल, एरण, दैवक, धावन तथा कृतक बताये गये हैं - **दुर्गं तु पार्वतं वन्यमौदकं चैरणं तथा। दैवकं धावनं चैव कृतकं चेति सप्तधा** - (शिल्परत्न 5/8.9)

मानसार में भी 7 प्रकार के दुर्ग वर्णित हैं-

गिरिदुर्गं वनदुर्गं सलिलं पङ्कदुर्गकम्। रथदुर्गं देवदुर्गं मिश्रदुर्गं तथैव च॥ (मा.सा. 10/45.46)

मयमतम् में - **गिरिवनजलपङ्केरिणदैवतमिश्राणि सप्त दुर्गाणि।** (म.म.10/36)

गिरि, वन, जल, पङ्क, इरिण, दैवत एवं मिश्रदुर्ग संज्ञक 7 दुर्गों का वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार विश्वकर्मावास्तु (10/1.46) में बारह प्रकार के दुर्गों की रचना बतायी गयी है, यथा- गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, इरिणदुर्ग, दैवतदुर्ग, एकमुख-द्विमुख-चतुर्मुखदुर्ग, कूर्मदुर्ग, पारावतदुर्ग, प्रभुदुर्ग तथा युद्धदुर्ग। राजवल्लभमंडन में चार दुर्गों- भूदुर्ग, जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग तथा गुहादुर्ग का उल्लेख है- **भूदुर्गं जलदुर्गमद्रिविषये दुर्गं भवेद् गह्वरे**(रा.म.4/3)। मनुस्मृति में मनु ने राजा को मरुभूमिरूप दुर्ग का या पृथिवीदुर्ग या जलदुर्ग या वृक्षदुर्ग या नृदुर्ग अथवा पर्वतदुर्ग का आश्रय ले कर पुर में निवास करने का निर्देश किया है। यथा-**धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्॥**(मनु. 7/70)

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र(2/21/1-4) में सप्तांग वर्णन करते समय शत्रु के आक्रमण से बचने के लिये दैव, औदक, पार्वत तथा धान्वन चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है। इस प्रकार मत्स्य, अग्नि प्रभृत् पुराणों, मयमतम्, मानसार, समराङ्गणसूत्रधार इत्यादि प्रमुख वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में 4 से लेकर 12 तक विभिन्न संज्ञक दुर्गों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसके आधार पर मुख्य दुर्गों का विवेचन निम्नवत प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. पर्वतदुर्ग- जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है कि यह दुर्ग पर्वत के मध्य उपत्यका भूमि पर अथवा समीपस्थ ढालू भूमि पर या ऊपर-शिखरभाग पर स्थित होता है, यथा- **गिरिमध्यं गिरिपार्श्वं गिरिशिखरं पार्वतं दुर्गम्** (मयमतम्10/37)। इसके तीन भेदों का वर्णन मानसार में उद्धृत किया गया है- **पर्वतावृतन्मध्ये च पर्वतस्य समीपके। पर्वताग्रप्रदेशे तु गिरिदुर्गमिति त्रिधा ॥**(मान.10/46.47)

गुहा- गुहा नामक वह पर्वत दुर्ग है जो पर्वत के मध्य भूमि पर स्थित होता है तथा जिसके चारों ओर पर्वत श्रेणियां होती हैं। जयपुर तथा उदयपुर के दुर्ग इसके निदर्शन हैं।

गिरिपार्श्वक- यह वह पार्वतदुर्ग है, जो पर्वत के समीपस्थ ढालू भूमि पर स्थित होता है। बूंदी का किला इसका उदाहरण है।

प्रांतर- यह दुर्ग पर्वत के शिखर पर स्थित होता है, जो वहां कि भूमि को बराबर करके प्रवेश मार्गों कि रचना गुप्त मार्गों से जो कि अंतर्मार्गाकार होते हैं, बनाई जाती है।

वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों के अनुसार यह दुर्ग बहुत ही मांगलिक और प्रशस्त बताया गया है- **सर्वेषामेव दुर्गाणां पार्वतीयं प्रशस्यते** (समराङ्गणसूत्रधार 45/40) तथा, **सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते** (मत्स्यपुराण 216/6.7)। उदाहरण के लिए चित्तौडगढ़, रोहिताश्वदुर्ग, कलिञ्जर तथा लंका का दुर्ग लिया जा सकता है।

2. जलदुर्ग- मानसार में उल्लेख है कि- **समुद्रैश्च नदीभिश्च संवृतं जलदुर्गकम् ।** (मान.10/48) अर्थात् जो स्थान चारों ओर से नदी या समुद्र के जल से सुरक्षित हो वह स्थान विशेष जलदुर्ग कहलाता है - **नद्यब्धिपरिवृतं यज्जलदुर्गम्** (मयमतम्10/38)। इनके भी दो भेद हैं-

अंतर्द्वीप- जिसके दोनों ओर नदी बहती हो अथवा वह सागर के मध्य में हो, यह एक प्रकार का आन्तर्द्वीपीय नगर भी कहलाता है, जिसके उदाहरण मुंबई, श्रीलंका, श्रीरंगम् तथा काबेरिपत्तनम् हैं।

स्थलदुर्ग- इस दुर्ग की स्थिति उस प्रदेश पर होती है जो उच्च स्थल हो तथा जिसके चारों ओर गंभीर जल राशि हो। वही जलराशि वहां उस दुर्ग की रक्षा की प्राकृतिक साधन हो।

3. मरुदुर्ग- यह दुर्ग रेगिस्तान या ऊषर भूमि के मध्य में होता है और इसके चारों ओर पांच योजन तक वन व जलाभाव रहता है- **निर्वनोदकमिरिणं स्यात्** (मयमतम्10/38)। इस दुर्ग के भी दो भेद होते हैं.

निरुदक- निरुदक मरुदुर्ग उस दुर्ग को कहते हैं जो मरुभूमि से अच्छादित हो और जहाँ पर जल, वृक्ष तथा सस्य का पूर्ण अभाव हो-**वनाभावे जलाभावे सर्वशून्यादिदूषकम्** (मानसार10/50)।

इरिण - यह मरुदुर्ग उस भूमि विशेष के मध्य में स्थित होता है जो चारों ओर से छारीय जल से ऊषर हो गयी हो- **निर्वनोदकमिरिणं स्यात्** (मयमतम्10/38)। इन दोनों में अन्तर यह है कि निरुदक मरुदुर्ग की भूमि बालुका अथवा कंकड़ इत्यादि के कारण ऊषर हो गयी होती है तथा इरिण-मरुदुर्ग छारीय जल के कारण ऊषर हो गयी होती है। जहाँ पहले में किसी भी प्रकार के पेड़-पौधों की स्थिति अनुमेय नहीं होती, वहीं दूसरे में ऐसी भूमि में अनुकूल पौधों, झाड़ियों तथा शिलाओं कि स्थिति आवश्यक होती है। राजस्थान के बहुत से नगरों का दुर्ग इन्हीं दोनों-निरुदक और इरिण कोटियों में परिगणित होते हैं।

4. महीदुर्ग- इस दुर्ग की तीन कोटियाँ हैं-

पारिध- पारिधदुर्ग की प्राकारों, वप्रों तथा रक्षात्मक ऊँची दीवारों की रचना मृत्तिका, शिलाओं अथवा इष्टिकाओं से की जाती है। इसकी भित्तियों कि उंचाई उनकी चौड़ाई से दोगुनी होती है तथा भित्तियां स्वभावतः बहुत चौड़ी होती है जिससे आरक्षी या प्रहरी लोग निगरानी के लिए आसानी से टहल सकें।

पंकदुर्ग– यथानाम यह दुर्ग ऐसे भूमि से सुरक्षित होता है जो पंकयुक्त, क्षारीय अथवा सैकत मृत्तिका से भरा हो– **पंकयुक्तं पंकदुर्गम्** (मयमतम्10/38)।

म्रिद्दुर्ग–इस दुर्ग का विन्यास सामान्य रूप से किया जाता है। इसकी विशेषता, जैसा कि इसके नाम से ही संकेत मिलता है, यह है कि इसकी दीवारें मिट्टी से निर्मित होती हैं।

5. वनदुर्ग- वह दुर्ग जिसके चारों ओर लगभग एक योजन तक वन या जंगल हों– **अजलं तरुवनगहनं वनदुर्गम्**(मयमतम् 10/37)। इस दुर्ग के दो भेद हैं– खंजन और स्तम्बगहन।

खंजन– इस दुर्ग के चारों ओर उन वृक्षों के जंगल होते हैं जो लघु तथा कटीले हों। वहां पर झाड़ियाँ हों, गुल्म हों तथा जलाभाव न हो। भूमि दलदली हो।

स्तम्बगहन– इस दुर्ग के चारों ओर उत्तुंग शाल के समान ऊँचे–ऊँचे वृक्षों की गहनता तथा वहां पर जलाभाव भी होता है। मत्स्यपुराण व मनु के अनुसार इसको वार्क्ष कहते हैं।

6. नृदुर्ग – इस दुर्ग के दो भेद हैं– सैन्यदुर्ग और सहायदुर्ग।

सैन्यदुर्ग– इसमें बहुमुखी सेना के द्वारा, दुर्गाभ्यन्तर तथा उसके बाह्य प्रदेशों, दोनों स्थलों पर सदैव पंक्तिबद्ध होकर, रक्षाविधान करने का आदेश होता है।

सहायदुर्ग– इस दुर्ग का अपर नाम मित्रदुर्ग भी है। इससे अभिप्राय यह है कि मित्र राजाओं से जो संक्रांति काल में सहायता देकर रक्षा का कार्य करते हैं वह सहाय दुर्ग कहलाता है।

7. मिश्रदुर्ग- यह दुर्ग पर्वत एवं वनदुर्ग दोनों का मिला–जुला रूप होता है– **तदुभयन्तु(गिरिवनदुर्गं) मिश्रं स्यात्** (मयमतम् 10/37)। अर्थात् यह दुर्ग पर्वतश्रेणियों के मध्य, बगल में या पर्वत–शिखर और जलविहीन स्थान पर वृक्षों से आच्छादित सघन वन में स्थित होता है – **अनेकपर्वतोपेतं नानावनसमिश्रकं। तत्र स्थितं तु तद्दुर्गं मिश्रदुर्गमिति स्मृतम्** (मानसार 10/52.53)।

8. **दैवदुर्ग**– इस दिव्य और अलौकिक दुर्ग की सुरक्षा व्यवस्था प्राकृतिक होती है– **दैवं तु सहजदुर्गम्** (मयमतम् 10/37)। अर्थात् जिसके प्रवेश द्वारों की रक्षा देवों, दानवों, बेतालों, भूतप्रेतों के द्वारा तो सदैव होती ही है, साथ ही साथ इनके द्वारा अवसर आने पर शिलासंघात, घनघोर वृष्टि तथा महां आंधी–तूफान आदि की अवतारणा से भी यह यह दुर्ग शत्रुओं के लिए दुर्गम हो जाता है– **ब्रह्मराक्षसवेतालं भूतप्रेतादिभैरवाः। शिलावर्षप्रवर्षन्त्यालोक्य वेशनिर्गमे ॥ मन्त्रातन्त्रादिसामर्थैः कृतान्तं देवदुर्गकम्।** (मानसार 10/51.52)। इसके अतिरिक्त इस दुर्ग की भित्तियों पर इंद्र, वासुदेव, गृह, जयंत, वैश्रवण, अश्विनी, श्रीमंदिर, शिव, दुर्गा, सरस्वती इत्यादि देवी–देवताओं की स्थापना हो। मनुस्मृति(7/71) में मनु ने इसको एक प्रकार का पर्वत दुर्ग कहा है, जिसकी रक्षा देवगण

करते हैं। कैलाश पर्वत इसका निदर्शन हो सकता है।

दुर्गों का निवेश-

उपर्युक्त दुर्गों के निवेश की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए समराङ्गणसूत्रधार (45/41-44) में निर्देश है कि वह स्थान विभाग सोलह पद-वास्तु से निर्मित होना चाहिए। इनके मध्य में ब्रह्मा के स्थान का विन्यास करना चाहिये जो खुला हुआ हो, पुनः ब्रह्म-स्थान से आरम्भकर पांच हस्त प्रमाण से हर्म्य का निर्माण होना चाहिए। इसके साथ ही वहां उपमार्गों जो कि तीन हस्त प्रमाण चौड़े व अन्य मार्ग दो-दो हाथ चौड़े होने चाहिए। इसके समीप ही चारों ओर आवश्यकता के अनुसार दुर्ग मार्गों का नियोजन किया जाना चाहिए। साथ ही दुर्ग के द्वार का निर्माण रथ्या के प्रमाण से हो, वह अधिक ऊंचा न हो तथा शत्रु सेना के लिए बाधक भी हो तथा अपने लिए सदैव सुरक्षित हो। इन दुर्गों में ब्रह्मस्थान के निकट ही राजा के लिए स्थान निर्मित किये जायें। वह स्थान वास्तु-पद सम्मत वैवस्वत, अर्यमा, मित्र या पृथ्वीधर के पदों में से किसी एक पद पर निर्मित हो सकता है -

दुर्गस्थानविभागोत्र षोडशाख्येन कीर्तितः ।
मध्ये तु ब्रह्मणः स्थानमसंबाधं विधीयते ॥ (स.सू. 41)
ब्रह्मस्थानं समारभ्य हर्म्यं पञ्चशयाः स्मृताः।
उपरथ्या त्रिहस्ता तु शेषास्तु द्विशयाः स्मृताः ॥ (ससू. 42)
संनिकृष्टा विधातव्या दुर्गरथ्या समन्ततः ।
द्वार रथ्याप्रमाणेन कार्यं नात्यन्तमुच्छ्रितम् ॥ (स.सू. 43)
परचक्रसमं बाधं सुरक्षं तत् सदा भवेत् ।
दुर्गेश्वरग्रिहस्थानं ब्रह्मणः परितो भवेत् ॥ (स.सू. 44)
वैवस्वतेऽथवार्यम्णे मैत्रे पृथ्वीधरेऽपि वा ।
यथा पुरे पुरा प्रोक्तं स्थानं दुर्गेऽपि तत् तथा ॥ (स.सू. 45)

इसके अतिरिक्त दुर्ग की रक्षा हेतु ऐसे वीरों कि नियुक्ति होनी चाहिए जो कुशल योद्धा, दोषरहित, राजा के प्रिय व निर्देशानुसार कार्य में संलग्न हों साथ ही वे धनुर्वेद की विधियों से सुपरिचित हों आयुध संचालन में दक्ष तदर्थ नाना शास्त्रों के ज्ञाता हों। यथा महाभारत सभापर्व में उल्लेख है कि-

कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
मन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः॥ (म.भा. 5/25)

इस प्रकार दुर्ग को खाई, चारों ओर से दीवारों तथा ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं से युक्त एवं तोपादी सहस्त्रों प्रधान यंत्रों से आच्छादित होना चाहिए। उसमें किवाड़ सहित अतिसुन्दर इतना ऊंचा गोपुर लगा हो कि राजा गज पर आरूढ़ होकर पताका सहित उसमें

प्रवेश कर सके। यथा मत्स्यपुराण में वर्णित है–

दुर्गं च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतं ।
शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतशतश्च समावृतम् ॥
गोपुरं सकपाटं च तत्र स्यात् सुमनोहरं ।
सपताकं गजारूढो येन राजा विशेत् पुरम् ॥ (म.पु. 127/8–9)

उपर्युक्त दुर्गाकृति नगरों के नियोजन अथवा नगराकार दुर्गों के विन्यास की परम्परा के अतिरिक्त कालान्तर में एक और पद्धति का विकास हुआ। नगर के अंतर्गत प्रदेश में अथवा किसी कोण विशेष पर या नगर से कुछ दूरी पर दुर्गों का निर्माण होने लगा। मध्यकालीन राजधानियों के दुर्गों में इसके पूर्ण स्वरुप प्राप्त होते हैं। कालान्तर में दुर्गाकार नगरों की प्रथम विन्यास योजना बाद में बढती हुई आबादी तथा विविध आवासीय आवश्यकताओं के कारण दुर्ग अन्दर रह गए और वासतियाँ चारों ओर निर्मित होने लगीं। यद्यपि प्राचीन भारत में प्रत्येक नगर सुरक्षित अर्थात् दुर्गाकृति नगर था परन्तु कालान्तर में दुर्ग, नगर के अन्दर या किसी कोण विशेष पर निर्मित होने लगा।

श्री जगन्नाथ मन्दिर का वास्तुशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. नीलमाधवदाश

श्री जगन्नाथ चेतना को चिन्तन करने से आध्यात्म सुख प्राप्त होता है। अतः इस लेख में श्री जगन्नाथ मन्दिर की चेतना जन्य वास्तु कला का अध्ययन करने का प्रयास मात्र किया गया है। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर श्रीक्षेत्र व शंखक्षेत्र के रूप में विश्वभर में प्रसिद्ध है। मन्दिर की वास्तुकला इतना भव्य है कि दूर-दूर के वास्तु विशेषज्ञ इस पर रिसर्च करने आते हैं।

श्रीजगन्नाथ मन्दिर अवस्थान -

ओडिशा प्रदेश के पुरी जिल्ला में वङ्गोपसागर निकट अनेक बृहत् जलाशयों से आवृत फलों तथा पुष्पों के उद्यान से युक्त श्रीजगन्नाथ मन्दिर अवस्थित है। जैसे कि वास्तुशास्त्र में देवतानुराग स्थान कहा जाता है -

सलिलोद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृतकेषु च।
स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवताः॥[1]

अर्थात् जहाँ पर पहले से जलाशय तथा फल, पुष्प के उद्यान हों अथवा किसी भक्त के द्वारा बनवाये गये हों, ऐसे स्थानों पर देवता निवास करते हैं। पुनः कहा गया है -

सरःसु नलिनीछत्ररनिरस्तरविरश्मिषु।
हंसांसाक्षिप्तकह्लारवीथीविमलवारिषु॥
हंसकारण्डवक्रौञ्चचक्रवाकविराविषु।
पर्यन्तनिचुलच्छायाविश्रान्तजलचारिषु॥
क्रौञ्चकाञ्चीकलापाश्च कलहंसकलस्वराः।
नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः सङ्गमश्रोणिमण्डलाः।
पुलिनाभ्युन्नतोरस्या हंसवासाश्च निम्नगाः॥[2]

---

1. बृह.वास्तु.प्रा.ल.श्लो. 3
2. बृह.वास्तु.प्रा.ल.श्लो.4-7

जिन सरोवरों में विकसित कमल पुष्प सूर्य के सन्ताप निवारण के लिये छत्र का कार्य कर रहे हो और हंसों के कंधों से फेंके हुए कल्हार पुष्पों से जिस जल में मार्ग जैसा बन गया हो, वहां देवता निवास करते हैं। जिन तालाबों में हंस, कारण्डव, क्रौंच, चकवा-चकवी पक्षियों के कलरव हो तथा जिसमें जलवेतस की छाया में जलचर विश्राम करते हो, वहां प्रतिदिन देवता निवास करते हैं।

करघनी के शब्द के समान सुमधुर क्रौञ्च पक्षी का कलरव तथा राजहंस का मधुर रव जिन जलाशयों में हो और मछलियों को जिन्होंने किनारा एवं जल को जिन्होंने अपना परिघान बना रखा है, ऐसी नदियों में देवता विहार करते हैं।

जिन नदियों के तट पर विकसित वृक्ष हो, नदियों का संगम जिनका श्रोणि फलक हो, उन्नत प्रदेश जिनके स्तन हों, हंस जिनके उज्ज्वल वस्त्र हों ऐसी नदियों में देवता निवास करते हैं।

पुनः वास्तुशास्त्र में प्रतिपादित है -

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च॥[1]

अर्थात् वन के किनारों में, नदियों में, पर्वतों में, झरनों के समीप में तथा बगीचों से युक्त नगरों के समीप भी देवता रमण करते हैं। देव मन्दिर के लिये ब्राह्मण भूमि शुभ होती है। ब्राह्मण भूमि के लक्षण यथा - ब्राह्मण वर्ण के लिए मधुर रस की मिट्टी से युत, घृत गन्ध,श्वेत वर्ण, उत्तर तरफ ढालूवाली भूमि अच्छी है।

श्रीजगन्नाथ मन्दिर निर्माण शैली -

नागर शैली से निर्मित है श्रीजगन्नाथ मन्दिर। भारतीय स्थापत्य कला व शिल्पशास्त्रों के अनुसार मंदिरों विशेषतः हिंदू मंदिरों की तीन मुख्य शैलियाँ हैं -

नागर शैली : मुख्यतः उत्तर भारतीय शैली

द्रविड़ शैली : मुख्यतः दक्षिण भारतीय शैली

वेसर शैली : नागर-द्रविड़ मिश्रित मुख्यतः दक्षिण-पश्चिमी भारतीय शैली

पर यह वर्गीकरण भी बहुत स्थूल है। समय व संस्कृति भेद के साथ इनमें भी अनेक भेद व मिश्रण हैं। इनके अतिरिक्त हिमालय में हिमाचल, उत्तराखंड की अपनी पहाड़ी शैली प्रमुख है, तो पूर्वोत्तर में बहुत अलग पूर्वोत्तरीय शैली, इसी प्रकार राजस्थान में अनेक मध्यकालीन मंदिरों में राजपूताना शैली का प्राचुर्य या मिश्रण है, तो आधुनिक काल में ग्रीक-रोमन या यूरोपीय शैली का भी मिश्रण मिल जाता है।

---

1. (बृह.वास्तु.प्रा.ल.श्लो.8)

नागरशैली –

'नागर' शब्द नगर से बना है। सर्वप्रथम नगर में निर्माण होने के कारण इन्हे नागर की संज्ञा प्रदान की गई। नागर शैली की बहुलता मुख्यतः उत्तर व मध्य भारतीय परिक्षेत्र में है। नागर शैली का प्रसार हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत माला तक विशेषतः नर्मदा नदी के उत्तरी क्षेत्र तक देखा जा सकता है। यह कहीं-कहीं अपनी सीमाओं से आगे भी विस्तारित हो गयी है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार नागर शैली के मंदिरों की पहचान आधार से लेकर सर्वोच्च अंश तक इसका चतुष्कोण होना है। विकसित नागर मंदिरों में गर्भगृह, उसके समक्ष क्रमशः अन्तराल, मण्डप तथा अर्द्धमण्डप प्राप्त होते हैं। एक ही अक्ष पर एक दूसरे से संलग्न इन भागों का निर्माण किया जाता है। नागर वास्तुकला में वर्गाकार योजना के आरंभ होते ही दोनों कोनों पर कुछ उभरा हुआ भाग प्रकट हो जाता है जिसे 'अस्त' कहते हैं। इसमें मूर्ति के गर्भगृह के ऊपर पर्वत-शृंग जैसे शिखर की प्रधानता पाई जाती है। कहीं चौड़ी समतल छत के ऊपर उठती हुई शिखा सी भी दिख सकती है। माना जाता है कि यह शिखर कला उत्तर भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चात् अधिक विकसित हुई। कई मंदिरों में शिखर के स्वरूप में ही गर्भगृह तक को समाहित कर लिया गया है। श्रीजगन्नाथ मन्दिर का नागर वास्तुकला में निर्माण हुआ है।

कलिंग शैली के मंदिर स्थापत्यकला और शिल्प के आश्चर्यजनक प्रयोग से परिपूर्ण है। यह मंदिर, भारत के भव्यतम स्मारक स्थलों में से एक है। वास्तुशास्त्र के अनुसार मन्दिर निर्माण विधान यथा –

यो विस्तारो भवेद्यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छ्रायाद्यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता॥
विस्तारार्धं भवेद्गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः।
गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम्॥
उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्वदुम्बरः।
विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्॥
त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत् प्रशस्यते।
अधःशाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत्॥
शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्॥
द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांशश्च पिण्डिका॥[1]

1. (बृह.वास्तु.प्रा.ल.श्लो.11-16)

देवालय का जो विस्तार है, उससे दुगुनी उसकी ऊँचाई होती है। जैसे देवालय के मध्य का विस्तार 62 हाथ है तो उसकी ऊँचाई 124 हाथ होगी। ऊँचाई का तीसरा भाग (41 हाथ 8 अंगुल) उसका कटिप्रदेश होता है। देवालय के विस्तार का आधा (31 हाथ) गर्भ होता है। गर्भ के चारों और दीवार होती है। इसमें एक भाग भूमि परिक्रमा के लिये रखकर शेष तीन भाग में दीवार बनायें। गर्भ के विस्तार (31 हाथ) मान का चतुर्थांश (7 हाथ 18 अंगुल) द्वार बनाना चाहिये। द्वार की ऊँचाई उसकी द्विगुणित (15 हाथ 12 अंगुल) रखें। द्वार की ऊँचाई का चतुर्थांश (3 हाथ 20 अंगुल) शाखा विस्तार होगा। उसी तरह उदुम्बर (शाखा के ऊपर नीचें रखने वाला काष्ठ) भी रखना। शाखा का जो विस्तार है, उसका चतुर्थांश शाखाओं की मोटाई होनी चाहिये। वह द्वार 3, 5, 7, 9 शाखाओं से युक्त हो तो उत्तम माना जाता है, शाखा विस्तार यदि 3 से पूरा न हो तो 5 से पूरा करें यदि 5 से भी न हो तो 7 अथवा 9 से पूरा करें। शाखा के नीचे का जो भाग है उसके चतुर्थांश से प्रतीहारों (नन्दी, दण्ड आदि) को रखें। शेष तीन भागों में हंस आदि मांगलिक पक्षी, श्रीवृक्ष, वास्तुपुरुष तथा दो स्वास्तिक घट रखें। लता पत्र आदि से द्वार की शोभा करें। द्वार की ऊँचाई का जो अष्टमांश, उसको द्वार की ऊँचाई में घटाकर सपिण्डि का प्रतिमा बनायें, उसमें भी दो भाग प्रतिमा ओर एक भाग पिण्डिका होती है।

यथा – द्वार की ऊँचाई 15 हाथ 12 अंगुल है, उसका अष्टमांश 1 हाथ 22 अंगुल हुआ। इसको ऊँचाई से 15 हाथ 12 अंगुल से घटाने से 13 हाथ 14 अंगुल हुआ, इसमें दो भाग देकर सपिण्ड करने से 8 हाथ 17 अंगुल प्रतिमा का प्रमाण और उसी का तीसरा भाग पिण्डिका का प्रमाण करें। इन वास्तुशास्त्र नियमों के आधार पर प्रायः श्रीजगन्नाथ मन्दिर का निर्माण किया गया है।

श्रीजगन्नाथ मंदिर का वृहत क्षेत्र 400,000 वर्ग फुट (37,000मी.) में फैला है, और चतुर्पार्श्व चहार दीवारी से घिरा है। मुख्य मंदिर वक्ररेखीय आकार का है, जिसके शिखर पर विष्णु का श्री सुदर्शन चक्र (आठ आरों का चक्र) मंडित है। इसे नीलचक्र भी कहते हैं। यह अष्ट धातु से निर्मित है और अति पावन और पवित्र माना जाता है। मंदिर का मुख्य ढांचा एक 214 फीट (65 मीटर) ऊंचे पाषाण चबूतरे पर बना है। मुख्य भवन एक 20 फीट (6.1 मीटर) ऊंची दीवार से घिरा हुआ है तथा दूसरी दीवार मुख्य मंदिर को घेरती है। एक भव्य सोलह किनारों वाला एकाश्म स्तंभ, मुख्य द्वार के ठीक सामने स्थित है। इसका द्वार दो सिंहों द्वारा रक्षित हैं। इसके भीतर आंतरिक गर्भगृह रत्नसिंहासन के उपर मुख्य देवताओं की मूर्तियां स्थापित हैं। मन्दिर में यह भगवान जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा, इस मंदिर के मुख्य देव हैं। इनकी मूर्तियां, एक रत्न मण्डित पाषाण चबूतरे पर गर्भ गृह में स्थापित हैं। यह भाग इसे घेरे हुए अन्य भागों की अपेक्षा अधिक वर्चस्व वाला है। इससे लगे घेरदार मंदिर की पिरामिडाकार छत और लगे हुए मण्डप, अट्टालिकारूपी मुख्य मंदिर के निकट होते हुए ऊंचे होते गये हैं। यह एक पर्वत को घेरे हुए अन्य छोटी

पहाड़ियों, फिर छोटे टीलों का समूह रूपी बना है।

श्रीजगन्नाथ मन्दिर का द्वारविधान –

श्रीजगन्नाथ मन्दिर में रत्नसिंहासन में अवस्थित चतुर्धामूर्त्तियों का मुख नगर के सम्मुख पूर्व दिशा की ओर है। पूर्व, पश्चिम और नगर के सम्मुख देवता का मुख उत्तम है। ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु और शिव का पृष्ठ नगर की ओर हो तो नाश करते है। जैसे कि वास्तुशास्त्र में कहा गया है –

पूर्वापरास्याः पुरसन्मुखाश्च देवाः शुभा नोत्तरदक्षिणास्याः।
भङ्गं पुरस्यापि पराङ्मुखास्ते कुर्वन्ति घातार्कजनार्दनेशाः।।[1]

श्रीजगन्नाथ मन्दिर के अन्दर अनेक छोटे बडे मन्दिर है, जिस मन्दिर में अवस्थित देवताओं का मुख प्रायः वास्तुशास्त्र के नियम के आधार पर है। कौन से देवताओं का किस दिशा में मुख होना चाहिए, यह स्पष्ट करतें है यथामुक्तम्–

ब्रह्माविष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्वापरास्याः शुभाः
प्रोक्तौ सर्वककुम्मुखौ शिवजिनौ विष्णुविधाता तथा।
चामुण्डा ग्रहमातरो धनपतिर्द्वैमातुरो भैरवो
देवा दक्षिणदिङ्मुखाः कपिवरो नैर्ऋत्यवक्त्रो भवेत्।।[2]

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, सूर्य और कार्तिकेय इनका पूर्व और पश्चिम मुख उत्तम होते हैं। चामुंडा, ग्रह, षोडशमातृका, कुबेर, कार्तिकेय और भैरव इनका दक्षिण मुख्य द्वार अच्छा होता है। हनुमान् जी का नैर्ऋत्य मुख शुभ होता है। शिव, विष्णु, ब्रह्मा और इनके मन्दिरों का सर्वदिशाओं में मुख्यद्वार शुभ होता है। जैसे कि श्रीजगन्नाथ मन्दिर प्रसिद्ध विष्णुमन्दिर है, इस का प्रवेश द्वार चार दिशाओं के मध्य में अवस्थित है। पूर्व में सिंहद्वार, दक्षिण में अश्वद्वार, पश्चिम में व्याघ्रद्वार, उत्तर में गजद्वार है। इससे पता चलता है कि यह भद्रासन वास्तु का लक्षण है।

देवालय 64 पद का बनाना चाहिये, उसके सभी दिशाओं के मध्य भाग में द्वार निर्माण शुभ होता है। कहा गया है यथा –

चतुःषष्टिपदं कार्यं देवतायतनं सदा।
द्वारं च मध्यमं तस्मिन् समदिक्स्थं प्रशस्यते।।[3]

---

1. वास्तु. र.पृ.सं.150
2. वास्तु. र.पृ.सं.150)
3. बृह.वास्तु. प्रा.ल. श्लो. 8

lLÑr xUFkk e f'kYi'kkL= fo|k dk mYy[k

Mkñ fo'kky Hkkj}kt]

^^---fo|kfoghu% Ik'k%AA**[1]

अर्थात् विद्या से विहीन व्यक्ति तो पशु के समान है – विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये यह कथन है सुप्रसिद्ध वैयाकरण एवं शतकत्रय प्रणेता संस्कृत कवि भर्तृहरि का। महर्षि शुक्राचार्य के कथनानुसार विद्याओं की संख्या अनन्त होने के कारण इनकी गणना करना यद्यपि सरल नहीं है, फिर भी 32 विद्याओं का उल्लेख उन्होंने किया है –

fo|k áuUrk'p dyk% l[;kLr uo 'kD;rA
fo|k e[;k'p }kf='kPpr%"kf"V dyk% Le'rk%AA[2]

वे विद्यायें हैं– 4 वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद), चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा तन्त्र), छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष), मीमांसा, धनुर्वेद, न्याय, सांख्य, वेदान्त, योग, इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिक मत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्य, राष्ट्रभाषा, सूक्तिशास्त्र, यवनों का मत तथा देशिक धर्मग्रन्थ –

_X; t% lke pkFkok onk vk;/ku% Øekr A
XkkU/ko'po rU=kf.k mionk% idhfrrk%AA
f'k{kk 0;kdj.k dYik fu#Dr T;kfr"k rFkkA
NUn% "kMxkuhekfu onkuk dhfrrkfu fgAA
ehek lkrd lk[;kfu onkUrk ;kXk ,o pA
bfrgk lk% ijk.kkfu Le'r;k ukfLrd ereAA
vFk'kkL= dke'kkL= rFkk f'kYiey—fr%A
dk0;kfu n'kHkk"kkoljkfDr;kou ereAA
n'kkfn/kek }kf='knrk fo|kfHklfÕKrk%AA[3]

वास्तुशास्त्र के नाम से प्रचलित 'शिल्पशास्त्र' की गणना भी इन विद्याओं के

---

1. नीतिशतकम् , 21
2. शुक्रनीति, 4/3/22
3. शुक्रनीति, 4/3/27–30

अन्तर्गत किया जाना, इस विद्या के महत्त्व एवं इसकी प्राचीनता को प्रतिपादित करता है। आचार्य कौटिल्य के कथनानुसार घर, खेत, बाग–बगीचे, सीमाबन्ध, तालाब और बांध आदि सब 'वास्तु' कहलाते हैं –

xg {k=ekjke% lrcU/kLrVkdek/kkjk ok okLr%A[1]

शिल्पशास्त्र के लक्षण का प्रतिपादन करते हुये महर्षि शुक्राचार्य का कहना है कि जिसमें प्रासाद (देवमन्दिर, राजभवन), प्रतिमा (मूर्ति), उद्यान, गृह (घर) और बावड़ी आदि का सुन्दर रीति से निर्माण और उनके संस्कार (परिमार्जन) करने की विधि का वर्णन हो, उसे महर्षियों ने शिल्पशास्त्र कहा है –

iklknifrek··jkexgokI;kfnlRÑfr%A
dfFkrk ;= rfPNYi'kkL=eDr egf"kfHk%AA[2]

ऋग्वेद में त्वष्टा देवता को निर्माण का देवता माना गया है। ऋग्वेद के मरुत् सूक्त में वर्णन प्राप्त होता है कि उत्तम कार्य करने वाले तथा विश्व की रचना करने वाले त्वष्टा देवता ने देवराज इन्द्र के लिये स्वर्णमयी हजारों धारों वाले वज्र का निर्माण किया था –

Ro"Vk ;not lÑr fgj.;e; lgl lf"V Loik vor;rA---[3]

विश्वकर्मा जी देवताओं के शिल्पकार माने जाते हैं। वाल्मीकीयरामायण से हमें ज्ञात होता है कि रावण की लंका का निर्माण विश्वकर्मा जी ने किया था। कपिवर हनुमान् ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित तथा राक्षसराज रावण द्वारा सुरक्षित उस पुरी को आकाश में तैरते हुए सा देखा। विश्वकर्मा की बनायी हुई लंका मानो उनके मानसिक संकल्प से रची गयी एक सुन्दर स्त्री थी। चारदीवारी और उसके भीतर की वेदी उसकी जघनस्थली जान पड़ती थी, समुद्र की विशाल जलराशि और वन उसके वस्त्र थे, शतघ्नी और शूल नामक अस्त्र ही उसके केश थे और बड़ी–बड़ी अट्टालिकायें उसके लिये कर्णाभूषण सी प्रतीत हो रही थीं –

ikfyrk jk{kl Unn.k fufeerk fo'odeZ.kkA
Iyoekukfeokdk'k nn'k guqeku dfi%AA
Okiikdkjt?kuk foiykEcoukEcjkeA
'kr?uh'kyd'kkUrkeVVkydkorl dkeA
Ekulo Ñrk ydk fufeerk fo'odeZ.kkA----[4]

श्रीमद्भागवतपुराण में भी वर्णन प्राप्त होता है कि यदुवंशियों पर जरासन्ध तथा कालयवन नामक दो विपत्तियों के इकट्ठे आ जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने समुद्र के

1. अर्थशास्त्र, 3/64/8
2. शुक्रनीति, 4/3/56
3. ऋग्वेद, 7/85/9
4. वाल्मीकीयरामायण, 5/2/20–22

भीतर द्वारका नामक एक ऐसी दुर्गम नगरी को बनवाया, जिसकी लम्बाई–चौड़ाई 48 कोस की थी। उस नगरी की एक–एक वस्तु में विश्वकर्मा का विज्ञान अर्थात् वास्तु. विज्ञान तथा शिल्पकला की निपुणता प्रकट होती थी। उसमें वास्तुशास्त्र के अनुसार बड़ी–बड़ी सड़कों, चौराहों व गलियों का यथास्थान ठीक–ठीक विभाजन किया गया था –

^^bfr lEeU~>; Hkxoku nx }kn'k;k tue A
vUr% len uxj ÑRLukn Hk rephdjr AA
n';r ;= fd Rok"V foKku f'kYiu i.;e A
jF;kpRojohFkhfHk;FkkokLr fofufe re AA**[1]

यहां पर वास्तुदेवता के मन्दिर की भी चर्चा की गई है। द्वारका नगरी में वास्तुदेवता के मन्दिर तथा छज्जे भी अत्यन्त सुन्दर बने हुये थे –

^okLrk"irhuk p xgoYkHkhfHk'p fufe re A---[2]

धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों में राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, राष्ट्र (राज्य का प्रजावर्ग), किला तथा सेना रूपी राज्य के सात प्रमुख अंगों (प्रकृतियों) की गणना की गई है –

LokE;ekR;k ij jk"V dk'kn.Mk lâÙkFkkA
lIr iÑr;k ár% lIrkx jkT;eP;rAA[3]
LokE;ekR;k tuk nXk dk'kk n.MLrFko pA
fe=k.;rk% iÑr;k jkT; lIrkxeP;rAA[4]

नीतिशास्त्र में दुर्ग निर्माण की पृष्ठभूमि का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीनकाल में हिरण्यकशिपु के द्वारा भयभीत होने पर गुरु बृहस्पति के आदेश से इन्द्र ने विश्वकर्मा के द्वारा दुर्ग का निर्माण करवाया था। तब विश्वकर्मा ने उसे वरदान भी दिया था कि जिसके पास दुर्ग होगा, वह राजा निश्चित रूप से विजयी होगा। तभी से पृथ्वी पर सैंकड़ों दुर्ग बनाए गए –

ijk Xkjk% lekn'kkf)j.;df'kikHk;kr A
'kØ.k fofgr nXk iHkkokf}'ode .k%AA
rukfi p ojk nÙkk ^;L; nXk l Hkifr%A
fot;h L;k* & Ùkrk Hkek nXkkf.k L;% lgl'k%AA[5]

---

1. श्रीमद्भागवत पुराण, 10/50/50–51
2. श्रीमद्भागवत पुराण, 10/50/54
3. मनुस्मृति, 9/294
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/353
5. पंचतन्त्र, 1/253–254

धर्मशास्त्रानुसार राजा धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रय लेकर नगर में निवास करे। साथ ही गिरिदुर्ग की श्रेष्ठता को भी प्रतिपादित किया गया है –

/kUonXk egnXkeCnXk ok{keo okA
UknXk fXkfjnXk ok lekfJR; olRijeAA
lo.k r i;Ruu fXkfjnXk lekJ;rA
,"kk fg Ckkg Xk.;u fXkfjnXk fof'k";rAA[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी आत्म सुरक्षा, जनों एवं कोश की रक्षा हेतु दुर्ग निर्माण की बात कही गई है –

---r= nXkkf.k dohr tudk'kkReXkIr;AA[2]

वह दुर्ग शस्त्रों, धन–धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, कारीगरों, यन्त्रों, पशुओं के भोज्य पदार्थों एवं जल से संयुक्त होना चाहिए। राजा को उस किले के भीतर सब सुविधाओं से सम्पन्न, ऋतु अनुकूल, शुभ्र, जलाशयों व पेड़ों से युक्त महल निर्माण का निर्देश दिया गया है –

rRL;knk;/klEiUu /ku/kkU;u okgu%A
Ckkã.k% f'kfYifHk;U=;olukndu pAA
rL; e/; liI;kIr dkj;n XkgekReu%A
XkIr lorid 'kHk tyo{klefUoreAA[3]

दुर्ग में रहने वाला एक धनुर्धारी सौ यौद्धाओं से तथा सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओं से लड़ सकते हैं तथा दुर्ग में निवास करने वाले राजा को शत्रु मार नहीं सकता। इसी कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशंसा करते हैं –

;Fkk nXkkfJrkurkUUkifglfUr 'k=o%A
rFkkj;k u fglfUr uii nXklekfJreAA
,d% 'kr ;k/k;fr ikdkjLFkk /ku/kj%A
'kr n'klglkf.k rLeknnXk fo/kh;rAA[4]

इसी बात का समर्थन इन्हीं शब्दों में ही दुर्ग की प्रशंसा करते हुए नीतिशास्त्र में भी किया गया है –

,d% 'kr ;k/k;fr ikdkjLFkk /ku/kj%A
'kr 'krlglkf.k rLeknnXk fof'k";rAA[5]

---

1. मनुस्मृति, 7/70–71
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/321
3. मनुस्मृति, 7/75–76
4. वही, 7/73–74
5. हितोपदेश, 3/50

राजाओं का जो कार्य केवल एक दुर्ग से ही सिद्ध हो जाता है, वह हजारों हाथियों एवं लाखों घोड़ों से भी सिद्ध नहीं होता –

u Xktkuk lgl.k up y{k.k okftukeA
rRÑR; lk/;r jkKk nXk.kdu ;nHkoorAA[1]

गढ़ से रहित राजा को सहज में ही जीता जा सकता है। अतः गढ़ बिना आश्रयहीन राजा नाव से (जल में) गिरे हुए निराधार पुरुष के समान है –

vnXkk fo"k;% dL; ukj% ifjHkokLineA
vnXkk·ukJ;k jktk ikrP;reu";orAA[2]

दुर्ग निर्माण–विधि का वर्णन करते हुए हितोपदेशकार का कहना है कि दुर्ग पहाड़, नदी, निर्जलदेश, गहरे वन के पास बड़ी गहरी खाई तथा ऊंचे परकोटे एवं तोप, गोले, बारूद एवं जल से युक्त होना चाहिए। साथ ही लम्बा, चौड़ा, ऊंचा, नीचा, जल, अन्न एवं ईंधन के संग्रह नामक सात प्रधान सामग्रियों की भी चर्चा की गई है, जो कि दुर्ग हेतु अपेक्षित हैं –

nXk d;kUegk[kkrePpikdkjl;reA
l;U= lty 'kylfjUe#oukJ;eAA
foLrh.krk·fro"kE; jl/kkU;/elXkg%A
io'k'pkilkj'p lIrrk nXklEin%AA[3]

शुक्रनीति में एरिणदुर्ग, पारिखदुर्ग, पारिघदुर्ग, वनदुर्ग, धन्वदुर्ग, जल एवं गिरिदुर्ग, सैन्य तथा सहायदुर्ग की चर्चा करके सैन्यदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ दुर्ग बताते हुए अन्य दुर्गों को इसके साधन मात्र बताया गया है –

J"B r loonXkH;% lukn Xk Le'r Ck/k%A
rRlk/kdkfu pkU;kfu rn{kUuifr% lnkAA[4]

महर्षि शुक्राचार्य ने राजा को युद्ध की सामग्री से परिपूर्ण, अन्न, आयुध, वीर सैनिकों एवं खजाने से भरे किले का आश्रय ग्रहण करने का निर्देश दिया है –

'kjL; lU;nXkL; lo nXkfeo LFkyeA
;) lEHkkji"Vkfu jktk nXkkf.k /kkj;rAA
/kkU;ohjkL=i"Vkfu dk'ki"Vkfu o rFkkAA[5]

आचार्य कौटिल्य ने भी चार प्रकार के दुर्गों की चर्चा की है– (i) औदक, (ii) पार्वत, (iii) धान्वन एवं (iv) वनदुर्ग। चारों ओर पानी से आवृत्त टापू के समान गहरे

1. पंचतन्त्र, 1/251
2. हितोपदेश, 3/51
3. हितोपदेश, 3/52–53
4. शुक्रनीति, 4/6/8
5. वही, 4/6/12

तालाबों से घिरा हुआ स्थलप्रदेश 'औदकदुर्ग' कहलाता है। बड़ी–बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग 'पार्वतदुर्ग' कहलाता है। जल तथा घासादि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग 'धान्वनदुर्ग' है। इसी प्रकार चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा कांटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत्त दुर्ग 'वनदुर्ग' कहलाता है। इनमें औदक तथा पार्वतदुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा हेतु उपयोग में लाए जाते हैं। धान्वन तथा वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी हैं अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है –

^^pr|fn|'k tuinkUr lkEijkf;d nloÑr nXk dkj;r vUrnhi LFky ok fuEuko#)ek|nd] ikLrj Xkgk ok iko|r] fu#ndLrECkfefj.k ok /kkUou] [ktukn LrEHkXkgu ok ounXkeA r"kk unhio|rnXk tuinkj{kLFkku /kkUouounXkeVohLFkkue vki|ilkjk okAA**[2]

आचार्य कौटिल्य की मान्यता है कि नगर का निर्माण करने के अवसर पर वास्तुविद्या के विद्वान् जिस प्रदेश को श्रेष्ठ बतायें, वहीं पर नगर बसाना चाहिये, अथवा किसी नदी के संगम पर, बड़े–बड़े तालाबों के किनारे अथवा कमलयुक्त जलाशयों के तट पर भी नगर बसाये जा सकते हैं। वास्तुशास्त्रविशेषज्ञों के निर्देशानुसार जिस भूमि को नगर–निर्माण के लिये चुना जाये, उसमें पूर्व से पश्चिम की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन–तीन राजमार्ग होने चाहिए–

^^okLr|i|'kLr n'k unhlxe gnL; ok fo'k"kL;kd ljlLrVkdL; ok--**[2]

^^=;% ikphuk jktekxkL=; mnhphuk bfr okLr|foHkkx%A---**[3]

वास्तुशास्त्रीय विद्वानों के महत्त्व को देखते हुये ही आचार्य शुक्राचार्य का मानना है कि शासक कार्यों की अधिकता तथा न्यूनता का विचार करते हुये राज्य में कारु अर्थात् बढ़ई तथा वास्तु अर्थात् शिल्पी लोगों को न केवल बसाये, अपितु उनकी रक्षा के लिये भी सदैव प्रयत्नशील रहे–

^^dk#f'kfYix.kku jk"V j{kr dk;kuekur%A**[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही शिल्पशास्त्र का महत्त्व संस्कृत ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर वर्णित है। इस शास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख करने वाले अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों यथा समरांगणसूत्रधार आदि की प्रसिद्धि सम्पूर्ण विश्व में है।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/19/3, पृष्ठ संख्या –85
2. अर्थशास्त्र, 2/19/3
3. अर्थशास्त्र, 2/20/4
4. शुक्रनीति, 4/4/41

'वास्तुशास्त्र' - परिचयात्मकानुशीलन

डॉ. कृष्णकुमार भार्गव

''वसन्त्यस्मिन्निति वास्तुः''। वास्तु शब्द की उत्पत्ति **वस्** धातु से तुण् प्रत्यय के योग से हुई है जिसका अर्थ निवास करना या वसना है। **''वसन्ति प्राणिनो यत्र''** इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक प्राणी जहाँ पर निवास करता है उसके लिये वही वास्तु है। जब किसी अनियोजित भूखण्ड को सुनियोजित स्वरूप प्रदान कर उसे निवास योग्य बनाया जाता है तो उसे वास्तु कहा जाता है। जहाँ मानव निवास करता है वह मानव सम्बन्धि वास्तु है मानव सम्बन्धि वास्तु के गृह, देवालय, ग्राम, नगर, पुर आदि भेद हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्यों के निवास एवं कार्य करने योग्य भूमि एवं भवन में निवास करने वाले जनों को अधिकाधिक सुविधा के सिद्धांतों नियमों विधियों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन जिस शास्त्र में किया जाता है उस शास्त्र को वास्तु शास्त्र कहते हैं। आचार्य विश्वकर्मा के अनुसार जहाँ पर देव, मनुष्य, गज, गो, और अश्व आदि पशु वास करतें है उसे वास्तु कहा जाता है यथा-

देवतानां नराणां च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिश्शिल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञमुदीरितम्।।[1]

इसी प्रकार का विवरण मयमतम् में भी प्राप्त होता है।[2]

<u>वास्तु शास्त्र का महत्त्व एवं उद्देश्य</u> - पृथ्वी पर जन्म लेने वाले समस्त प्राणियों को आवश्यकतानुसार निवास स्थान की आवश्यकता होती है । सभी प्राणी अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप गृह का निर्माण करते हैं। इस निर्माण में जीवन के समग्र सुख एवं सुरक्षा का भाव अन्तर्निहित रहता है क्योंकि कोई भी प्राणी इस लोक में असुरक्षित जीवन नहीं जीना चाहता । हम सभी जानते हैं कि प्रकृति ने प्रत्येक जीव को अपनी आवश्यकतानुकूल वास, स्थान निर्माण करने की क्षमता एवं कौशल प्रदान किये हैं इसलिये ही इन प्राकृतिक नियमों से आबद्ध होकर अपने सुख-दुःख का अनुमान कर प्राणी नित

---

1. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र ,अध्याय 7.1

2 अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
तद् वास्त्विति मतं तज्ज्ञै.....।।
(मयमतं द्वितीयोऽध्यायः-श्लो सं -01)

नये भयमुक्त वातावरण में सुरक्षित स्थान की खोज करता रहता है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति वास्तुशास्त्र के माध्यम से होती है क्योंकि वास्तुशास्त्र वह शास्त्र है जो मनुष्य को हितकाम अर्थात् कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करता है। विश्वकर्मा जी स्वयं कहते हैं कि -

वास्तुशास्त्रं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।

मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त है - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास । इन सभी आश्रमों में से गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। साथ ही यह भी माना जाता है कि आश्रमी गृहस्थों के प्रसाद स्वरूप ही जीते हैं । यथा-

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजाः।
गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधि॥
गृहस्थ एव यजति गृहस्थस्तप्यते तप।
ददाति च गृहस्थश्च तस्मात् श्रेयो गृहाश्रमी॥[1]

इस गृहस्थाश्रम में मनुष्य के प्रवेश करने के पश्चात् सर्वप्रथम स्त्री, संतान एवं सम्बन्धियों के साथ स्नेह-सौख्य पूर्वक रहने में, धर्म अर्थ- काम को प्रदान करने वाला, ऋतुजन्य कष्टों से रक्षा करने वाला गृह ही है। विधिवत् गृहनिर्माणकर्ता को कूप, देवालय आदि के निर्माण का भी पुण्य प्राप्त होता है। इसलिये विश्वकर्मा आदि देवशिल्पियों ने सर्वप्रथम गृह निर्माण का ही निर्देश किया है यथा-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्,
जन्तुनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते,
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥[2]

गृह निर्माण मनुष्य केवल स्वयं के लिये नहीं करता अपितु गृहस्थाश्रम में अन्य जो भी प्राणी सहयोग प्रदान करने वाले होते हैं उन सभी के लिये भी निवास स्थान एवं भवन निर्माण आवश्यक हो जाता है। साथ ही साथ दैनिक जीवन में समाज हित की भावना से सार्वजनिक उपयोग में आने वाले कूप, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि के निर्माण कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण होते हैं और ये सभी कार्य भी वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत ही आते हैं। साथ ही कहा भी गया है कि नवनिर्माण तो उत्तम है ही किन्तु यदि पुराने कूप, तालाब, मन्दिर, मकान आदि का भी कोई जीर्णोद्धार कराता है तो उसे अष्टगुणित पुण्य फल की प्राप्ति होती है।[3]

---

1. ज्योतिर्निबन्ध (वास्तुरत्नाकर श्लोक 4-5)
2. बृहद्वास्तुमाला, श्लोक सं-4
3 वापीकूपतडागेषु देवतायतनेषु च ।
जीर्णान्युद्धरते यस्तु पुण्यमष्टगुणं भवेत्॥
(बृहद्वास्तुमाला, श्लोक सं-6)

इसी प्रकार वास्तु शास्त्र में नूतन गृह निर्माण के पुण्य तो अत्यधिक बताये गये हैं जैसे पर्णशाला बनाने से कोटिगुणा पुण्य प्राप्त होता है तथा मिट्टी का घर बनाने से दस करोड गुणा, ईंट का घर बनाने से सौ करोड गुणा और पत्थर द्वारा घर बनाने से अनन्त गुणा पुण्य प्राप्त होता है। यथा–

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्।
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।।[1]

इस प्रकार सारांश रूप में यह कह सकते हैं कि मानव को धर्म–अर्थ–काम द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हेतु निवास स्थान की आवश्यकता प्रतिपल होती है जिसकी पूर्ति वास्तु शास्त्र के नियमानुसार ही संभव है क्योंकि कुवास्तुजन्य निर्मित भवन मानव को अनेक प्रकार के कष्टों को प्रदान करता है जिससे मानव अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है।

सांप्रतिक युग में वास्तु शास्त्र की सर्वाधिक महत्ता यह है की यह शास्त्र पंचमहाभूतों (''क्षितिजलपावकगगनसमीरा'') से निर्मित मानव के जीवन में इन्हीं महाभूतों से निर्मित वातावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने को सर्वाधिक महत्त्व देता है !

<u>वास्तुशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा</u> – वास्तुशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा का अनुशीलन करें तो वर्तमानकालीन ज्ञान–विज्ञान का मूल वेदों में ही निहित है। एवं सर्वतो भावेन प्रामाणिकता वेदोक्त विषय पर जनसामान्य में व्याप्त है। भारतीय वास्तुशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव सभ्यता। वस्तुतः वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थान वेद ही है। वास्तुपुरुष के स्तवन के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में उल्लिखित है –

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीब्वो भवा नः।
यत् त्वमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शञ्चतुष्पदे।।[2]

अर्थात् हे वास्तोष्पते ! तुम हमको समझो ! हमारे घर को निरोग करने वाले हो ! जो धन मांगे, हमें दे दो ! हमारे द्विपद एवं चतुष्पद के लिये कल्याणकारी हो ! वेद में वास्तुशास्त्र विषयक कई प्रमाण प्राप्त होते हैं।

इसी क्रम में पौराणिकसाहित्य में यदि वास्तुशास्त्र का अनुशीलन करें तो ज्ञात होता है कि लगभग सभी पुराणों में वास्तुशास्त्र का वर्णन प्राप्त होता है। मत्स्य पुराण, अग्निपुराण, स्कन्धपुराण, गरुडपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वास्तु विषयक वर्णन विशेष रूप से प्राप्त होता है । साथ ही साथ रामायण तथा महाभारत में भी वास्तुशास्त्र के प्रमाण एवं अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। पुराणो में कुछ मतवैविध्य के अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे मत्स्यपुराण के अनुसार –

---

1. बृहदवास्तुमाला, श्लोक सं. 5
2. ऋग्वेद –7/54/1

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याताः वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरुपिणः॥[1]

इस प्रकार मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के अठारह प्रवर्तक कहे गये हैं एवं अग्नि पुराण में **''व्यस्तानि मुनिभिर्लोकं पञ्चविशतिसंख्या''** के अनुसार वास्तुशास्त्र के 25 प्रवर्तक आचार्य तथा मानसार नामक वास्तु ग्रन्थ में 32 प्रवर्तक आचार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। विश्वकर्मप्रकाश में चार आचार्यों गर्ग-पराशर-बृहद्रथ-विश्वकर्मा का ही उल्लेख प्राप्त होता है।[2] वास्तुशास्त्र की परम्परा में ज्योतिषशास्त्रीय बृहत्संहिता, विश्वकर्माप्रकाश, अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, प्रमाणमञ्जरी, मयमतं, मानसार आदि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र का बृहत्स्वरुप प्राप्त होता है । अन्य वास्तुग्रन्थों में वास्तुमण्डन, शिल्परत्न, वास्तुरत्नाकर, मुहुर्तचिन्तामणि, बृहद्वास्तुमाला आदि प्रमुख हैं।

<u>वास्तुशास्त्र के भेद</u> - वास्तुशास्त्र की ऐतिहासिक परंपरा अनुसार वास्तु शास्त्र के चार भेद प्राप्त होते हैं। यथा- आचार्य मय के अनुसार-

भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरैव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि॥[3]

अर्थात् वास्तुशास्त्र के भूमि, मंदिर या प्रासाद, यान, एवं शयनासन चार भेद हैं। इन चारों भेदों में से भूमि ही प्रमुख वास्तु के रूप में ग्रहण की जाती है अर्थात् भूमि पर जो भी निर्माण होता है वह सब वास्तु के रूप में ही जाना जाता है। भवन, भूखंड, मंदिर, कूप, तालाब आदि वास्तु के मुख्यावयव है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि वास्तु के भेदों का वर्गीकरण करें तो सामान्यतया तीन विभाग के रूप में व्यक्त कर सकते हैं यथा-

1. आवासीय वास्तु।
2. व्यावसायिक वास्तु।
3. धार्मिक वास्तु।

---

1 मत्स्यपुराण-252-2.4

2 इति प्रोक्तं वास्तुशास्त्रम् पूर्वं गर्गाय धीमते।
गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो बृहद्रथः॥
बृहद्रथाद्विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम्।
स विश्वकर्मा जगतो हितायकथयत्पुनः॥
(विश्वकर्मप्रकाश)

3 मयमतम् - द्वितीयोऽध्यायः- श्लोक सं -02

आवासीयवास्तु –आवासीयवास्तु से तात्पर्य मानव के आवास स्थल से है आवासीय वास्तु के भेद निम्न है –

01. घास फूस से बने झोपड़ी या पर्णकुटी।

02. लकड़ी से बने भवन।

03. मिट्टी छप्पर या खपरैल से बने घर। प्राय: हमारे देश के ग्रामों में इस प्रकार के भवनों की अधिकता होती है।

04. ईट, चूना, लोहा एवं सीमेंट से बने भवन।

05. पत्थर से बनी हवेली या महल आदि।

आज के औद्योगिक एवं भौतिकवादी युग में प्राय: भवन निर्माण दो प्रकार से अधिक हो रहे हैं –

1. पक्के मकान जो कि कॉलोनी पुश्तैनी भूमि इत्यादि में निर्माण किए जा रहे हैं।

2. फ्लैट (अपार्टमेंट)।

व्यावसायिकवास्तु – व्यवसाय की दृष्टि से किए जाने वाले निर्माण कार्य व्यावसायिक वास्तु के अंतर्गत आते हैं । व्यवसायिकवास्तु के मुख्यत: तीन प्रकार होते हैं –

1.व्यापारिक वास्तु । 2.औद्योगिकवास्तु । 3. सार्वजनिक महत्व के स्थान।

1. व्यापारिकवास्तु – व्यापारिक वास्तु का वर्गीकरण चार प्रकार से किया जा सकता है यथा 1. दुकान, 2. शोरूम, 3. ऑफिस 4. होटल इनके भी पुन: एक मंजिला और बहुमंजिला के रूप में दो भेद होते हैं।

2. औद्योगिकवास्तु – औद्यौगिकवास्तु पर विमर्श करें तो मुख्यत: इस के तीन भेद होते हैं–

1. घरेलू उद्योग 2. लघु उद्योग 3. भारी या कल कारखाने उद्योग।

3. **सार्वजनिक महत्व के स्थान–** सार्वजनिक महत्व के स्थान सम्बन्धी वास्तु के अन्तर्गत विद्यालय, अस्पताल, प्रशासनिक भवन एवं आमोद प्रमोद सम्बन्धी भवन आते हैं।

व्यावसायिकवास्तु में समय–समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन संभव है।

धार्मिकवास्तु – धार्मिक कार्यों के संपादन हेतु धार्मिकवास्तु का प्रयोग किया जाता है। धार्मिक वास्तु मुख्यत: पांच प्रकार के होते हैं–

1. मंदिर । 2.मठ.। 3.धर्मशाला। 4. जलाशय । 5.धार्मिक संस्थान।

1. मंदिर – धार्मिक वास्तु में मंदिर आदि से तात्पर्य मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि पूजा स्थलो से है ।

2. मठ – मठ का आशय आश्रम, मठ, बौद्ध विहार आदि से है।

3. धर्मशाला – धर्मशाला से तात्पर्य धार्मिक कृत्यों के आयोजन तथा यात्रियों के

निवास हेतु निर्मित किए जाने वाले सामूहिक भवनों से है।

4. जलाशय - जलाशय का तात्पर्य धार्मिक कार्यों के संपादन में उपयोग किए जाने वाले कुएं तालाब एवं सरोवर आदि से है।

5. **धार्मिक संस्थान**-वस्तुतः किसी प्रकार का कोई भवन या निर्माण किया जाए जिसका लोग व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में उपयोग करते हैं वह धार्मिक संस्थान कहलाता है। धार्मिकवास्तु में परिस्थिति अनुसार परिवर्तन संभव है।

उपसंहार- वास्तु शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण है। किस प्रकार मानव के लिये सुखमय वातावरण का निर्माण हो, इसी संकल्पना को मूर्तस्वरुप प्रदान करता है भारतीय वास्तुशास्त्र। वास्तुशास्त्र मानव के लिये ऐसा शान्तिमय वातावरण निर्मित करता है जिसमें निवास करने वाले मनुष्य अलौकिक दिव्य शान्ति का अनुभव करते है। वस्तुतः माना भी जाता है कि शान्ति पूर्ण स्थान में निवास करने से मानसिक संतुलन सही रहता है जिससे मानव अपनी मेधा का समुचित उपयोग करते हुए अपने जीवन के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। आज हम देखते हैं कि आधुनिक वास्तु विज्ञान भवन को सुन्दर एवं मजबूती पर तो अत्यधिक बल देता है लेकिन भारतीय वास्तुशास्त्र भवन की सुदृढ़ता के साथ ही साथ भवन में निवास करने वाले मनुष्यों के लिये सुखमय, शान्तिपूर्ण एवं सुरक्षित वातावरण के सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन करता है। अतः साम्प्रतिक भौतिकयुग में भारतीय वास्तुशास्त्र का अत्यधिक महत्व है। भवन निर्माण हेतु इसके सिद्धान्तो का अनुपालन अवश्य करना चाहिये, जिससे एक सुसंस्कृत समाज का वातावरण निर्मित हो सके।

भारतीय वास्तुशास्त्रानुसार भवन में चित्राङ्कन पद्धति

डॉ.रीता गुप्ता

वास्तुशास्त्र में स्थायित्व के साथ-साथ कलात्मक भावना का भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वास्तु में उपयोगिता के साथ-साथ सौन्दर्य की आवश्यकता का भी अनुभव किया जाता है। भवन में सौन्दर्य, भव्यता, एकरूपता और स्थायित्व का इस प्रकार सम्मिश्रण होना चाहिए कि मनुष्य सुख का अनुभव करे। इसी कारण वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में सौन्दर्यीकरण का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत शोधपत्र में भवन में सौन्दर्यीकरण के प्रधान अङ्ग चित्राङ्कन को विवेचित किया जा रहा है कि भवन में किस प्रकार से वास्तुशास्त्र के अनुसार चित्राङ्कन किया जाना चाहिए ताकि मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सके।

चित्राङ्कन -

गृह में देवता और असुर आदि के युद्ध, राजाओं के वैर-विग्रह, घमासान, प्राणियों की लड़ाई, परस्पर विमर्दन और आखेट-अहेरिया के दृश्य प्रशस्त नहीं माने गये हैं। भवन में रौद्र रस, दैन्य, अद्भुत, त्रास, वीभत्स और करुण रसों पर आधारित चित्रादि नहीं बनाये जाने चाहिए। प्राणियों में मनुष्यों को हास्य, शृङ्गार से रहित नहीं बनाया जाना चाहिए अर्थात् उनमें हास्य व शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का प्रयोग नहीं करें। इसी प्रकार घर में गजयान, अश्वयान, रथयान, विमान एवं मन्दिर सहित अग्नि की लपटों से घिरे हुए भवन और दावानल से घिरे वनखण्ड (लंकादहन, खाण्डवदहन की तरह) को दिखाया जाना भी अप्रयोज्य है।[1]

जिस देवता के प्रति जिसकी भक्ति हो अथवा जो जिसका कुल-देवता हो, उसकी प्रतिमा या चित्र एक हाथ प्रमाण से बनाने में कोई दोष नहीं होता है। कुलदेवता के स्थान के बाहर, द्वार के उभय पार्श्व में प्रतिहारों को बनाना चाहिए जो कि अलङ्कृत हो। उनके हाथ में वेत्रदण्ड (बेंत की छड़ी) प्रदान की गयी हो और वे म्यान सहित तलवार धारण

---

1 ..... देवासुराद्याः सङ्ग्रामा विग्रहाश्च महीक्षिताम् ? प्राणियुद्धविमर्दाश्च मृगया च न शस्यते। रौद्रदीनाद्भुतत्रासबीभत्सकरुणा रसाः ? न प्राणिषु प्रयोक्तव्या हास्यश्रृङ्गारवर्जिताः। हस्त्यश्वरथयानानि विमानायतनानि च ? चण्डानलप्रदीप्तानि भवनानि वनानि च ....। - समराङ्गणसूत्रधार, 34/10-13, पृ. 490-491

करें हों। ये प्रतिहार रचना में सुन्दर हों, नवयुवक जैसे लगें और चित्र-विचित्र वस्त्राभरणों से विभूषित होने चाहिए। इन प्रतिहारों के साथ ही धात्री (धायमाँ), वामनिका (बावनी), कुब्जा (कूबड़ वाली) सखियों द्वारा घिरी हुई और विदूषकों एवं कंचुकियों से अनुगत्यमान मनोहारी स्त्री प्रतिहारियों को भी द्वार के उभय-पार्श्व में बनाना चाहिए। उन प्रतिहारियों के रूपानुरूप ही निधियाँ, शंख और पद्म जैसे उज्ज्वल लक्षणों को बनाया जाना चाहिए और उनके देहागार से रत्न, दीनार इत्यादि राशि को निसृत होते हुए दिखाया जाना चाहिए। अष्टमंगलाओं को दिखाने के लिए उनको पद्म में विराजित करें, उनके हाथ में पूरित कुम्भ प्रदान करें और रत्न, वस्त्रों से विभूषित करें। उनको वक्र एवं उन्नत पुष्प, फल, पल्लवादि धारण करवायें और पुनः पूर्णकुम्भ, अंकुश, छत्र, बिल्व, दर्पण, चामर आदि प्रदान करें। इस प्रकार द्वार पर अष्ट मंगलाकृतियों, शंख व मत्स्यमाल को बनाया जाना चाहिए।[1]

भवन के द्वार मण्डल के मध्य में लक्ष्मी को उत्कीर्ण करना चाहिए। स्वरूपाङ्कन में लक्ष्मी देवी उत्तम हाथियों की सूण्डों द्वारा स्नानाभिषिक्त हो, वे पद्मासना और हाथ में पद्म को धारण किये हुए हों। लक्ष्मी को सम्यक् रूप से अलङ्कृत किया जाना चाहिए। गृह प्रयोज्यों में भित्तियों पर साँड, बछड़े सहित गाय को छत्र व मालादि से अलङ्कृत कर चित्रित करना चाहिए। आलेखन में बहुत प्रकार के निवेदित किए जाने योग्य खाद्य-फलों और विभिन्न पुष्पों व फलों से लकदक शालद्रुमादि को तिरछे व शाखाओं सहित बनाया जाना चाहिए। उक्त प्रकार की पत्र-लताओं को गृह की बाहरी और आन्तरिक भित्तियों पर आलेखित किया जाना चाहिए। पत्रलता के चित्रों में हंस, कारण्ड-सारस, चक्रवाक जैसे पक्षियों को पद्म-पत्रवर्ती बनाया जाना चाहिए। निवासगृहों में कुमार या बालकों को अपनी ललित भुजाओं से क्रीड़ा करते हुए बनाना चाहिए। आवास गृहों में विचित्र आभूषणों सहित विविध रंगों वाले वस्त्रों में रतिक्रीड़ा में संलग्न नारियों को, नायकों को अपनी इच्छानुकूल व्यवहार करते दिखाया जाना चाहिए। नायिकाओं की छवि गौराङ्ग देह पर अत्यल्प किन्तु सुन्दर आभूषण धारण किए हुए दिखानी चाहिए। वे किञ्चित् तनुभिर्गात्र (पतली देह या मुग्धा रूप में शिरावनत) हो और सुरत-लालसा लिए हुए हों। यथावसर गृहों में चित्रमय रचनाओं में फैली हुई, ऊँची शाखाओं वाले वृक्ष बनाए? जिनके अरुणाभ लिए पल्लव चलित-सी प्रतीति देते हों। इसी प्रकार चम्पक, अशोक, पुन्नाग और अन्य विविध प्रकार के आम्र, तिलक आदि के वृक्षों को सघन छाया, पुष्प व फलों आदि से भरपूर एवं अन्य वृक्षावलियों से विभूषित करना चाहिए। वहाँ उद्यान-भूमि की इस तरह रचना की जाए कि उनमें कोयलें कूकती और भँवरें गुंजार करते दिखाई दे। उस भूमि को ऋतु के अनुसार ही फल-पुष्पादि के निर्दिष्ट चिन्हों से अलङ्कृत करें और उनमें समायोजित रूप

---

1 .... यस्य यत्र भवेद् भक्तिर्या चास्य कुलदेवता ? हस्तक्लृप्तप्रमाणेन तान् कुर्वन् स्यान्न दोषभाक्। तद्द्वारप्पर्श्वयोः कार्यौ प्रतीहारौ स्वलङ्कृतौ ..... कार्याष्टमङ्गला द्वारे दामभिः शङ्खमत्स्ययोः .....? - समराङ्गणसूत्रधार, 34/21-28, पृ. 492-493

से मनोरम पक्षियों को कलरव करते हुए दिखाया जाना चाहिए। इसी प्रकार चित्र योग्य पक्षियों में कलहंस (कादम्ब), कुरर, क्रौञ्च, हंस, सारसों की पंक्तियाँ हो सकती है, ऐसे ही उद्यान-सरोवरों के तीरान्त पर बेंत एवं केतकी की वृक्षावली का सौन्दर्य हो सकता है। जल के अन्दर लीन (तैरती हुई) मछलियाँ व नलिनी वनों से आच्छादित दीर्घिकाओं का गृहों की भित्तियों के निम्न भागों पर आलेखन किया जाना चाहिए। पानभूमियों या मधुशालाओं का आलेखन इस विधि से हो कि वहाँ उत्पल पुष्पों के साथ ही पद्मिनी के पत्रों को बिछाया गया हो और उन पर रखे हुए मणि-स्वर्ण पात्रों में फलों का भोग और गन्ने का रस (चषकों में ईषु-सुरा) परोसा गया हो।[1]

प्रेक्षा-संगीत भूमि अर्थात् नाट्यगृहों में तरह-तरह के वाद्यों को हाथ में धारण किए वाद्यवृन्द, नृत्य और गायन में रत विचक्षणजनों और मुस्कान बिखेरती ललनाओं के चित्रों को बनाना चाहिए। ऐसे ही पिञ्जरों में बन्द करके रखे गये चकोर, तोता-मैना, मुदित कोकिलाओं, मयूरों और कुक्कुट भी आलेखित किए जा सकते हैं। देवयोनियों में विद्यमान गणों एवं वैसे ही पुरुषों के ऐसे चित्र जिनमें उनकी निन्दित क्रियाएँ हों और जिनमें वे क्रन्दन करते हुए दिखाई देते हों, उनको कभी पीठ-चौकी, शय्या-पलंग-दीवान, आसन-बाजोट-कुर्सी आदि पर नहीं उकेरना (बनाना) चाहिए। देवताओं व मनुष्यों से सम्बद्ध आख्यानों और आख्यायिकाओं के अन्तर्गत जो भी चित्र-विषय मंगल (शकुन-स्वरूप) कहे गए हैं, उनको चित्रित किया जा सकता है। इन विविध चित्रों को व्यक्ति के कक्षों, सभाओं और देवकुलों में नियोजित करना प्रशस्त माना गया है।[2]

अपराजितपृच्छा[3] , मयमत[4] तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण[5] में भी चित्राङ्कन के विषय में इसी प्रकार के तथ्यों को वर्णित किया गया है।

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, 34/28-40, पृ. 493-495

2 .... विचित्रातोद्यहस्ताश्च नृत्यगीतविचक्षणाः ? मुदिता ललना लेख्याः प्रेक्षासङ्गीतभूमिषु ..... प्रोक्तानि तानि तावन्ति शुभान्यालेख्यकादिषु ..... ? समराङ्गणसूत्रधार, 34/40-46, पृ. 496-497

3 दृश्यारौद्रकरालं च भीषणं रौद्ररुतानि च। वर्जयेत्तद् गृहं चैव श्रीश्च तत्र न विद्यते ? गृहे काक-कपोतादि-कपि-सङ्ग्राम-भीषणम्। वर्जयेद् गृहचित्रेषु श्रीश्च तत्र न विद्यते ? तथा च लेपरूपाणि पाषाण ोत्पातपट्टकम्। वर्जयेद् राजगेहेषु लक्ष्मीस्तत्र न विद्यते ? अक्लेशां च वनस्त्स्य वातरोगो?पि जायते ..... ? अपराजितपृच्छा, 92/24-27,33 पृ. 550-551,553

4 देवानां च द्विजानां चावासे योग्यं सनातनम्। बहिरन्तश्च सर्वेषां चित्रं (छत्रं?) युञ्जीत बुद्धिमान् ? सुमङ्गलकथोपतं श्रद्धानृत्तक्रियान्वितम्। विप्रादीनां च वर्णानां निवासं सम्पदां पदम् ? सङ्ग्रामं मरणं दुःखं देवासुरकथान्वितम्। नग्नं तपस्विलीलां चामयाव्यादि न योजयेत् ? अन्येषामन्यथा वासे साधनीयं यथेष्टतः ..... ? मयमत, 18/109-112, पृ. 248

5 विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3/ 43/14-18

okLrq i#"kkRifÙk foe'k

Mk- jhfrdk tSu

वास्तु विद्या मानव–सभ्यता जितनी प्राचीन है। वास्तु व वास्तुशास्त्र का निदर्शन वैदिक काल से ही प्राप्त होने लगता है।

वैदिककाल में उद्भूत वास्तुशास्त्र का पूर्ण विकास आगम एवं पुराण काल में हुआ। वर्तमान काल के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि समृद्धि, स्वास्थ्य, सुख और शान्ति, सम्पन्नता सहित वह सब कुछ हमारे गृह में रहे जो एक सफल जीवन जीने के लिए अनिवार्य है और वहाँ रहते हुये लौकिक एवं पारलौकिक सुखों को भोगते हुये हम ऐसा जीवन व्यतीत करे, जिसमें आरोग्यता, सुन्दर जीवन–साथी, सन्तति, लाभ, धन–प्राप्ति, व्यापार एवं राज्य–सेवा, मान–प्रतिष्ठा, शास्त्रीय ज्ञान एवं आत्मिक शांति का समावेश हो। इसी उद्देश्य को मन में संजोकर भारतीय ऋषि–मुनियों एवं विद्वानों ने भवन–निर्माणादिक विषय पर अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से अध्ययन–मनन करके उसके प्रतिफल के रूप में वास्तुशास्त्र का प्रतिपादन किया।

वास्तु शब्द की उत्पत्ति 'वस्तु' शब्द से हुई है। वास्तु की संक्षिप्त परिभाषा निम्न प्रकार से बताई है–

Þolfur ikf.kuk ;=Þ

अर्थात् प्राणियों के वास–स्थान को 'वास्तु' कहा जाता है। इस दृष्टि से जो प्राणी जहाँ रहता है उसके लिये वही वास्तु है। जलचर जल में रहते हैं, उनके लिये जल ही वास्तु है, पक्षी अपने नीड में रहते हैं, अतः उनके लिये नीड ही उनका वास्तु है। अमरकोश में गृह के लिए नियत भूमि को 'वास्तु' कहा गया है– Þo'eHkokLrqfL=;keÞ।[1]

शब्दार्थभानु (पृष्ठ 287), पद्मचन्द्रकोश (पृष्ठ 348), शब्दस्तोममहानिधि (पृष्ठ 1023) और शब्द चिन्तामणि (पृष्ठ 295) आदि कोश ग्रन्थों में भी वास्तु शब्द का अर्थ 'वास योग्य भूमि' अथवा गृह–करण योग्य भूमि' गृहीत है। वेदों में वास्तु पद का अर्थ निवास अथवा गृह है।[2]

---

1. अमरकोश –2–2–19
2. ऋग्वेद 8/19/36

इस प्रकार सामान्यतया निवास–योग्य भूमि की ही संज्ञा वास्तु है और वास्तु अर्थात् भवन से सम्बन्धित शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहा जाता है।

वास्तु से तात्पर्य केवल साधारण मानव के रहने योग्य भवन ही नहीं, अपितु राजभवन, प्रासाद, ग्राम, नगर, रथ–मार्ग, परिखा, मंदिर, देवालय, मण्डप, यज्ञ–वेदी, सभागृह, कूप, तालाब, वापी, स्तूप आदि उन सभी निर्माणों से है, जो मानव के रहने, उपयोग करने एवं उसके अभीष्टजनों तथा देवों के निवास स्थान आदि के रूप में है। अतः वास्तु का अर्थ केवल गृह न होकर 'गृह–आदि' हो गया है। तदनुसार वास्तुशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मानव गृहों, प्राकार, परिखाओं, देव–मंदिरों, मण्डपों, बांधों, सेतुओं एवं तड़ागों अर्थात् प्रत्येक प्रकार के भवन, क्षेत्र, कूप, तालाब, वापी, वाटिका आदि की रचना के उपायों तथा साधनों की व्याख्या करना है।

वास्तु पुरूष की अवधारणा वैदिक काल में वास्तोष्पति देवता विशेष के रूप में मिलती है। जिनकी आराधना से गृहपति सुख प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद में वास्तोष्पत्ति देवता से प्रार्थना की गई है कि वे हमारी रक्षा करें। यथा हे वास्तोष्पते! तुम हमको समझो, हमारे घर को निरोग करने वाले होओ। जो धन हम तुम्हारे पास मांगें, हमें दे दो। हमारे द्विपद एवं चतुष्पदों के लिए कल्याणकारी होओ।

ÞokLrks"ir ifrtkfug;LekURLokos'kkvuehvk Hkoku%A
;Ùoeeg ifr rUuk t|"kLo 'kUuk Hko f}in 'k pr|"inAAÞ[1]

अग्रिम दो मन्त्रों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, जिसमें प्रार्थना की गई है कि – हे वास्तोष्पते तुम हमारे तारक हो, धन के विस्तारक हो। हे सोम! गौओं और अश्वों से युक्त होकर हम जरारहित होवें। तेरी मित्रता हम से रहें। पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है वैसे ही आप हमारा पालन करें।

ÞokLrks"ir irj.kks u·,f/kx;LQkuks xksfHkj'ofHkfjUnksA
vtjklLl l[;s LFkkefirso i=kUifruks t"kLoAAÞ[2]

हे वास्तोष्पते! जिस घर में सब प्रवेश करते हैं वहां हम लोगों के लिये रोग हरने वाले मित्र सुन्दर सुख वाले होते हुये प्रसिद्ध होवें–

Þvehogk okLrks"ir fo'okLo:ik.;kfo'kuA
l[kkl'ko ,f/ku%AAÞ[3]

---

1. ऋग्वेद 7.54.2
2. ऋग्वेद 7.54.2
3. ऋग्वेद 7.55.1

पौराणिक काल में वास्तु देवता के दो रूप प्राप्त होते हैं– प्रथम वास्तुपुरूष और द्वितीय वास्तुचक्र। वास्तुचक्र में 45 देवताओं का विन्यास होता है जिनकी वास्तुशान्तिकर्म में पूजा की जाती है।

पौराणिक आख्यान के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने एक वृहदाकार जीवन्त पुरूष की संरचना की। उसके विशाल कलेवर को देखकर देवता भयभीत हो गये। निदान के रूप में ब्रह्मा जी के आदेश पर उसे पृथ्वी पर बलपूर्वक लिटा दिया गया। ताकि वह पुनः उठ न सके, इसलिये जिन–जिन देवताओं ने उसके जिन–जिन अंगों को पकड़ रखा था, उन पर अपना स्थाई निवास बना लिया।[1]

अन्य व्याख्यान के अनुसार प्राचीनकाल में भगवान शंकर व अंधकासुर दैत्य के बीच घमासान युद्ध हुआ। इसी युद्ध के दौरान अत्यन्त श्रम के कारण भगवान शंकर के पसीने की कुछ बूँदे जमीन पर गिर पड़ी। उन बूँदों से आकाश व पृथ्वी को भयभीत कर देने वाला एक प्राणी प्रकट हुआ। उस प्राणी को देखकर सभी राक्षस एवं देवतागण भयभीत हो गये। यह प्राणी सभी देवों पर आक्रमण करने लगा। तब सब देवताओं ने उसे पकड़कर उसका मुख नीचे करके दबा दिया और उसको शान्त करने के लिये वर दिया कि –

Þrjh itk lc 'kHk ÑR;k e gkxhAÞ

देवों ने उस पुरूष पर वास किया। जिस देवता ने उसके जिस–जिस अंगों को पकड़ रखा था उसी अंग में उस–उस देवता का स्थायी वास हुआ। इसके पश्चात् वह वास्तुपुरूष के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ब्रह्मा जी ने उसे आशीर्वाद दिया कि भवन–निर्माण के समय तुम्हारी पूजा–अर्चना होगी जिससे तुमको पोषण मिलेगा।[2]

राजवल्लभमण्डन में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है।

Þlxke·U/kd:n;k'p ifrr% Lonk eg'kkr f{krk]
rLeknHkreHkPp Hkhfr tuu |kok"VfHk0;kegrA
rnnno% lglk fuxg; fufgr Hkeko/kk oD=de]
nokuk opukPp okLrip:"kLrudo iT;k c/k%AA[3]

भविष्य, नारदादि पुराणों में भी वास्तुपुरूष का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। भवन, पुर, तडाग, वापी, वन, उद्यान एवं यज्ञ मण्डपादि निर्माण में तथा जीर्णोद्धार में इसी उपर्युक्त वर्णित वास्तुपुरूष के पूजन का वर्णन प्राप्त होता है। इनके पूजन के बिना गृह में सुख शांति संभव नहीं है।

---

1. अग्निपुराण, 93, बृहत्संहिता, वास्तुपुरूषाध्याय, 2–3
2. मत्स्य पुराण, 252.5–19
3. राजबल्लभमण्डनम्, 2.1

Þiklkn Hkou rMkx[kuu dis p okI;k ou]
th.kk)kjijj"k ;kxHkouikjEHkfuo`rsuA
okLrk% iritudsl[kk; dfFkr iritk fouk gku;AAß[1]

उक्त आख्यानों के आधार पर आज के बुद्विवादी युग में पृथ्वी (धरातल) के नीचे किसी देवशक्ति, शरीरधारी की कल्पना तो नहीं की जा सकती, परन्तु सूक्ष्म देवसत्ता मानने में कोई आपत्ति भी नहीं करनी चाहिये। निश्चित रूप से पृथ्वी के भीतर दबा यह वास्तुपुरूष ऐसी ही एक सूक्ष्म देवसत्ता है। यह अनन्त एवं सर्वव्याप्त है तथा छोटे–छोटे भूखण्डों में व्यक्ति के कर्म फलों सहित वास्तु पुरूषांशों के रूप में उपलब्ध है। चूँकि पौराणिक शैली यही रही है कि वह किसी तथ्य को सीधे ढंग से ना कहकर उसको अधिक रोचक व ग्राह्य बनाने के लिये आलंकारिक रूप दे देती है। वास्तुपुरूष के संदर्भ में यही बात है। ऐसी मान्यता है कि वह सुषुप्तावस्था में पड़ा हुआ है। भवन–निर्माण से पूर्व भारतीय संस्कृति में उसे चैतन्य विधान किया गया है। इस निमित्त भूमि पूजन आदि याग किये जाते हैं। इससे उस देवता का संरक्षण सुनिश्चित होता है।[2]

वास्तुशास्त्र की मान्यता है कि प्रत्येक वास्तु में वास्तु पुरूष का आवास होता है। वास्तु पुरूष की प्रसन्नता गृहस्वामी एवं उसके परिवार को सुख–शांति और समृद्धि से भरपूर रखती है, तथा उसकी प्रसन्नता दुःख–क्लेश और विपत्तियों का कारक बनती है।[3]

वास्तु पुरूष की रचना इस प्रकार है कि वास्तु पुरूष निकुब्ज पूर्व दिशा में सिर किये वास्तु (भूमि) पर स्थित है। उसके छह अस्थियाँ, चार मर्मस्थल, चार सिरायें एवं एक हृदय होता है। वास्तु पुरूष का सिर शिखिसंज्ञक देवता होता है। सविन्द्र दाहिनी भुजा व साविन्द्र वक्ष होते हैं। आप एवं आपवत्स देवता वक्ष बांयी भुजा होते हैं। विवस्वान् देवता दक्षिण पार्श्व व महीधर देवता वामपार्श्व बनते हैं। वास्तु पुरूष का मध्य शरीर ब्रह्मा से निर्मित होता है। मित्र संज्ञक देवता वास्तु पुरूष के पुंस्त्व होते हैं। इन्द्र व इन्द्रराज संज्ञक देवता वास्तुपुरूष के दक्षिण पाद (पैर) कहे गये हैं।

वास्तु पुरूष के वाम पाद रूद्र व रूद्रजय नामक देवता हैं व वास्तु पुरूष अधोमुख होकर भूमि पर सोता है। इसकी छः रेखायें हैं जो पूर्व और उत्तर की ओर होती है। वास्तु मण्डल के मध्य में वास्तु पुरूष के मर्मस्थल होते हैं व ब्रह्मा वास्तुपुरूष का हृदय होता है। वास्तु मण्डल की रेखायें, वास्तु पुरूष की सिरायें (रक्तवाहिनी

---

1. राजवल्लभमंडन, 2.2
2. वास्तुविद्या, 4.52, अग्निपुराण, अध्याय 93
3. मत्स्यपुराण 252–15–19, बृहत्संहिता, वास्तु विद्याध्याय, 57–58

शिरायें) होती हैं।

"kMo'ke dân; pr e pr% f'kjeA
efnU;k okLr i :"k fudCt ikfD'kj fon%AA
rL;kÙkek foK;ek;dk uke norkA
lfoUnk nf{k.kHkqt% lkfoUn% d{keP;rAA
vki vkioRl ld{kk okerk Hkqt%A
fooLoku nf{k.k ikn% okeikn% egh/kj%A
e/; cãe;% dk;k fe=% iLRo fo/kh;rA
bUn bUnjkt% nf{k.k% ikn bfjr%AA
:nk :nt ;k okeikn% 'kr Ro/kke[k%A
oLrf=Hkkxe/; r o'kk% "kV ikxn³e[kk%
oLre/; r eekf.k cãk ân;eP;rA
fu"dVk'kk% fljk K;k bR;"k i :"k% Ler%AA[1]

वास्तुपुरूषांग में देवताओं की स्थिति वास्तुचक्र इस प्रकार बतलाई गई है – वास्तुपुरूष ईशान कोण में शिर करके अधोमुख होकर स्थित होता है। शिर पर ईश, दोनों कानों में पर्जन्य, गले में जल, अंशयुगल में जय और अदिति, दोनों स्तनों में अर्यमा और भूधर, हृदय में आपवत्स, इन्द्र आदि पाँच दाहिनी भुजा में, बायीं भुजा में नाग आदि, दाहिने हाथ में सावित्र और सविता, बायें में रूद्र, वक्षस्थल में मृत्यु और मैत्रगण, नाभिपृष्ठ में ब्रह्मा, लिंग में शक्र और जय, दोनों जंघाओं में वह्नि और रोग, टखनों में पूष्ण, नन्दीगण सात देवता और पैर में पैतृक है।[2]

वास्तुपुरूष के बाह्यशरीर में ईशान में चरकी, पूर्व दिशा में पीलीपिच्छ, अग्निकोण में विदारिका, दक्षिण दिशा में जम्भा, दक्षिण–पश्चिम में पूतना, पश्चिम में स्कन्दा, वायुकोण में पापराक्षसिका और उत्तर में अर्यमा होती है।[3]

सभी देवगण वास्तुपुरूष के ऊपर विराजमान हैं। जो देव जिस अंग में विराजमान है, उस अंग में उसका अधिकार होता है। इन देवताओं के लिये अर्चना तथा विभिन्न प्रकार के नैवेद्य अर्पण किये जाते हैं।

वास्तुपुरुष का पूजन मधु, धृत, दूह, दही, शक्कर, काले तिल, यवनवान्न, पलाश आदि वस्तुओं से करनी चाहिये। मानसार में कहा गया है कि भवननिर्माण के समय वास्तुपुरुष का कोई अंग दुःखी नहीं होना चाहिये। यदि अज्ञानतावश उसे पीड़ा होती

---

1. मयमतम् 7/49–54
2. वास्तुराजवल्लभ, अध्याय–2/5–6, वास्तुमण्डनम् 100–108
3. वास्तुमण्डनम् 8.1, 2–113

है तो भूस्वामी को बहुत कष्ट होता है जैसे कि कहा गया है –

Þ'kHkk'kHkfo/kkrkj rL;kxkfu u ihM;rA
vKkuknxghu p drk poo fou';frAAA
rLekÙk f'kfYifHk% ikK% Ågkikgku u ;kt;rA
nokukefi lo"kk cã.kk i'; r fon%AA
rÙkÙin·ejku lokU fLFkrkUHkfDr inf{k.keAAß[1]

अर्थात् शुभ और अशुभ का विचार करने वाले को कभी भी उस वास्तुपुरूष के अंगों को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये यदि अज्ञानतावश कोई उसे अंगहीन करता है, तो वह कर्त्ता नष्ट हो जाता है। इसलिये विद्वान् शिल्पशास्त्रियों के द्वारा उसको अस्त–व्यस्त नहीं करना चाहिये। वेद–विद्वान को उसमें सभी देवों व ब्रह्मा जी की देख–रेख करनी चाहिये और देवताओं की प्रदक्षिणा करनी चाहिये।

वर्तमान युग में भवन–निर्माण से पूर्व उपरोक्त विचारों से वास्तुकार (Architects) बचते हैं क्योंकि अज्ञानता के कारण वास्तु पुरुष की उत्पत्ति उन्हें सत्य नहीं लगती अपितु वे इसे एक अन्धविश्वास (मान्यता) ही मानते हैं। उन्होंने इसके वैज्ञानिक पक्ष को कभी समझने की कोशिश ही नहीं की। वास्तुशास्त्र में शयनकक्ष, स्नानघर, रसोईघर, पूजागृह, पाकशाला, दरवाजे, खिड़कियाँ इत्यादि के लिये निर्धारित दिशा, संख्या और स्थान हैं। किन्तु अज्ञानतावश वर्तमान में सब कुछ सुविधानुसार निर्मित करते हैं। परन्तु वास्तुशास्त्र इन सबका निषेध करता हैं वास्तुशास्त्रकारों के अनुसार वास्तु–पुरुष के अनुसार भवन निर्माण न करने से उसमें निवास करने वाला व्यक्ति अनेक बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। वास्तुपुरुष का जो–जो अंग पीड़ित होता है गृहस्वामी के उस–उस अंग में रोग हो जाते हैं। अतः गृहस्वामी को वास्तुपुरुष के अंगों को पीड़ित नहीं करना चाहिये।

xg eu";k.kk 'kHkk'kHkdj% Le`r%A
rL;kxkfu xg³x'p fo}ku uokiih·;rAA[2]

उपर्युक्त वास्तुपुरुष संबंधित विचार तो एक पक्षीय हुआ परन्तु इसका दूसरा पक्ष इसकी वैज्ञानिकता को प्रकट करता है।

वास्तुशास्त्रकारों ने वास्तुपुरुष की सम्पूर्ण आकृति को वास्तुपुरुष मण्डल के रूप में प्रतिपादित किया है। जिसमें सभी देवता यथास्थान अवस्थित हैं।[3]

---

1. मानसारः, 7.134–136
2. मयमतम्, 7.55
3. मत्स्यपुराण 253, 24–33, समरांगण सूत्रधार, 13.1

वास्तुपुरुष मण्डल जीवन में सौर ऊर्जा एवं भूचुम्बकीय ऊर्जा के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। वास्तुपुरुष मण्डल में स्थित देवताओं के नाम उनके सकारात्मक एवं नकारात्मक ऊर्जा के समन्वय पर आधारित है। वास्तुपुरुष मण्डल में उत्तर में स्थित देवता सकारात्मक ऊर्जा एवं दक्षिण में स्थित देवता नकारात्मक ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सौर ऊर्जा को प्राणिक ऊर्जा कहा जाता है। उत्तर–दक्षिण में प्रवाहित होने वाली ऊर्जा जैविक ऊर्जा कहलाती है। पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा के फलस्वरूप सौर ऊर्जा की दिशायें बदलती रहती हैं। वे एक दिशा में सतत प्रवाहमान जैविक ऊर्जा को प्रभावित करती रहती हैं। जब भी प्राणिक व जैविक ऊर्जा का सकारात्मक संयोग होता है तब स्वर्गिक अनुभूति होती है। पवन, सोम एवं ईश को उत्तरी क्षेत्र का अधिष्ठाता माना जाता है क्योंकि दिन में सूर्य की गति–पूर्व, पूर्व से दक्षिण–पूर्व, दक्षिण एवं दक्षिण से दक्षिण–पश्चिम एवं अंत में पश्चिम तक होती है, पश्चिम तक पहुँचते ही हम सूर्यास्त मान लेते हैं। पूर्व–पश्चिम हमारे लिये सौर साम्राज्य है और पश्चिम–उत्तर पूर्ण चंद्र साम्राज्य। सूर्य की निरन्तर परिवर्तित स्थिति के प्रभाव को सभी अनुभव करते हैं। प्रातः सूर्योदय का समय नवीन जीवन का संदेश लेकर आता है। सुबह 2 घंटे की सूर्य की किरणें पूर्ण वृद्धि दायक ऊर्जा प्रदान करती हैं। धीरे–धीरे सूर्य की किरणें प्रखर होती जाती हैं। मध्यान्ह में सूर्य सर्वाधिक ऊर्जा निःसृत करता हैं परिवर्तन के कारण मध्याह्न का सूर्य शीत ऋतु में सुहावना व ग्रीष्म में कष्टदायी लगता हैं ज्यों–ज्यों सूर्य ढलता है वातावरण में एक विषाद की सृष्टि होती है। इस समय सूर्य दक्षिण–पश्चिम दिशा में होता है। यह आलस्य भरा समय होता है। दक्षिण दिशा को यम की दिशा भी मानी गई है।

पश्चिम में सूर्यास्त सभी गतिविधियों को क्षणिक विराम दे देता है। एवं दक्षिण–पूर्व क्षेत्र में सौर ऊर्जा अपनी पूरी तीव्रता से होती है। ये वे क्षेत्र हैं जहां सौर ऊर्जा प्राकृतिक भूचुम्बकीय प्रवाह के सर्वथा विरूद्ध दिशा में होती हैं जब भी सौर ऊर्जा एवं जैविक ऊर्जा में नकारात्मक संबंध होता है तो जीव प्राण रहित माना जाता है। एवं जीवन में तरह–तरह के कष्टों एवं व्यथाओं का अनुभव होता है। इन क्षेत्रों के अधिष्ठाता देवता अग्नि एवं यम को माना जाता है। ये क्षेत्र वास्तुपुरुष के मर्मस्थल होते हैं इनमें कोई भी अवरोध रोगकारक होता है। मर्मस्थल में अवरोध संघर्ष को जन्म देता है तथा ऊर्जा प्रवाहों में अवरोध दुर्भाग्य की ओर ले जाता है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि एक वास्तुपुरुष की उत्पत्ति हुई तो फिर अलग–अलग स्थानों के पृथक्–पृथक् वास्तु देव कैसे हुये? यह तो सब जानते हैं कि एक बड़ा चुम्बक अगणित छोटी व स्वतन्त्र चुम्बकीय इकाइयों का मिश्रण हैं उसी प्रकार हमारा

---

18. समरांगण सूत्रधार, 13.1–23, मयमतम्, 7.55–56

शरीर भी अनेक कोशिकाओं से मिलकर बना है जिनका अपना–अपना कार्य होता है। इसी प्रकार वास्तुपुरुष की भी संरचना छोटी–छोटी इकाइयों से हुई है। यह वास्तु इकाइयां प्रत्येक छोटे–बड़े भूखण्ड के अनुरूप छोटी–बड़ी वास्तु सत्ताओं का निर्माण और उस भू–भाग का स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व करती है।

भौतिक जगत में उत्तर–पूर्व को एकीकृत ऊर्जा का उद्‌गम माना जाता है? इसके ठीक विपरीत दक्षिण–पश्चिम क्षेत्र समस्त ऊर्जा का अवसान क्षेत्र कहा जाता है। चूंकि पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश) ही वास्तु का आधार है। ये पंचमहाभूत पृथक्–पृथक् रूप से अपनी–अपनी ऊर्जा का मूल वास्तु को प्रदान करते हैं। इस समस्त ऊर्जाओं के सम्मिलित मिश्रण से ही वास्तुपुरुष की स्थिति के मूल्य प्राप्त होते हैं।

सौर ऊर्जा का समस्त चराचर जगत पर गहरा प्रभाव पड़ता है तो उससे भवन कैसे अछूता रह सकता हैं। सूर्य की स्थिति के कारण भवन का एक भाग जहाँ सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है वहीं दूसरा भाग छायामय होता है। सर्वविदित है कि मूलरूप से चार मुख्य एवं छः विदिशायें होती हैं। इनमें पूर्व से उत्तर की दिशायें प्राणिक एवं जैविक ऊर्जा का स्रोत है और पश्चिम से दक्षिण ऊर्जा का अवसान क्षेत्र है। चूंकि उत्तर–पूर्व जैविक एवं प्राणिक ऊर्जा दोनों को ग्रहण करता है। इसलिये इसको सर्वाधिक महत्व दिया गया है अतः इस दिशा में कम भार रखने व स्वच्छ रखने का परामर्श दिया जाता है। इसके विपरीत दक्षिण–पश्चिम को अवसान क्षेत्र माना जाता है इसलिए इसमें भारी सामान व खाली न छोड़ने का परामर्श दिया जाता है। इसी प्रकार दक्षिण–पूर्व यदि अवसान क्षेत्र है तो उत्तर पश्चिम भी अवसान क्षेत्र है। ये विदिशायें कहलाती हैं। अतः इन दिशाओं में खिड़की इत्यादि बनाने का स्थान बताया जाता है। इन दिशाओं में कोई भी प्रवाह दोनो ऊर्जाओं को प्रभावित करता है। अतः इन्हें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना गया है। विदिशा में कोई दोष ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के नाप तौल में सहायक है। भारतीय संस्कृति में तो कण–कण में ईश्वरीय चेतना की विद्यमानता स्वीकारी गई है। जब सत्ता सर्वव्यापी है और कण–कण में विद्यमान् है तो चाहे उसे "वास्तुदेवता" कहा जाय या "तीर्थ–देवता"। कुछ भी नाम दिया जाये वे परमसत्ता के ही द्योतक हैं। जब वह भवन और उनके निवासियों का संरक्षण कार्य संभालता है तो वायु देवता, किसी स्थान से संबंद्ध होता है तो स्थान देवता एवं वैयक्तिक समृद्धि का निमित्त बनने पर इष्ट देवता कहलाता है।

अतः इतना स्पष्ट हो जाने पर विज्ञजनों को वास्तुपुरुष की वैज्ञानिकता एवं सत्ता को स्वीकार करने में कोई ऊहापोह नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वास्तुपुरुष की मूल मान्यता में उसकी परमसत्ता की आभा एवं ऊर्जा विद्यमान है। अतः हमें उसकी सत्ता एवं महत्ता को स्वीकार करना चाहिये एवं भवन का निर्माण वास्तुपुरुष के अनुरूप करना चाहिये ताकि ऐसा भवन निर्मित किया जा सके जिसमें निवास करने वाले व्यक्ति को अलौकिक शांति प्राप्त हो सके।

The Importance and Benefits of Vastushastra in Human Society

Dr. Nilachal Mishra

Introduction

The word vāstu generally means a dwelling or a building that is used for residential purposes. The mention like vāstu is firstly seen in Yajurveda, the ancient Indian text from four thousand (4000) years past. once a sage asked for Viswakarma, the architecture of gods, what is Vāstu Vidyā and why the man read it? And what is the necessity of Vastu Vidya for human beings? In reply, Viswakarma said, this is a Vidyā of architecture which gives to a man the result of Chaturvarga like Dharma, Artha, Kāma, and Mokṣa, and by which the life of a man became meaningful. And this Vidyā gives divinity and it can give him welfare, and the man became successful in his all developmental works in his life. The description is like this.

Chaturvarga phalaprāptiḥ salokaśca bhaved dhruvam/
Śilpa Śāstra parijñān martyo'pi suratāṁ vrajet// [1]

And further, it is said that architecture is the best in these three worlds and without Vāstu the world has no meaning at all.

Śilpaṁ Vinā nahi jagattriṣu lokeṣu vidyate/
Jagadvinā na silpañca vartate vāsava prabho// [2]

Vāstu Puruṣa was created by Brahmā, the creator of the Universe. This description is seen in Bṛhad Vāstumālā like this.

Vinikṣiptamadhovaktraṁ sthittāstatraiva te surāḥ/
Tameva Vāstupuruṣaṁ brahmā kalpitavān svayam// [3]

---

1. Viswakarma Vāstu Śāstra.Adhyāya.2. Sloka.30
2. Viswakarma Vāstu Śāstra. Adhyāya.2. Sloka. 32.
3. Bṛhad Vāstumālā. Sloka.3

The first book of this Vāstu Śāstra was written by Viswakarma from three thousand years back. Vāstu is a science that brings happiness to human beings in this world.Vāstu system is a mixture of science, the astronomy of astrology.

Vāstu Śāstra has taken an important role in the life of all human beings. Vāstu is a term which takes from a divine being called the god of Vāstu or Vāstu Puruṣa. Indian Vāstu Śāstra is a blessing of ancient Indian seers who could able to frame incredible architecture principles, and which are most favorable to human society. When a man starts to follow the principles of Vāstu Śāstra then he can feel sanctity in his home and also in his heart too.

Vāstu is a science of architecture, and Vāstu plays a vital role in the construction of the building and character features of rooms in length, breadths, and sizes. Vāstu Śāstra is the ancient Indian science that capitalizes on the concept of prosperity. Which links personal health and happiness. Vāstu Śāstra also impacts on health, life, prosperity, marriage, education, thinking, and peace of the mind. Vāstu focuses both on physical and mental happiness in the lives of all residents.

Vāstu Śāstra defines science, art, astrology, and astronomy. It is an ancient mystic science for designing and building purposes. Vāstu Śāstra helps our better lives and it secures from the things which are going to wrong. Vāstu is a mysterious science unifying the five elements which are called 'pañca mahābhutas' like earth, fire, water. Wind, and space for happiness, enlightenment, and prosperity also. And which bhūmi is best for whom, there is a description in Bṛhad Vāstumālā as follows:

Brāhmaṇī sarvasukhadā kṣyatriyā rājyadā bhavet/
Dhanadhānyakarī vaiśyā śūdrā tu ninditā smṛtā// [1]

Benefits of Vāstu Śāstra

There is some description of the benefits of Vāstu Śāstra in Vāstu literature.

Attracts more wealth in life

Money is common and very essential for attracting happiness in human life. Because money can buy your happiness in day to day life of the person. Having a Vāstu maintained home helps to attract money in our life.

---

1. Bṛhad Vāstumālā. Sloka.32

Vāstu brings joys and happiness in man's life

The source of eternal joy gives the person due to external and environmental causes, and despite it, man cannot feel happy when the residing place or house is secured by Vāstu Śāstra then man can start his reconnecting to the source of happiness.

Psychological benefits

Vāstu has given psychological benefits to the human mind. A person gets psychologically relax via Vāstu in the form of well-being loke improvisation of relationships, reduces stress level, unlocks tension in life, and upgrades the health condition. Vāstu Śāstra is able to disappear the negative attitudes of the human mind. As a result, man can able to get complete happiness and mental peacefulness by implementing Vāstu tips in his life.

Harmonizing the energy of Nature

Vāstu Śāstra is normally based on various natural energies, and these are available free of cost in our atmosphere like lunar energy, earth energy, sky energy, magnetic energy, light energy, thermal energy, electrical energy, wind energy, and also cosmic energy. And the utilization of these energies gives the human pleasure, money, and prosperity in day-to-day lives.

Conclusion

From the above discussion, it is concluded that human is a social animal and he resides in a home and that home brings happiness in his life, and that happy life follows the Vāstu Śāstra, and without following of Vāstu or Vāstu tips, human cannot live happily. So Vāstu is the ultimate aim of all human beings in our society, and there is no doubt at all.

References

1. Tripathy, Brahmanada., Śarmā, Ravi.-Vṛhad Vāstumālā-Chaukambha Surabharati Prakashan.
2. Kātyāyana, Abhay-Viswakarma Prakasha-Chaukambha Surabharati Prakashan.
3. Vaastuinternational.com
4. En.m.wikipedia.org.
5. Śāstri, K Vāsudeva., Major Gadre, N B-Viśwakarma Vāstuśāstram-M. Sadasivam, Director,Sarasvati Mahal Library Society, Thanjavur.

BIOENERGETIC ARCHITECTURE

Ar. Raman Vig

Bioenergetic Architecture is a multi-disciplinary approach to create spaces that can facilitate 'health, happiness and harmony' in the lives of those who inhabit such 'conscious spaces'. It is an emerging discipline that seamlessly integrates the domains of 'subtle energies', vedicvAastu, building biology and habitatdesign.

Understanding the 'Why' of Bioenergetic Architecture

The reason for evolution of discipline of 'Bioenergetic Architecture' is best understood in light of the following facts:

- We spend almost 90% of our lives in enclosed spaces such as in schools, workplaces, automobiles, etc. We have surrounded ourselves with 'new age materials' and 'artificial systems' so much that our fundamental connect with the elements which are the basis of our existence (Earth, air, water, fire and space) has been severed drastically.
- This modern way of building (coupled with unhealthy lifestyles) is causing serious interference with biological systems.
- We have surrounded ourselves with objects and materials (buildings, furniture, gadgets) that are metallic in nature. These distort the natural geo-magnetic fields of the earth to which human body is attuned from millions of years. Often the directions we adopt to sleep are misaligned to geo-magnetic fields.
- As if this was not enough, we (as humanity) went ahead to envelop ourselves and other living creatures in an ever increasing web of electromagnetic radiations (EMRs) – the basis of modern communication and information networks. Today each one of us absorb as much EMRs in 30 seconds as our grandparents absorbed in entire lifetime. Human body is not design to accommodate such enormous changes in the 'subtle environment' which surrounds all of us.
- As a consequence, building-related diseases and sick building syndrome are on the rise. Trends in growth of life-threatening diseases

like cancer, brain tumour, Alzheimer, autism show a steep rise over past decade.

- Lesser acknowledged yet very widespread disorders like stress, depression, chronic fatigue, infertility and low immunity have become 'the new-normal'; especially in urban areas
- Numerous connections between health, illness, and living environment have already been researched. Yet far too little of this knowledge is widely known in public domain; often due to vested commercial interests of large corporations and industries that benefit from new-age technologies and materials.

How Bioenergetic Architecture can facilitate health , happiness and harmony

A strong and balanced 'Bio-field' (Prana-shakti) is the secret keyto physical, mental and spiritual health and well-being. Happiness and harmony (within and with world around) are spontaneous outcomes of holistic health.

BIOENERGETIC ARCHITECTURE integrates multiple domains holistically and systematically and brings them together as ***'a layer of space design'*** with the best practices of ***'responsible architecture',*** to create built-environments that ***'enhance, expand and reinforce' the bio-field*** (Prana-shakti) of inhabitants; thereby facilitating health, happiness and harmony in the lives of inhabitants.

This is achieved through as series of protocols and procedures that are integrated as early as the stage of site selection (if required) and design brief preparation for new buildings and subsequently through design development in architectural studio; through tender and material specification stage and finally through construction stage.

Most of the solutions are 'co-created' by the design team along with the client 'once the fundamental intent and dynamics' of a phenomenon are understood by all. This means that most solutions are unique and 'tailor-made' yet some generic principles can also be defined and followed.

For designers or users, key is to understand the underlying principles of bioenergetics and their thresholds and proceed to implement whatever most is 'practically' feasible in a given context – with best intentions and without developing a sense of fear-psychosis in mind because state of consciousness of all stakeholders is also an essential aspects that governs applications of Bioenergetic Architecture!

Two distinct realms of Bioenergetic Architecture

'Bioenergetics' is the science of energy exchanges between living systems and their environment. Deploying this science to design spaces is the essence of Bioenergetic Architecture

One of the biggest challenges of current times is absence of a 'holistic' discipline that can integrate the 'cutting edge' contemporary science as well as 'vedic wisdom' and 'meta-physical' domain of subtle energies – to address the problems that humanity has created for itself and for other life-forms on earth in recent decades.

Our current pursuit for truth is either through a purely 'scientific' approach or through entirely 'spiritual' approach. We forget that 'life exists as a WHOLE' and life is not concerned with the silos we create as humans to understand it.

We have scientists who do not much acknowledge the spiritual domain and we have 'pseudo-scientific' consultants/ guides/ mentors of 'meta-physical sciences'; who try to sound scientific yet often objective remains commercial; often harnessing the 'fear-psychosis' or 'greed psychosis' of fellow beings.

As a consequence, there are very few avenues in public domain to learn the truth of 'who we really are' and 'how we get affected by our environment', and how to do something about it correctly. Further, each one of us is energetically unique, so the interpretation and application of scientific and spiritual precepts that 'work for us' will be unique as well. Yet there can be some generic principles that benefit all equally.

BIOENERGETIC ARCHITECTURE provides an 'all encompassing' approach to space design that bridges science and human body and mind. It harnesses the best of the physics as well as meta-physics in a seamless manner to create 'positive spaces'.

25 principles of 'Building Biology'; the science of 'Structured water'; and 'Grounding'etc. –these belong to the 'more perceptible and measurable' realm of reality. These can be verified by 'known' scientific tools of the day.

The precepts of 'Vedic Vaastu', 'Bio-Geometry', 'Universal mathematics', 'Geopathic stress' and 'Consciousness' belong to the domain of 'Spirituality, Radiesthesia and meta-physics'. These are 'empirically substantiated yet scientifically non-verifiable' realm of reality.

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016